राज्यपाल का पद

डॉ० जे० आर० सिवाच
[सम्प्रति विज़िटिंग फैलो, भारतीय उच्च अनुसंधान संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला]
रीडर, राजनीति-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र

हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के तत्त्वावधान में रचित एवं प्रकाशित

Rajyapal ka Pad by Dr. J. R. Siwatch has been brought out by Haryana Hindi Granth Akademi under a scheme sponsored by Ministry of Education and Social welfare (Department of culture), Government of India for the production of University level books and literature in regional languages.

प्रथम संस्करण : 1975

मुद्रित प्रतियां : 1500

मूल्य : दस रुपये (Rs. 10.00)

मुद्रक : मल्होत्रा प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग कं० सैक्टर 30-सी, चण्डीगढ़

प्रस्तावना

भारत के संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल की व्यवस्था है। राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होती है, जो इस का प्रयोग संविधान के अनुसार या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करता है। राज्य की सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राज्यपाल के नाम से की जाती है।

राज्यपाल भी राष्ट्रपति की ही भांति अपने मन्त्रिमंडल की सलाह पर कार्य करता है, किन्तु राज्यपालों को कुछेक मामलों में अपनी विवेकी शक्तियां भी प्राप्त हैं। इन्हीं विवेकी शक्तियों के कारण राज्यपाल विशेषतया 1967 के बाद, आलोचना का विषय बने रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में डा० जे० आर० सिवाच ने 1950 से 1974 तक भारत के विभिन्न राज्यों में नियुक्त राज्यपालों के कृत्यों का तथ्ययुक्त एवं संगत विवेचन प्रस्तुत किया है।

आशा है यह पुस्तक आज की राजनीति के सन्दर्भ में राज्यपाल के पद को समझने में राजनीतिशास्त्र के अध्येताओं और समान्य पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

शिक्षामन्त्री, हरियाणा एवं अध्यक्ष,
हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

निदेशक,
हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

भूमिका

"The Indian Presidency" नामक अपनी पहली पुस्तक लिखते समय मुझे राज्यपाल के पद से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई थी। उस समय मैंने यह निर्णय कर लिया था कि मैं इस विषय पर भी एक पुस्तक लिखूंगा। लेकिन समय के अभाव के कारण मुझे यह पुस्तक लिखने मे कुछ विलम्ब हो गया जिसके लिए मै अपने आप को भाग्यशाली समझता हूँ, क्योंकि 1967 से पहले जो पद परास्त तथा असन्तुष्ट राजनीतिज्ञो और अवकाश-प्राप्त असैनिक सेवको (Civil Servants) के लिए स्वर्ग समझा जाता था, वही पद 1967 के पश्चात् एक प्रकार से कांटा का ताज बन गया। इसका मुख्य कारण यह था कि इस चुनाव मे काग्रेस की सत्ता को एक जोरदार झटका लगा जिसके कारण आधे स अधिक राज्या मे विपक्षी दलो द्वारा मन्त्रिमडल बनाये गये। इन राज्या मे राज्यपाला ने जिस ढग से अपनी शक्तियो का प्रयोग किया उसके कारण यह पद अत्यधिक विवादग्रस्त बन गया, क्योंकि भिन्न-भिन्न राज्यपालो ने भिन्न-भिन्न राज्यो मे अपनी शक्तियो का प्रयाग अलग-अलग ढग से किया। कुछेक राज्यो मे तो उसी राज्यपाल ने भिन्न-भिन्न मन्त्रिमडलो के समय अपने अधिकारो का प्रयोग जिस ढग से किया उसके कारण ससद तथा ससद के बाहर उन की कडी आलोचना भी हुई, यहा तक कि उसके कारण कुछेक राजनीतिज्ञो ने ता यह भी माग की कि राज्यपाल के पद को ही समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

इस पुस्तक मे 1950 से 1974 तक, जिस प्रकार से राज्यपालो ने अपने अधिकारो का प्रयोग किया है, उनका तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक वर्णन किया गया है। यह वर्णन निष्पक्ष तथा तटस्थ दृष्टिकोण से किया गया है या नही इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते है, लेकिन मैंने अपनी ओर से यथासभव ऐसा करने का प्रयास अवश्य किया है।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय तथा भारतीय उच्च अनुसधान सस्थान, शिमला के पुस्तकालयो के कर्मचारियो से मुझे इस पुस्तक के लिखने मे जो सहयोग मिला है, उसके लिए मै उनका आभारी हूँ। मै हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के निदेशक डॉ० कृष्ण मधोक तथा अकादमी के अन्य कर्मचारियो का भी आभारी हूँ जिन्होने इस पुस्तक के प्रकाशन मे मेरी सहायता की है। भारतीय उच्च अनुसधान सस्थान के निदेशक, डॉ० एस० सी० दुबे का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होने मुझे यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा दी। अन्त मे मैं अपनी धर्मपत्नी सुदेश तथा अपने दोनो पुत्रो सजय और अजय के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होने इस पुस्तक को तैयार करने मे मेरी सहायता की।

जे० आर० सिवाच

कुरुक्षेत्र 4 मार्च, 1975

विषय-सूची

विषय–सूची

परिशिष्ट

परिशिष्ट

1

राज्यपाल की नियुक्ति कार्यकाल अर्हताएं तथा वेतन

नियुक्ति का ढग

1 प्रत्यक्ष चुनाव सविधान के अनुच्छेद 155 के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। सविधान सभा की प्रान्तीय समिति ने इस सबध मे यह सिफारिश की थी कि राज्यपाल का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप मे जनता द्वारा किया जाना चाहिये।[1] परन्तु जब प्रारूप समिति ने इस विषय पर विचार किया तो उस के कुछेक सदस्यो ने यह कहा कि यदि राज्यपाल तथा मुख्यमन्त्री दोनो को ही प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया गया तो उन दोनो मे झगडा होने की सभावना हो सकती है, जिसके परिणामस्वरूप शासन प्रबन्ध मे गतिरोध पैदा हो सकता है।[2] इसलिए उन्होने यह सुझाव दिया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उन चार नामो मे से की जाये जो विधान-सभा द्वारा, और जहां विधानपालिका द्विसदनात्मक हो वहा विधान-सभा तथा विधान परिषद् के सदस्यो की सयुक्त बैठक मे सानुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल सक्रमणीय पद्धति के आधार पर, चुने जाएं।[3] लेकिन तदुपरान्त जब विशेष समिति ने राज्यपालो की नियुक्ति के बारे मे पुनर्विचार किया तो उसने यह सिफारिश की कि उन की नियुक्ति के लिए नामिका की कोई आवश्यकता नही, उन की नियुक्ति प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति द्वारा की जानी चाहिए।[4] अत जब सविधान सभा ने सविधान के प्रारूप के अनुच्छेद 131 पर विचार किया तो उस समय उसके सामने, राज्यपालो की नियुक्ति के सबध मे निम्नलिखित तीन प्रस्ताव थे

1. वे जनता द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से चुने जाने चाहियें।

2. वे राष्ट्रपति द्वारा, नामिका के उन चार नामो मे से नियुक्त किये जाने चाहियें जो विधानपालिका द्वारा सानुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल सक्रमणीय पद्धति द्वारा चुने गए हो।

3. वे प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किए जाने चाहियें।

प्रत्यक्ष चुनाव : यह प्रस्ताव कि राज्यपाल का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर हो, निम्नलिखित कारणों से अस्वीकार कर दिया गया :

(i) ऐसा करने से राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री में झगड़े के बढ़ जाने की संभावना हो सकती थी, और झगड़ा होने पर राज्यपाल यह कह सकता था कि वह राज्य की सारी जनता द्वारा चुना गया है, जबकि मुख्यमंत्री केवल विधान-सभा में बहुमत दल का नेता ही है। इसलिए वह मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार काम करने से इन्कार कर सकता था।[5]

(ii) संविधान द्वारा वास्तविक शक्तियाँ मुख्यमंत्री तथा उस के मन्त्रिमण्डल को दी गई हैं, अत: राज्य के प्रमुख राजनैतिक नेता मंत्री बनना चाहेंगे न कि राज्यपाल। इसके परिणामस्वरूप राज्य का सत्तारूढ़ दल साधारण व्यक्ति को ही राज्यपाल के चुनाव के लिए खड़ा करेगा और राज्यपाल साधारणतया मुख्यमंत्री द्वारा मनोनीत किया हुआ व्यक्ति होगा। ऐसे साधारण व्यक्ति के चुनाव में प्रान्त द्वारा इतना अधिक व्यय करना उचित नहीं समझा गया।[6]

(iii) इस तथ्य को भी ध्यान में रखा गया कि प्रान्तों तथा देश में सफल संसदीय प्रणाली के लिए एक निरपेक्ष संवैधानिक तथा नाममात्र की कार्यपालिका की आवश्यकता है। यदि राज्यपाल का प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चुनाव किया गया तो वह राजनैतिक दलबन्दी के वातावरण में फंस जायेगा और निरपेक्ष संवैधानिक कार्यपालिका के रूप में कार्य नहीं कर सकेगा।[7]

(iv) इस के अतिरिक्त इस बात की भी संभावना थी कि यदि राज्यपाल का चुनाव किया गया तो वह साधारणतया अल्पसंख्यक जाति से नहीं होगा। जवाहरलाल नेहरू यह चाहते थे कि अल्पसंख्यक जाति के उन व्यक्तियों को भी राज्यपाल बनने का अवसर मिलना चाहिए जो योग्य हैं, और ऐसा केवल तब ही हो सकता था जब उनके चुनाव के स्थान पर उन्हें राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाये।[8]

(v) प्रत्यक्ष चुनाव के विरुद्ध यह तर्क भी दिया गया कि दूसरे राज्यों में रहने वाले उन प्रतिष्ठित व्यक्तियों को राज्यपाल बनाना अधिक अच्छा होगा जिन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लिया हो। ऐसे व्यक्ति दिन-प्रति-दिन के शासन में कम से कम हस्तक्षेप करेंगे और सरकार को अधिक से अधिक सहयोग दे सकेंगे।[9]

नामिका पद्धति : संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने प्रत्यक्ष चुनाव के स्थान पर यह सुझाव भी दिया था कि विधानपालिका द्वारा सानुपातिक प्रतिनिधित्व की

एकल सक्रमणीय पद्धति के आधार पर तीन या चार व्यक्तियों का चुनाव किया जाये। इस नामिका में से राष्ट्रपति किसी एक व्यक्ति को राज्यपाल मनोनीत करे। परन्तु इस नामिका पद्धति के सुझाव को भी निम्नलिखित कारणों से अस्वीकार कर दिया गया

(i) मान लीजिये राज्य की विधानपालिका चार या पाँच नामों की नामिका, राष्ट्रपति के सामने, राज्यपाल की नियुक्ति के लिए प्रस्तुत करती है और यदि राष्ट्रपति उन नामों में से पहले नाम को छोड़ कर दूसरे या तीसरे नाम वाले व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त कर दे तो ऐसी स्थिति में विधानपालिका उस राज्यपाल को इस लिए पसन्द नहीं करेगी क्योंकि वह उन द्वारा सुझाया गया प्रथम उम्मीदवार नहीं था। इस प्रकार मन्त्रियों या विधानपालिका तथा नये राज्यपाल के पारस्परिक सबध मधुर नहीं होंगे।[10] अत विधानसभा तथा राज्यपाल, मन्त्रिमण्डल तथा राज्यपाल, केन्द्र तथा राज्यों के बीच मधुर सबध बनाने के लिए राष्ट्रपति के पास कोई और विकल्प नहीं होता सिवाय इस के कि वह उस व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त करे जिसे विधान-पालिका में सब से अधिक मत मिले हैं, और नामिका में जिसका नाम सब से प्रथम है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उस से केन्द्र और राज्यों के सबधो में तनाव आने का डर था। दूसरे शब्दों में, इस का अर्थ यह होता कि केन्द्र तथा राज्यों के आपसी सबधो को मधुर बनाए रखने के लिए राष्ट्रपति को उस व्यक्ति को ही राज्यपाल नियुक्त करना पड़ता जो नामिका में प्रथम होता [11]

(ii) यह भी महसूस किया गया कि देश की एकता बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय सरकार का प्रान्तों पर नियन्त्रण बना रहे और यदि राष्ट्रपति के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाता कि वह केवल नामिका में दिए गए नामों में से ही राज्यपाल की नियुक्ति करेगा तो उस अवस्था में ऐसा न हो पाता, क्योंकि राज्यपाल का वास्तविक चुनाव विधानपालिका के हाथ में होता न कि राष्ट्रपति के हाथ में। अत यह आवश्यक समझा गया कि राज्यपाल की नियुक्ति में राष्ट्रपति को पूर्ण स्वतन्त्रता हो और विधानपालिका का उस पर कोई प्रभाव न हो। इस के अतिरिक्त यह भी आवश्यक समझा गया कि किसी ऐसे व्यक्ति को प्रान्त का राज्यपाल नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए जो स्वय उसी प्रान्त का रहने वाला हो। अत यही उचित समझा गया कि राज्यपाल की नियुक्ति में राष्ट्रपति को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।[12]

मनोनयन प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष चुनाव की पद्धतियों को रद्द करने के पश्चात् सविधान सभा के सदस्यों ने यह निर्णय किया कि राज्यपाल की नियुक्ति

राष्ट्रपति द्वारा की जानी चाहिये। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत के समान कैनेडा के संविधान के अनुसार राज्यपालों की नियुक्ति वहाँ के गवर्नर जनरल द्वारा मंत्रिमण्डल के परामर्श से की जाती है।[13]

नियुक्ति की इस पद्धति के समर्थन में बोलते हुए कृष्णास्वामी अय्यर ने जो कि प्रारूप समिति के प्रमुख सदस्य थे कहा, कि साधारणतया भारत सरकार राज्यपालों की नियुक्ति करते समय प्रान्तीय मंत्रीमण्डल से परामर्श करेगी[14] और जो राज्यपाल इस प्रकार से नियुक्त किए जायेंगे वे निर्वाचित राज्यपालों से अधिक अच्छे होंगे, क्योंकि यह संभव है कि ऐसे राज्यपालों का संबंध किसी भी राजनैतिक दल से न हो। ऐसे व्यक्ति मन्त्रिमण्डल के मित्र तथा मध्यस्थ के रूप में अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं।[15] नेहरू जी का भी यही मत था और उन्होंने यह कहा भी था कि हो सकता है कि राज्यपाल की नियुक्ति करते समय केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार से परामर्श करे।[16]

बी० आर० अम्बेडकर ने, जो कि प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे, इस विषय पर बोलते हुए कहा कि राज्यपाल के चुनाव के विरुद्ध यह तर्क दिया गया है कि ऐसा करने से मुख्यमंत्री तथा राज्यपाल के बीच झगड़ा होने की संभावना है। जहाँ तक मेरा (अम्बेडकर) संबंध है मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ और न ही मैं इस तर्क से प्रभावित हुआ हूँ, क्योंकि मैं इस बात को नहीं मानता कि राज्यपाल का चुनाव होने के कारण मुख्यमंत्री तथा राज्यपाल के बीच प्रतिस्पर्धा हो जायेगी। ऐसा इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि मुख्यमंत्री का चुनाव तो नीति के आधार पर होगा, लेकिन राज्यपाल का चुनाव नीति के आधार पर संभव नहीं, क्योंकि उसके पास कोई शक्ति नहीं है। जहाँ तक मैं समझता हूँ राज्यपाल का चुनाव उस के व्यक्तित्व के आधार पर होगा। इसलिए यदि हम राज्यपाल के चुनाव के सिद्धान्त को भी माने तो भी मुख्यमंत्री और राज्यपाल में झगड़े की कोई संभावना नहीं।[17]

अतः पद के सभी पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह निर्णय किया गया कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा ही की जानी चाहिये। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार से नियुक्ति की जाने की पद्धति द्वारा संविधान निर्माताओं की आशाएँ कहाँ तक पूरी हुई हैं। मनोनयन के पक्ष में तथा चुनाव के विरुद्ध एक तर्क यह दिया गया था कि यदि राज्यपाल का चुनाव हुआ तो वह किसी न किसी राजनैतिक दल के उम्मीदवार के तौर पर चुनाव लड़ेगा और यदि उसे राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया गया तो यह हो सकता है कि वह एक ऐसा व्यक्ति हो जिस का किसी भी राजनैतिक दल से संबंध न हो। परन्तु संविधान निर्माताओं की ये आशाएँ पूरी नहीं हो सकीं क्योंकि पिछले 24 वर्षों में साधारणतया ऐसे व्यक्तियों को ही राज्यपाल नियुक्त किया गया जो राजनैतिक दल (कांग्रेस) से संबंध रखते थे। यहाँ तक कि कुछ राज्यपाल तो ऐसे थे जो राज्यपाल होते हुए भी सक्रिय राजनीति में भाग लेते रहे तथा राजनैतिक भाषण देते रहे हैं। उदाहरणतः श्री अजीत प्रसाद जैन ने केरल का राज्यपाल होते हुए, प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के पश्चात्, प्रधानमंत्री के चुनाव में

विशेष रूप से सक्रिय भाग लिया और श्रीमती इन्द्रा गांधी का खुलकर समर्थन किया तथा मोरारजी भाई का विरोध किया।[18] इसी प्रकार अजीत प्रसाद जैन ने केरल का राज्यपाल होते हुए यह कहा था कि वामपन्थी कम्यूनिस्ट नेता नम्बूदरीपाद की नीति 'भारत विरोधी' है एवं अधिकतर वामपन्थी कम्यूनिस्ट इसी नीति पर चलते हैं, और कम्यूनिस्ट दल केवल दिखावे के लिए प्रतिरक्षा सबंधी प्रयत्नों में भाग ले रहा है। उन्होंने यह भी कहा था कि नम्बूदरीपाद तथा उनके मित्र यह चाहते हैं कि आजाद कश्मीर पाकिस्तान को और अक्समाईचिन चीन को दे दिया जाये। इसलिए उन्होंने केन्द्रीय गृहमन्त्री गुलजारी लाल नन्दा द्वारा वामपन्थी कम्युनिस्टों को जेल में दिए जाने का समर्थन किया।[19] एन० वी० गॅडगिल ने पंजाब का राज्यपाल होते हुए इसी प्रकार के राजनैतिक भाषण दिए थे। उदाहरणत उन्होंने मुक्तसर में हरिजनों में कहा था कि वे किसी भी राजनैतिक दल के दबाव या प्रभाव में न आयें और अपने मत का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से करें। आगे चलकर उन्होंने कहा कि यदि प्रधानमन्त्री नेहरू की सरकार नहीं बनी तो विश्व शांति को खतरा पैदा हो जायेगा।[20] मैसूर के राज्यपाल धर्मवीर ने एक ऐसे समारोह की अध्यक्षता की जिसमें तुलसीदास दसापा का कांग्रेस संसदीय दल के सचिव निर्वाचित होने पर स्वागत किया गया था।[21] यहाँ तक कि बी० के० नेहरू ने भी जो असम के राज्यपाल थे अपने कार्यकाल के दौरान कांग्रेस के पक्ष में दो लेख लिखे।[22] जब 1967 का चुनाव हुआ तो उस समय राजस्थान के राज्यपाल सम्पूर्णानन्द ने स्पष्टतया यह कहा कि केवल कांग्रेस ही देश में स्थायी सरकार बना सकती है।[23] अजीत प्रसाद जैन ने प्रधानमन्त्री के चुनाव में जो भाग लिया था, उस पर टिप्पणी करते हुए श्रीप्रकाश ने जो असम, बम्बई तथा मद्रास के राज्यपाल रहे हैं कहा, कि "इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जब तक कोई भी व्यक्ति किसी पद पर है तब तक उसे उस पद द्वारा निर्धारित की गई सीमाओं में ही रहना चाहिये, चाहे वे कितनी ही कष्टदायक क्यों न हों। मुझे अजीत प्रसाद जैन के साथ सहानुभूति तो है परन्तु मेरा विचार है कि उन्हें राज्यपाल के पद पर रहते हुए विवादग्रस्त राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिये था।"[24]

लेकिन अजीत प्रसाद जैन इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। उन्होंने अपने पक्ष में कहा, कि जब उन्हें राज्यपाल नियुक्त किया गया था तो उस समय उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि अगले चुनाव होने से पहले वे राज्यपाल के पद से त्यागपत्र दे कर सक्रिय राजनीति में भाग लेना आरम्भ कर देंगे। उन्होंने अपनी अनेक प्रेस कान्फ्रेंसों में भी इस दिशा में संकेत दिए थे। इसलिए वे इस बात को नहीं मानते कि राज्यपाल नियुक्त होने के पश्चात् उन्होंने सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लिया था।[25] उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा कि राज्यपालों के लिए कोई एक जैसी आचरण-संहिता (कोड ऑफ कंडक्ट) नहीं है। अमेरिका के राज्यपाल भी राष्ट्रपति के चुनाव में भाग लेते हैं। क्या उस (अजीत प्रसाद जैन) जैसे राज्यपाल को जो राजनैतिक निर्णयों तथा केन्द्रीय सरकार की अनेक समितियों में सक्रिय भाग लेता है, संयुक्त राज्य अमेरिका के

राज्यपालों के समान नहीं समझा जाना चाहिये।[26] यहां पर यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि जब डा० राजेन्द्रप्रसाद भारत के राष्ट्रपति थे उस समय उन्होंने यह प्रयत्न किया था कि राज्यपाल सक्रिय राजनीति में भाग न लें। उदाहरणतः एक व्यक्ति राज्यपाल होते हुए भी अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का सदस्य बनना चाहते थे, लेकिन राष्ट्रपति ने उन्हे ऐसा करने की आज्ञा नही दी।[27] इसी प्रकार एक राज्यपाल अपने राज्य की राजनीति मे भाग लेने के लिए राजनैतिक दौरे करते थे, जब यह राष्ट्रपति को यह मालूम हुआ तो उन्होंने राज्यपाल को ऐसा करने से रोक दिया। जो राज्यपाल इन प्रतिबन्धों को नही मानते थे उन्हे त्यागपत्र देना पड़ा।[28] लेकिन डा० राजेन्द्र प्रसाद को भी इस दिशा में आंशिक सफलता ही मिली क्योंकि उस समय भी कुछ राज्यपाल ऐसे थे जो कांग्रेस के पक्ष में ऐसे भाषण दे दिया करते थे जो राजनैतिक दृष्टि से साधारणतया एक राज्यपाल को नहीं देने चाहिये।[29]

यहाँ पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि यदि राजनैतिक व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त किया जायेगा तो उन का संबंध अवश्य ही राजनैतिक दलों से होगा और श्रीप्रकाश का विचार है, कि "राजनैतिक जीवन से संबंध रखने वाले व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त किया जाना उचित है, लेकिन उन मन्त्रियों को जो चुनाव में पराजित हो गये हैं. राज्यपाल नियुक्त नहीं किया जाना चाहिये। जो व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त हों, उन्हें चाहिये कि वे सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लें। वे राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति तो बन सकते हैं लेकिन इन के अतिरिक्त उन्हें कोई भी अन्य पद स्वीकार नहीं करना चाहिये। यदि यह प्रथा स्थापित हो जाये तो वे व्यक्ति जो केन्द्र में मन्त्री रहने के पश्चात् राज्यपाल बने हों बड़ी आसानी से दलगत राजनीति से ऊपर उठ सकते हैं। यदि राज्यपाल कुछ समय के पश्चात् स्वयं ही मन्त्री बन जायें तो इस पद की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचता है।"[30]

लेकिन यह खेद की बात है कि अमल में ऐसा नहीं होता और हमें अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ पर राज्यपाल अपना कार्यकाल पूरा करने के पश्चात् या तो मन्त्री बने हैं या उन्होंने कोई और पद स्वीकार कर लिया। उदाहरणतः विश्वनाथ दास उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रहने के पश्चात् उड़ीसा के मुख्यमंत्री बने। अजीत प्रसाद जैन ने केरल का गवर्नर रहने के पश्चात् लोकसभा का चुनाव लड़ा। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित बम्बई की राज्यपाल रहने के पश्चात् संसद सदस्य बनीं। हरेकृष्ण मेहताब बम्बई के राज्यपाल रहने के पश्चात् 1958 में उड़ीसा के मुख्यमंत्री बने। उड़ीसा के भूतपूर्व राज्यपाल वाई० एम० सुखतांकर बाद में एक पब्लिक सैक्टर कम्पनी के अध्यक्ष बने। बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल डी० के० बरुआ केन्द्र में मंत्री नियुक्त किए गए। यदि राज्यपाल के पद की प्रतिष्ठा को बनाये रखना है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि राज्यपाल को अपना कार्यकाल पूरा करने के पश्चात्, राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के पद को छोड़कर, किसी और पद को स्वीकार करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये। लेकिन ऐसा करने से पहले यह सुझाव दिया जाता है कि राज्यपाल को भी राष्ट्रपति

की तरह से उसके पद के अनुसार पेन्शन मिलनी चाहिये ताकि रिटायर होने के पश्चात् वह सम्मानपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सके। यह सुझाव कि राज्यपाल के पदमुक्त होने के पश्चात उसे पेन्शन मिलनी चाहिये, प्रोफेसर के० टी० शाह ने सविधान सभा से भी रखा था[31], परन्तु इसे रद्द कर दिया गया।[3] राज्यपाल के पद की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए पराजित, असन्तुष्ट तथा बदनाम राजनीतिज्ञो को भी राज्यपाल नियुक्त नही किया जाना चाहिए, क्योकि ऐसे व्यक्ति सविधान की रक्षा नही कर सकते।[33] इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिलते हैं जब कि पराजित राजनीतिज्ञो का राज्यपाल नियुक्त किया गया। एडमिनिस्ट्रेटिव रिफॉर्म्स कमीशन ने अपनी रिपोर्ट मे ठीक ही कहा है, कि 'पिछले 19 वर्षों मे जिन व्यक्तियो को राज्यपाल नियुक्त किया गया उन मे से अधिकतर ऐसे थे जिन्हे राज्यपाल नियुक्त नही किया जाना चाहिए था। ठीक प्रकार के व्यक्तियो की कमी के कारण नही बल्कि राज्यपाल के पद को महत्वहीन बनाने के लिए ऐसा किया गया। इस पद को आराम की नौकरी समझ कर केन्द्र मे सत्तारूढ दल ने अपने दल के बूढे राजनीतिज्ञो को अधिकतर राज्यपाल नियुक्त किया है।"[34] अत केन्द्रीय सरकार को राज्यपाल के पद के प्रति अपने व्यवहार मे काफी परिवर्तन लाना चाहिये। इस पद को आराम की नौकरी न समझ कर, सघीय सरकार का एक महत्वपूर्ण पद समझा जाना चाहिए और केवल ऐसे व्यक्तियो को जो योग्य हो यह पद दिया जाना चाहिये। इसका अर्थ यह नही है कि यह पद उन्हे नही दिया जाना चाहिये जिन्होने राजनीति मे सक्रिय भाग लिया हो, बल्कि इस का अर्थ यह अवश्य है कि केन्द्र मे सत्तारूढ दल को केवल अपने ही दल से सबन्धित राजनीतिज्ञो को राज्यपाल नही बनाना चाहिये। यदि किसी अन्य राजनैतिक दल मे कोई योग्य व्यक्ति हो तो उसे भी राज्यपाल नियुक्त कर देना चाहिये।

यहाँ पर इस बात की चर्चा करनी भी आवश्यक है कि उन राज्यपालो मे से जो भूतपूर्व असैनिक कर्मचारी थे कुछ ऐसे राज्यपाल हुए हैं जो अच्छे राज्यपाल नही थे और कुछ ऐसे व्यक्ति जो भूतपूर्व राजनीतिज्ञ थे, अच्छे राज्यपाल सिद्ध हुए हैं। अत हम कह सकते है कि राज्यपाल की नियुक्ति के समय व्यक्ति की योग्यता को अधिक महत्व दिया जाना चाहिये।

नामाकन के पक्ष मे दूसरा तर्क यह था कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति राज्यसरकार के परामर्श से करेगा और ऐसा व्यक्ति जो केन्द्रीय सरकार तथा राज्य-सरकार दोनो को स्वीकृत हो, केन्द्र तथा राज्यो के बीच मधुर सम्बन्ध बनाने मे सहायक होगा। 1950-67 के बीच इस प्रकार की प्रथा अवश्य रही है जबकि केन्द्र ने राज्य सरकार के परामर्श से राज्यपालो की नियुक्ति की है। लेकिन उस समय केन्द्र तथा राज्यो मे कांग्रेस का ही शासन था। 1967 के चुनाव के पश्चात् जब कुछ प्रान्तो मे गैर-कांग्रेसी सरकारें बनी तो उस समय इस प्रथा को छोड दिया गया। उदाहरणत पश्चिमी बगाल मे सयुक्त मोर्चे की सरकार ने धर्मवीर की नियुक्ति का विरोध किया, लेकिन फिर भी उन्हें राज्यपाल नियुक्त कर दिया गया।[35] जब

संयुक्त मोर्चे की सरकार ने धर्मवीर को छुट्टी पर जाने के लिए विवश कर दिया तो फिर से यह प्रश्न उठा कि राज्यपाल किस को बनाया जाये। संयुक्त मोर्चे की सरकार ने इस सम्बन्ध में कुछ नामों का सुझाव दिया जिन्हें प्रधानमंत्री ने रद्द कर दिया।[36] इसी प्रकार 1967 में नित्यानन्द कानूनगो को माहामाया प्रसाद सिन्हा के मन्त्रीमंडल की इच्छा के विरुद्ध बिहार का राज्यपाल नियुक्त किया गया।[37] हरियाणा में भी 1967 में तत्कालीन मुख्यमंत्री राववीरेन्द्र सिंह ने राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में कुछ नामों का सुझाव दिया था जिन्हें केन्द्रीय सरकार ने मानने से इन्कार कर दिया था।[38] जब राज्य में सत्तारूढ़ दल की इच्छा के विरुद्ध राज्यपाल की नियुक्ति की जाये तो उस से केन्द्र तथा राज्य के सम्बन्धों में तनाव होने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त ऐसा करने से राज्यपाल तथा मन्त्रीमण्डल के सम्बन्ध भी ठीक नहीं रहते। यही कारण है कि केन्द्रीय सरकार पर प्रायः यह दोष ठीक ही लगाया जाता है कि वह राज्यपालों की नियुक्ति में दोहरी नीति अपनाती है। प्रोफेसर के.टी. शाह का यह सन्देह ठीक ही था कि राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भारतवर्ष में किसी प्रकार की प्रथा का स्थापित होना सन्देहजनक है।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो राज्यपालों की नियुक्ति राज्यसरकारों के परामर्श से किए जाने के विरुद्ध हैं, तथा इस परम्परा को समाप्त करना चाहते हैं।[39] लेकिन **एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमीशन** उन से सहमत नहीं है। उस ने सिफारिश की है, कि "राज्यपालों की नियुक्ति, राज्य सरकारों के परामर्श से की जानी ठीक है। लेकिन कुछ लोग इस प्रथा को इसलिए समाप्त करना चाहते हैं क्योंकि संविधान में राज्यपालों की नियुक्ति राज्य सरकारों के परामर्श से किए जाने की कहीं भी चर्चा नहीं है। इस के अतिरिक्त उन के अनुसार यह प्रथा इसलिए भी हानिकारक हो सकती है क्योंकि ऐसा करने से मुख्यमन्त्री ऐसे व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त करवाना चाहेंगे जो उन के आज्ञाकारी हों। वह यह भी तर्क देते हैं कि राज्यपाल का कार्यकाल तो पांच वर्ष का है लेकिन मुख्यमन्त्री का कोई निश्चित कार्यकाल नहीं है। अतः उस व्यक्ति के साथ परामर्श करने का कोई विशेष महत्त्व नहीं जो राज्यपाल की नियुक्ति के समय मुख्यमन्त्री है, क्योंकि हो सकता है, कि कुछ समय पश्चात वह व्यक्ति मुख्य-मन्त्री न रहे। लेकिन **एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स** कमीशन ने इन तर्कों के बावजूद यह सिफारिश की है कि राज्यपाल की नियुक्ति से पहले मुख्यमन्त्री से परामर्श करना लाभदायक है क्योंकि ऐसा न करने से राज्यपाल का कार्य और भी अधिक कठिन हो जायेगा। इसलिए हम राज्यपाल की नियुक्ति से पहले मुख्यमन्त्री से परामर्श करने की जो इस समय प्रथा है उसे समाप्त करने की सिफारिश नहीं करते। लेकिन फिर भी हम इस पर बल अवश्य देंगे कि योग्य व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त करने का पूर्ण उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर है और मुख्यमन्त्री के साथ परामर्श करने से यह उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता"।[40]

राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति के पक्ष में तीसरा तर्क यह था कि इस से प्रान्तीय पृथकतावादी प्रवृतियों को दबाने में सहायता मिलेगी।[41] लेकिन यह बात

समझ में नहीं आती कि राज्यपालों की नियुक्ति की इस पद्धति से यह उद्देश्य कैसे पूरा हो जायेगा।

अतः यह कहा जा सकता है नियुक्ति की इस पद्धति के पक्ष में तर्क यह है कि यह कम खर्चीली है, अल्पसंख्यक जाति के लोगों को राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। इससे केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व तथा प्रभाव बना रहता है तथा राज्य के बाहर के व्यक्ति को राज्यपाल बनाया जा सकता।[42] लेकिन इन लाभों के होते हुए भी यह अनुभव किया जा रहा है कि नियुक्ति की इस पद्धति में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता अवश्य है और संसद में तथा संसद से बाहर, बार-बार यह मांग की गई है तथा इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए गए हैं

- (i) राज्यपाल की नियुक्ति केवल राज्य सरकार की सहमति से होनी चाहिए।[43]
- (ii) उस की नियुक्ति राष्ट्रपति, राज्य सरकार द्वारा तैयार की हुई नाम-सूची में से करे।[44]
- (iii) उस की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उस नामसूची में से की जानी चाहिये जो केन्द्रीय सरकार ने संसदीय विपक्ष के परामर्श से तैयार की हो।[45]
- (iv) राज्यपालों की नियुक्ति का अनुमोदन संसद द्वारा किया जाना चाहिये।[46]
- (v) राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उस नामावली में से की जानी चाहिये जो राष्ट्रपति की उस परामर्शदात्री समिति द्वारा तैयार की जाये जिस में सर्वोच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश हों।
- (vi) राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति, मन्त्रियों के परामर्श से न करे बल्कि एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति (High Power Committee) की सलाह से करे।[47]
- (vii) राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति अपने विवेक से करे और इस बारे में उसे मन्त्रीमण्डल का परामर्श नहीं मानना चाहिये।[49]
- (viii) राज्यपाल का चुनाव राज्य की विधानपालिका द्वारा किया जाना चाहिए।[50]
- (ix) उस का चुनाव एक ऐसे निर्वाचन मण्डल द्वारा होना चाहिये, जिस में विधान-सभा, विधान परिषद (जहाँ हो) तथा स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के सदस्य भी शामिल हों।[51]

ऐसा लगता है कि जो सुझाव ऊपर दिए गए हैं उन में से वह सुझाव सबसे अच्छा है जो भारत के भूतपूर्व मुख्य-न्यायाधीश के० सुब्बाराव ने दिया है। पूना विश्वविद्यालय में बोलते हुए उन्होंने कहा, कि राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रिमण्डल के परामर्श से नहीं की जानी चाहिये, बल्कि एक उच्चाधिकार प्राप्त समिति

की सलाह से की जानी चाहिये। उन्हें उनके पद से तब हटाया जाना चाहिये जब सर्वोच्च न्यायालय उनके दुराचरण की घोषणा कर दे, और जिस राज्यपाल को इस प्रकार पद से हटाया जाये उसे केन्द्र तथा राज्य सरकार में कोई अन्य पद नहीं दिया जाना चाहिये।[62]

नियुक्ति के लिए अर्हताएं

संविधान के अनुच्छेद 157 के अनुसार किसी भी व्यक्ति को उस समय तक राज्यपाल नियुक्त नहीं किया जा सकता जब तक वह भारतवर्ष का नागरिक न हो और उस की आयु 35 वर्ष की न हो। इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों को भी राज्यपाल नियुक्त नहीं किया जा सकता जो संसद सदस्य हैं या उन विधानपालिकाओं के सदस्य हैं जिन का नाम संविधान की प्रथम सूची में दिया गया है। यदि किसी व्यक्ति को, जो संसद या विधानपालिका का सदस्य है, राज्यपाल नियुक्त कर दिया जाये तो उस की वह सदस्यता उसी समय समाप्त समझी जायेगी जब वह राज्यपाल के पद की शपथ लेगा।[63] इसके अतिरिक्त राज्यपाल किसी अन्य लाभ के पद पर भी नहीं रह सकता।[64]

कार्यकाल

संविधान के अनुच्छेद 156 के अनुसार राज्यपाल अपने पद पर उस समय तक रहता है जब तक राष्ट्रपति की इच्छा हो, परन्तु राष्ट्रपति को सम्बोधित करते हुए अपने हस्तलिखित त्यागपत्र द्वारा वह किसी भी समय अपने पद को छोड़ सकता है। लेकिन साधारणतया उसका कार्यकाल पांच वर्ष होता है और यह कार्यकाल उस तिथि से आरम्भ होता है जिस दिन से वह अपने पद का कार्यभार संभालता है। पांच वर्ष के कार्यकाल का ध्यान न रखते हुए वह अपने पद पर उस समय तक काम करता रहता है जब तक उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण नहीं कर लेता। इसका तात्पर्य यह है कि राज्यपाल अपने पद पर पांच वर्ष से अधिक अवधि तक रह सकता है।[65] हरियाणा में बी० एन० चक्रवर्ती और पंजाब में डी० सी० पावते का कार्यकाल समाप्त होने पर भी वे राज्यपाल बने रहे क्योंकि केन्द्रीय सरकार ने उनके उत्तराधिकारियों की नियुक्ति नहीं की। लेकिन संविधान के कुछ विशेषज्ञ यह अनुभव करते हैं कि अनुच्छेद 158 (2) इस उद्देश्य के लिए नहीं है जिसके लिए केन्द्र सरकार उस का प्रयोग कर रही है। इस का वास्तविक उद्देश्य तो यह था कि यदि किसी कारण मनोनीत किया हुआ राज्यपाल ठीक समय पर पद ग्रहण न कर सके तो ऐसी असाधारण परिस्थिति में राज्यपाल अपने पद पर थोड़े समय तक काम करता रहे।[66] इस दृष्टिकोण की संविधान के अनुच्छेद 56 (C) से पुष्टि होती है, जिस में यह कहा गया है कि नये राष्ट्रपति का चुनाव होने के पश्चात् भी पद छोड़ने वाला राष्ट्रपति अपने पद पर उस समय तक काम करता रहेगा जब तक कि नव-निर्वाचित राष्ट्रपति अपना पद नहीं संभाल लेता। लेकिन इस अनुच्छेद का यह अर्थ कदापि नहीं कि राष्ट्रपति का चुनाव निश्चित समय पर न किया जाये क्योंकि संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राष्ट्रपति का चुनाव उसका कार्यकाल समाप्त होने से पहले किया जाये।[67] सर्वोच्च न्यायालय ने भी

इसी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। इसी प्रकार से नये राज्यपाल की नियुक्ति भी ठीक समय पर होनी चाहिये ताकि वह उस दिन अपना पद ग्रहण कर सके जिस दिन पहले राज्यपाल का कार्यकाल पूरा होता हो। यदि किसी कारण से राज्यपाल का पद अचानक ही खाली हो जाये तो राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 160 के अन्तर्गत राज्यपाल के कृत्यों के निवहन के लिए ऐसी व्यवस्था कर सकता है जो वह उचित समझे।

संविधान के प्रारम्भ में यह व्यवस्था की गई थी कि किसी भी व्यक्ति को केवल एक ही बार राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है[58] परन्तु बाद में इस प्रतिबन्ध को हटा दिया गया और, अब एक ही व्यक्ति को कितनी ही बार राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। लेकिन यह नियुक्ति पुनः पांच वर्ष के लिये होनी चाहिए। उन का कार्यकाल समाप्त होने पर उन्हें अन्य सरकारी पदाधिकारियों के समान अगला आदेश मिलने तक (*Till further orders*) या छः छः महीने तक का समय देकर (*extension*) उन्हें पद पर रखना बहुत ही अनुचित तथा आपत्तिजनक है।

जब अनुच्छेद 156 पर संविधान सभा में बहस हो रही थी तो प्रोफेसर शिबन लाल सक्सेना ने यह कहा था कि यदि राज्यपाल केवल उस समय तक अपने पद पर रहेगा, जब तक राष्ट्रपति चाहता है तो इससे उसकी स्थिति बहुत ही कमजोर हो जायगी और वह स्वतन्त्र नहीं रह पायेगा। अतः उसने यह प्रस्ताव पेश किया था कि राज्यपाल को संविधान का उल्लंघन करने के लिए महाभियोग द्वारा उसके पद से हटाया जाना चाहिये,[59] लेकिन संविधान सभा ने यह सुझाव रद्द कर दिया क्योंकि डा० अम्बेडकर इससे सहमत नहीं थे।[60] चूंकि अब राज्यपाल उस समय तक अपने पद पर रहता है जब तक कि राष्ट्रपति चाहे अतः उसकी स्थिति बहुत ही कमजोर है और उसे केन्द्रीय सरकार किसी भी समय हटा सकती है। इसीलिए कुछ राजनीतिज्ञों का यह विचार है कि इसी कारण से राज्यपाल राज्य के औपचारिक कार्यपालक के रूप में काम करने की बजाय केन्द्रीय सरकार के एजेन्ट के रूप में काम करते है। इसीलिए सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायधीश के० सुब्बाराव ने कहा है कि जब तक राज्यपाल को केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार हटा सकती है तब तक वह संविधान के अनुसार अपने कार्य नहीं कर सकता।

पद की शपथ

प्रत्येक राज्यपाल पद ग्रहण करने से पहले उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश की उपस्थिति में और यदि वह उपस्थित न हो तो सब से वरिष्ठ न्यायधीश की उपस्थिति में अपने पद की शपथ लेता है।[61] शपथ लेते समय वह या तो ईश्वर के नाम की सौगन्ध खा सकता है या सत्यभाव से प्रतिज्ञा (*Solemnly affirm*) कर सकता है। सत्यभाव से प्रतिज्ञा, करने की व्यवस्था उनके लिए की गई है जो ईश्वर में विश्वास नहीं रखते। प्रजातन्त्र में किसी भी व्यक्ति को उस की इच्छा के विरुद्ध ईश्वर के नाम की सौगन्ध खाने के लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि वह स्वयं तैयार न हो।[62] एस. एस. मोरे के शब्दों में, 'शपथ केवल वही ले सकते हैं जिन का ईश्वर में विश्वास हो। वे सदस्य जो ईसाई नहीं है या जिन का ईश्वर में विश्वास नहीं है, अपने अन्तःकरण के अनुसार शपथ नहीं ले सकते। इंग्लैंड में ऐसे सदस्यों को शपथ लेने के स्थान पर प्रतिज्ञा करने के अधिकार की प्राप्ति के लिए एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा था। उनका

संघर्ष करने वालों में चार्ल्स ब्राड्ले सब से प्रमुख थे। अन्त में उन सदस्यों को शपथ के स्थान पर प्रतिज्ञा करने का अधिकार दे दिया गया जो यह कहते थे कि शपथ लेना उनके धर्म के विरुद्ध है।"[83]

भारत के स्वतन्त्र होने से पहले भारतवासी शपथ लेने की बजाय सत्यभाव से प्रतिज्ञा करते थे।[84] लेकिन प्रश्न यह पैदा होता है कि जब भारतवासी स्वतन्त्रता से पहले प्रतिज्ञा करते थे तो स्वतन्त्र होने के पश्चात् शपथ लेने की व्यवस्था की क्या आवश्यकता थी। इस का उत्तर यह है कि जब अंग्रेजों का शासन था तो उस समय सत्यभाव से प्रतिज्ञा करना ही ठीक था और स्वतन्त्र होने के पश्चात् सिवाय उनको छोड़कर जिन का धर्म शपथ लेने की आज्ञा नहीं देता शेष के लिए शपथ लेना ही उचित है। यद्यपि भारत की अधिकतर जनसंख्या ईश्वर में विश्वास रखती है लेकिन फिर भी उन थोड़े से लोगों के लिए जो ईश्वर में विश्वास नही रखते ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक था।

संविधान सभा में इस विषय पर बहुत बहस हुई कि सत्यभाव से प्रतिज्ञा करना, लाईन से ऊपर लिखा जाय या लाईन से नीचे। डा० अम्बेडकर इस वाक्य को लाईन के ऊपर इसलिए लिखने के पक्ष में थे क्योंकि हिन्दू, जिनका इस देश में बहुमत है, जब वे न्यायालय में गवाही देने जाते हैं तो साधारणतया वे प्रतिज्ञा करते हैं। केवल ईसाई, ऐंग्लोइंडियन्स तथा मुसलमान ही सौगन्ध खाते हैं। हिन्दू, ईश्वर के नाम पर सौगन्ध खाना पसन्द नहीं करते। इस बहुसंख्यक जाति की भावनाओं का आदर करते हुए अम्बेडकर ने यह उचित समझा कि प्रतिज्ञा वाले वाक्य को लाईन से ऊपर तथा सौगन्ध वाले वाक्य को लाईन से नीचे रखा जाये।[85] लेकिन महावीर त्यागी तथा एच० वी० कामथ ने इसका विरोध किया और कहा, कि "ईश्वर के नाम की शपथ लेने" को लाईन के ऊपर रखा जाये। उन के कहने के कारण ही सत्यभाव से प्रतिज्ञा लेने को लाईन से नीचे रखा गया।[86]

जब राज्यपाल की एक राज्य से दूसरे राज्य में बदली की जाती है तो उस समय उसे दोबारा शपथ लेनी पड़ती है क्योंकि अनुच्छेद 159 के अनुसार पद की शपथ उस राज्य के मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति में सबसे वरिष्ठ न्यायाधीश द्वारा दिलाई जायेगी जिस राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया गया हो।[87] हमें ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जब एक राज्यपाल की दूसरे राज्य में बदली की गई है। उदाहरणतया धर्मवीर पश्चिमी बंगाल से मैसूर में, उज्जल सिंह पंजाब से तमिलनाडु में, पट्टमथानू पिल्ले पंजाब से आन्ध्र प्रदेश में, वी० वी० गिरी को उत्तर प्रदेश से केरल में, रामकृष्ण राव को केरल से उत्तर प्रदेश में तथा जोगिन्दर सिंह को उड़ीसा से राजस्थान में बदला गया। लेकिन राज्यपालों की इस प्रकार से एक राज्य से दूसरे राज्य में बदली करना, जैसे सरकारी पदाधिकारियों की एक स्थान से दूसरे स्थान पर की जाती है, बहुत ही अनुचित है क्योंकि कुछ राज्यपाल तो केवल अपनी बदली के प्रलोभन को ध्यान में रखते हुए अपने संवैधानिक कर्तव्य निष्पक्ष रूप से करने में संकोच करते हैं जो हमारी संसदीय प्रणाली के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है।

वेतन

अनुच्छेद 158 (3) के अनुसार राज्यपाल को बिना किराये का निवास-स्थान तथा वह वेतन भत्ता तथा विशेषाधिकार मिलेंगे जो संसद कानून द्वारा निश्चित किये जायेंगे,

और जब तक संसद ऐसा नहीं करती तब तक वह वेतन, भत्ता तथा विशेषाधिकार मिलेंगे जो संविधान की दूसरी सूची में दिए गए हैं। जब दो या दो से अधिक राज्यों का एक ही राज्यपाल हो तो उसे दिए जाने वाला वेतन तथा भत्ता उन राज्यों में उस अनुपात से बांट दिया जाता है, जो राष्ट्रपति निश्चित करता है।[68] राज्यपाल के वेतन तथा भत्ता को उस के कार्यकाल में घटाया नहीं जा सकता।

संविधान के पहले प्रारूप में इस संबंध में यह व्यवस्था की गई थी कि राज्यपाल का वेतन तथा भत्ता राज्य की विधानपालिका कानून द्वारा निश्चित करेगी, और जब तक विधानपालिका ऐसा नहीं करती तब तक उसे वह वेतन तथा भत्ता मिलेगा जो संविधान की दूसरी सूची में दिया गया है। लेकिन जब इस विषय पर संविधान सभा में बहस हुई तो उस समय यह अनुभव किया गया कि ऐसा करना इस लिए उचित नहीं होगा क्योंकि ऐसा करने से भिन्न-भिन्न राज्यों के राज्यपालों के भिन्न-भिन्न वेतन तथा भत्ते होंगे। अतः सब राज्यपालों को समान रखने के लिए संविधान में यह व्यवस्था कर दी गई कि राज्यपाल का वेतन निश्चित करने का अधिकार संसद को होगा और जब तक संसद इस सम्बन्ध में कानून नहीं बनाती तब तक उसे 5500 रुपये मासिक वेतन मिलेगा जैसा कि संविधान की दूसरी सूची में कहा गया है। लेकिन इस वेतन से हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि राज्यपाल के पद पर वास्तविक खर्च कितना है क्योंकि उसके निवास स्थानों तथा कारों इत्यादि पर बहुत ही अधिक खर्च होता है। उदाहरणतया तमिलनाडु में गिन्डी तथा ऊटकमंड के राजभवनों पर 70,000 रुपये, महाराष्ट्र के बम्बई तथा गनेशखिंड राजभवनों पर 113,000 रुपये, कलकत्ता तथा दारजलिंग के राजभवनों पर 87500 रुपये, उत्तर प्रदेश में लखनऊ, इलाहाबाद तथा नैनिताल के राजभवनों पर 93000 रुपये, बिहार में पटना तथा रांची के राजभवनों पर 50900 रुपये, असम में शिलांग के राजभवन पर 40000 रुपये, तथा उड़ीसा में भुवनेश्वर एवं पुरी के राजभवन पर 46000 रुपये खर्च होते हैं।[69]

इस के अतिरिक्त प्रत्येक राज्यपाल को कारों, स्टॉफ तथा दौरों और आतिथ्य-सत्कार के लिए कुछ रुपये दिऐ जाते हैं। इन कामों के लिए तमिलनाडु के राज्यपाल को 320,000 रुपये, महाराष्ट्र के राज्यपाल को 5 00 00 रुपये, पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल को 370,000 रुपये दिए जाते हैं। इसी प्रकार पंजाब में 203,000 रुपये, उत्तरप्रदेश में 300,000 रुपये, बिहार में 194,000 रुपये, असम में 170,000 रुपये उड़ीसा में 153,000 रुपये आन्ध्र में 273,000 रुपये, केरल में 167,000 रुपये, मध्यप्रदेश में 216,000 रुपये, मैसूर में 255 000 रुपये, तथा राजस्थान में 205,000 रुपये राज्यपालों को इन कार्यों के लिए दिए जाते हैं।[70]

इस के अतिरिक्त बिजली, पानी तथा राजभवन के बागीचों के लिए तमिलनाडु के राज्यपाल को 335,000 रुपये, महाराष्ट्र के राज्यपाल को 650,000 रुपये, पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल को 590,000 रुपये तथा उत्तरप्रदेश, बिहार, केरल और मैसूर के राज्यपालों को इस से आधे रुपये मिलते हैं।[71]

इस के अतिरिक्त राज्यपाल तथा उस के परिवार के खाने-पीने तथा ओढ़ने-पहनने के लिए जो सामान विदेशों से मंगाया जाता है उस पर सीमा शुल्क नहीं लगता। राजभवन की सजावट के लिए जो सामान आता है, उस पर भी सीमा शुल्क नहीं लगता।[72]

इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल की संस्था बहुत ही महंगी है और यह उस समय कुछ और अधिक महंगी हो जाती है जब एक राज्यपाल के लम्बी अवधि के लिए छुट्टी पर चले जाने के पश्चात्, उसके स्थान पर दूसरे राज्यपाल की नियुक्ति कर दी जाती है, जैसा कि पश्चिम बंगाल में हुआ। वहां पर धर्मवीर के छुट्टी चले जाने के पश्चात एन०एन० वंचू को राज्यपाल नियुक्त कर दिया गया और इस प्रकार सरकार को दो राज्यपालों को वेतन देना पड़ा। प्रशासन सुधार आयोग के अनुसार साधारणतया एक राज्यपाल पर 650,000 रुपये प्रति वर्ष खर्च होते है और उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पर तो 15 लाख रुपये प्रति वर्ष खर्च होते हैं जो कि सब से अधिक खर्च है।[73] कुल मिलाकर राज्यपालों की संस्था पर लगभग 3 करोड़ रुपये प्रति वर्ष खर्च किया जाता है।[74] इस खर्च की जनता में काफी आलोचना भी हुई, जिसके कारण प्रधानमंत्री को विवश होकर राज्यपालों का ध्यान इस ओर दिलाने के लिए उन्हें पत्र लिखना पड़ा।[75]

विशेषाधिकार

संविधान के अनुच्छेद 361 के अनुसार उसे कुछ विशेषाधिकार भी दिए गए हैं। उदाहरणत: जब तक वह राज्यपाल है उस के विरुद्ध न्यायालय में फौजदारी की कार्यवाही आरम्भ नहीं की जा सकती और न ही उस की गिरफ्तारी के वारंट जारी किये जा सकते हैं। उसे संविधान द्वारा जो अधिकार दिए गए हैं, उनके प्रयोग के लिए उसके विरुद्ध व्यक्तिगत रूप से कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। यदि कोई व्यक्ति राज्यपाल के पद पर है तब तक उसके विरुद्ध दीवानी कार्यवाही उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक लिखित रूप से दो महीने का नोटिस न दिया जाये।

अग्रता-क्रम

ब्रिटिश शासन काल में कार्य पारिषदों (Executive Councillors) की अपेक्षा राज्यपालों का पद अग्रता-क्रम की दृष्टि से ऊँचा समझा जाता था। स्वतन्त्र होने के कुछ समय पश्चात् भी यह स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही क्योंकि केन्द्रीय मंत्रिमंडल के सदस्य अग्रता-क्रम में राज्यपालों के बाद आते थे। लेकिन कुछ समय पश्चात् नेहरू जी के समय में ही यह नियम बना दिया गया कि अग्रता-क्रम में राज्यपाल सिवाय उस राज्य को छोड़ कर जहां का वह राज्यपाल है, केन्द्रीय मंत्रिमंडल के सदस्यों के बाद में आएगा।[77] यद्यपि कुछ राज्यपालों ने, राज्यपालों के सम्मेलन में यह कहा कि उन के अग्रता-क्रम में इस प्रकार से परिवर्तन करना उचित नहीं और यदि परिवर्तन करना ही है तो कम से कम उन्हें केन्द्रीय मंत्रिमंडल के बराबर तो रखना ही चाहिये, परन्तु उन के इस तर्क को रद्द कर दिया गया।[78]

शोक सबंधी नियम

गृह-मन्त्रालय के अनुसार साधारणतया, राष्ट्रपति, भूतपूर्व राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा राज्यपाल को छोड़ कर राज्य की तरफ से किसी भी अन्य व्यक्ति का शोक नहीं मनाया जायेगा। राष्ट्रपति के लिए शोक का समय 13 दिन, प्रधानमंत्री के लिए 12 दिन, भूतपूर्व राष्ट्रपति के लिए 7 दिन का होना है। राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री के लिए यह समय 7 दिन से अधिक नहीं हो सकता। केवल राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री की मृत्यु पर ही सारे देश में झण्डे नीचे किए जायेंगे। केन्द्रीय मन्त्री के निधन पर दिल्ली तथा राज्यों की राजधानियों में ही झंडे नीचे किये जायेंगे। लोकसभा के अध्यक्ष तथा सर्वोच्च न्यायलय के मुख्य न्यायाधीश की मृत्यु पर केवल दिल्ली में झंडे नीचे किये जायेंगे। राज्यपाल तथा मुख्यमन्त्री की मृत्यु पर राज्य की राजधानी में झंडे नीचे किये जायेंगे।

सदर्भ

1 बी० शिवाराव तथा अन्य, 'फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कान्स्टिट्यूशन', खण्ड-2, पृष्ठ 667
2 वही,
3 वही, पृष्ठ 482-83
4 वही, खण्ड 4, पृष्ठ 68.
5 के० एम० मुन्शी, संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 8, पृष्ठ 452
6 वही,
7 'संविधान सभा डिबेट्स', खण्ड-8, पृष्ठ 428
8 वही, पृष्ठ 456
9 वही: पृष्ठ 455
10 एच० वी० कामथ, वही, पृष्ठ 429
11 अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, वही, पृष्ठ 432
12 ब्रजेश्वर प्रसाद वही, पृष्ठ 426
13 अल्ला दी कृष्णास्वामी अय्यर, वही, पृष्ठ 431
14 कैनेडा तथा आस्ट्रेलिया में ऐसी प्रथा है।
15 'संविधान सभा डिबेट्स', खण्ड 8, पृष्ठ 431-32
16 वही, पृष्ठ 455
17 बी० आर० अम्बेडकर, वही, पृष्ठ 468.
18 श्रीप्रकाश, 'स्टेट गवरनर्स इन इण्डिया', 1966, पृष्ठ 65
19 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', नवम्बर 5, 1965
20 'दि ट्रिब्यून', जनवरी 31, 1962, पृष्ठ 1.
21 'दि स्टेट्समैन', फरवरी 7, 1972, पृष्ठ 6
22. वही, मार्च 10, 1971, पृष्ठ 7
23. 'लोक सभा डिबेट्स' चौथी शृंखला, वॉल्यूम 1, नवम्बर 1-10, मार्च 18,-1971, कालम 153.
24. श्रीप्रकाश 'स्टेट गवरनर्स इन इन्डिया', वाल्यूम् 1966, पृष्ठ 65

2

मुख्यमन्त्री की नियुक्ति

नियुक्ति के लिए अर्हताएं

संविधान के अनुच्छेद 163 (1) के अनुसार उन कार्यों को छोड़ कर जिनमें राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करता है, राज्यपाल को परामर्श देने के लिए एक मन्त्री-परिषद् होगी जिसका नेतृत्व मुख्यमन्त्री करेगा। अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जायेगी तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमन्त्री के परामर्श से करेगा तथा मन्त्री, राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहेंगे। लेकिन इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर सकता है जो विधान-पालिका का सदस्य न हो? इसका उत्तर यह है कि मुख्यमन्त्री की नियुक्ति के लिए विधानपालिका का सदस्य होना आवश्यक नहीं है।[1] छः महीने के लिए किसी भी व्यक्ति को उस समय भी मुख्यमन्त्री बनाया जा सकता है जब वह विधानपालिका का सदस्य न हो बशर्ते कि विधान-सभा के अधिकतर सदस्य उस के पक्ष में हों। लेकिन वह मुख्यमन्त्री जो विधानपालिका का सदस्य नहीं है, यदि छः महिने से अधिक समय तक पद पर रहना चाहता है तो उसे विधानपालिका का सदस्य बनना पड़ेगा, क्योंकि वह "मन्त्री जो निरन्तर छः महीने तक विधानपालिका का सदस्य न हो, छः महीने के अन्त में मन्त्री नहीं रहेगा।"[2]

लेकिन कुछ राजनीतिशास्त्रवेत्ता ऐसे भी हैं जो इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं क्योंकि उनका विचार यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में ऐसे व्यक्ति को मुख्य-मन्त्री नहीं बनाया जा सकता जो विधानपालिका का सदस्य नहीं है। उदाहरणतया बिहार के एडवोकेट जनरल के परामर्श पर बिहार के राज्यपाल, अनन्थास्यानम अय्यंगर ने बिन्देश्वरी प्रसाद मंडल को, जो मुख्यमन्त्री बनना चाहते थे, एक पत्र में कहा, कि "आप का मुख्यमन्त्री या मन्त्री बनने का जो दावा है उस के सम्बन्ध में मैंने एडवोकेट जनरल का परामर्श लिया है। उसने कहा है कि आप विधानमण्डल के सदस्य बने बिना मन्त्री नहीं बन सकते। इसलिए मैं आपको राज्य में सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं कर सकता।"[3]

संवैधानिक दृष्टि से बिहार के राज्यपाल का यह पत्र बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें कुछेक उन परिस्थितियों की ओर संकेत हैं जिनमें किसी ऐसे व्यक्ति को जो

विधानमण्डल का सदस्य नही है, मन्त्री या मुख्यमन्त्री नियुक्त न करने की बात कही गई है। यह समझ मे आना कठिन है कि एडवोकेट जनरल यह कैसे कह सकता था कि बिन्देश्वरी प्रसाद, विधानमण्डल का सदस्य बने बिना मन्त्री भी नियुक्त नही किया जा सकता, जबकि कुछ ही दिन पहले वह विधानमण्डल का सदस्य न होते हुए भी मन्त्री था। जहाँ तक मन्त्रियों का सबध है इस में कोई सन्देह नही कि छः महीने तक किसी भी व्यक्ति को विधानमण्डल का सदस्य हुए बिना भी मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है और मन्त्री शब्द जिसका प्रयोग अनुच्छेद 163 (3) 164 (1) (5) मे किया गया है इसमे मुख्यमन्त्री भी आ जाता है। इस दृष्टिकोण के न मानने का अर्थ यह होगा कि :

(i) मुख्यमन्त्री राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त (ड्यूरिंग दि प्लेज़र) पद पर नही रहता,

(ii) मुख्यमन्त्री द्वारा दिए गए परामर्श की न्यायालय मे जाच पडताल हो सकती है,

(iii) सविधान मे मुख्यमन्त्री का वेतन निश्चित करने की कोई व्यवस्था नही है, तथा

(iv) मुख्यमन्त्री के लिए विधानमण्डल का सदस्य बनना आवश्यक नहीं होगा और यह शर्त कि उस मन्त्री को त्यागपत्र देना पड़ेगा जो निरन्तर छः महीने तक विधानमण्डल का सदस्य नही है, मुख्यमन्त्री पर लागू नही होगी।

अत मन्त्री शब्द मे, जिस का प्रयोग अनुच्छेद 163 तथा 164 मे किया गया है मुख्यमन्त्री भी आ जाता है। यदि ऐसा नही होता तो मुख्यमन्त्री को उसके पद तथा गोपनीयता की शपथ दिलाने के लिए भी कोई अलग व्यवस्था की जाती। इस समय मुख्यमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों को शपथ दिलाने की एक ही व्यवस्था है। अनुच्छेद 163 तथा 164 मे मन्त्री शब्द का जो प्रयोग किया गया है उस मे मुख्यमन्त्री भी आ जाता है, इस तथ्य को इलाहाबाद उच्च न्यायलय ने भी स्वीकार किया है।[4]

यह प्रश्न कि क्या किसी ऐसे व्यक्ति को मुख्यमन्त्री बनाया जा सकता है जो विधानमण्डल का सदस्य नही है, इलाहाबाद उच्च न्यायालय के सामने उस समय दोबारा उठाया गया जब 1971 मे त्रिभुवन नारायण सिंह को उत्तर प्रदेश का मुख्यमन्त्री बनाया गया। उच्च न्यायालय ने दोबारा याचिका को इस आधार पर रद्द कर दिया कि सविधान में मुख्यमन्त्री या मन्त्री की अर्हताओं के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा गया है। अत राज्यपाल किसी भी व्यक्ति को मुख्यमन्त्री या मन्त्री बना सकता है।[5] इस निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय मे अपील की गई। परन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने भी यह निर्णय दिया, कि मुख्यमन्त्री की नियुक्ति को इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकती कि उसकी नियुक्ति के समय वह विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य होना चाहिये।[6] यहाँ पर इस बात की चर्चा करना आवश्यक है

कि सर्वोच्च न्यायालय ने उपरोक्त निर्णय देते समय संविधान सभा में, इस विषय पर जो वाद-विवाद हुआ था, उसको भी ध्यान में रखा।[7] 1953 में मद्रास उच्च न्यायालय का भी यही निर्णय था।[8]

जब 1953 में मद्रास उच्च न्यायालय ने तथा 1962 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दे दिया था कि कोई भी व्यक्ति विधानमण्डल का सदस्य हुए बिना भी मुख्यमन्त्री नियुक्त किया जा सकता है तो बिहार के एडवोकेट जनरल ने यह परामर्श कैसे दे दिया कि बिन्देश्वरी प्रसाद उस समय तक मुख्यमन्त्री नहीं बन सकता जब तक कि वह विधानमण्डल का सदस्य नहीं बनता। ऐसा प्रतीत होता है कि बिहार के एडवोकेट जनरल ने यह परामर्श इसलिए दिया क्योंकि बिन्देश्वरी प्रसाद विधानमण्डल का सदस्य न होते हुए पहले ही पांच महीने 25 दिन तक मन्त्री रह चुका था और उस समय एडवोकेट जनरल के समक्ष प्रश्न यह था कि जब उसने अनुच्छेद 164 (4) के अधीन मन्त्री पद से एक बार त्यागपत्र दे दिया है तो क्या उसे फिर से, बिना विधानमण्डल का सदस्य बने,मुख्यमन्त्री या मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है अथवा नहीं। इस विषय पर दो प्रकार के दृष्टिकोण हैं जो एक दूसरे के विपरीत हैं। पहला दृष्टिकोण तो यह है कि छः महीने तक विधानमण्डल का सदस्य बने बिना जो व्यक्ति मन्त्री रह लेता है उसे उस समय तक दोबारा मन्त्री नहीं बनाया जाना चाहिए जब तक कि वह विधानमण्डल का सदस्य नहीं बन जाता। इस दृष्टिकोण के राजनीति-शास्त्रवेताओं का यह मत है कि उस व्यक्ति को जो छः महीने तक विधानमण्डल का सदस्य बने बिना मन्त्री रह चुका है, यदि एक बार पद से त्यागपत्र देने के तुरन्त या कुछ समय पश्चात् दोबारा बिना विधानमण्डल का सदस्य बने, मन्त्री बनाया गया तो यह संविधान का उल्लंघन होगा क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि वह व्यक्ति प्रत्येक छः महीने के पश्चात् कुछ दिनों के लिए अपने पद से त्याग-पत्र दे कर, फिर से विधानमण्डल का सदस्य बने बिना, मन्त्री बनता रहेगा। अतः वे कहते हैं कि कोई व्यक्ति यदि छः महीने तक, विधानमण्डल का सदस्य बने बिना, मन्त्री रह जाये तो उसे उस समय तक दोबारा मन्त्री नहीं बनाया जाना चाहिए जब तक कि वह विधान-मण्डल का सदस्य नहीं बन जाता। एम० सी० सीतलवाद का भी यही मत है।[9]

लेकिन कुछेक राजनीतिशास्त्रवेता दूसरे दृष्टिकोण के हैं जो इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका यह विचार है कि छः महीने पूर्व विधानमण्डल का सदस्य बने बिना मन्त्री रहने के पश्चात् यदि वह अपने मन्त्री पद से एक बार त्यागपत्र दे दे तो उसे दोबारा छः महीने तक विधानमण्डल का सदस्य बने बिना मन्त्री बनाया जा सकता है, क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 164 (4) के अनुसार उसे केवल एक बार अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ेगा और जब वह एक बार ऐसा कर देता है तो उसे फिर से मन्त्री नियुक्त करने में कोई संवैधानिक आपत्ति नहीं रह जाती। अशोक सेन भूतपूर्व विधि मन्त्री इस विचार से सहमत हैं।[10] यह दृष्टिकोण अधिक तर्कसंगत मालूम पड़ता है, क्योंकि जब वह एक बार मन्त्री के पद से त्यागपत्र दे देता है तो अनुच्छेद 164 (4)

मे लगाई गई शर्तें पूरी हो जाती है। उदाहरणतया अनुच्छेद 356 (3) के अधीन राष्ट्रपति जब किसी राज्य मे राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा करता है तो यह उद्घोषणा ससद के प्रत्येक सदन के सामने रखी जाती है और यदि इसे दो महीने के भीतर ससद के दोनो सदन प्रस्ताव पास कर के अनुमति नही देते तो वह उद्घोषणा समाप्त हो जाती है। यदि अनुच्छेद 356 के अधीन की गई उद्घोषणा को ससद के पटल पर रखे बिना दो महीने के पश्चात् दोबारा जारी किया जा सकता है तो मन्त्री या मुख्यमन्त्री को भी छ महीने गुजरने पर त्यागपत्र देने के पश्चात् विधानमण्डल का सदस्य बने बिना मन्त्री या मुख्यमन्त्री बनाया जा सकता है।[11] इस दृष्टिकोण के पक्ष मे एक अन्य तर्क यह भी दिया जा सकता है कि अध्यादेश एक बार समाप्त होने के पश्चात् दोबारा भी जारी किए जा सकते हैं। इसलिए हम यह कह सकते है कि जब मन्त्री एक बार अपने पद से त्यागपत्र दे देता है तो उसे विधानमण्डल का सदस्य बने बिना भी दोबारा छ महीने तक मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है।

अनुच्छेद 164 (4) मे जिन शब्दो का प्रयोग किया गया है वे भी इस तर्क की पुष्टि करते हैं। इस अनुच्छेद के अनुसार जो व्यक्ति निरन्तर छ महीने तक विधानमण्डल का सदस्य हुए बिना मन्त्री रहता है, यदि वह इस अवधि मे विधानमण्डल का सदस्य नही बनता तो उसे त्यागपत्र देना पडेगा। इस अनुच्छेद मे इस विषय पर कही भी यह चर्चा नही की गई है कि विधानमण्डल का सदस्य हुए बिना जो व्यक्ति छ महीने तक मन्त्री रह जाता है वह एक बार त्यागपत्र देने के पश्चात् कितनी अवधि तक दोबारा मन्त्री नियुक्त नही किया जा सकता। क्या उसे मन्त्री पद से त्यागपत्र देने के दो वर्ष के पश्चात् भी दोबारा उस समय तक मन्त्री नही बनाया जा सकता जब तक वह विधानमण्डल का सदस्य नही बन जाता। अत सवैधानिक दृष्टि से ऐसे व्यक्ति को जो विधानमण्डल का सदस्य हुए बिना, छ महीने तक मन्त्री रह चुका हो, विधानमण्डल का सदस्य न होते हुए भी दोबारा मन्त्री या मुख्यमन्त्री बनाया जा सकता है, और बिहार के एडवोकेट जनरल का यह परामर्श उचित नही मालूम पडता कि विन्देशवरी प्रसाद को विधानमण्डल का सदस्य बने बिना इसलिए मुख्यमन्त्री नही बनाया जा सकता क्योकि वह पाच महीने 25 दिन तक विधानमण्डल का सदस्य न होते हुए मन्त्री रह चुका है।

लेकिन साधारणतया यह आशा की जाती है कि मुख्यमन्त्री विधानमण्डल का सदस्य होना चाहिए। राष्ट्रपति ने राज्यपालो की जो समिति नियुक्त की थी, उसने भी यह सिफारिश की है कि उन व्यक्तियो को जो विधानमण्डल के सदस्य नही हैं अथवा विधानमण्डल के मनोनीत सदस्य है, मुख्यमन्त्री नियुक्त नही किया जाना चाहिए।[12] लेकिन केन्द्रीय सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार नही किया क्योकि इस रिपोर्ट के पश्चात् मैसूर, गुजरात, उडीसा, मध्यप्रदेश तथा पश्चिमी बगाल मे ऐसे व्यक्तियो को मुख्यमन्त्री बनाया गया जो विधानमण्डल के सदस्य नही थे।

मुख्यमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध मे ऐसे भी उदाहरण है जबकि राज्यपाल ने बिना किसी की सिफारिश के, एक व्यक्ति को विधान परिषद का सदस्य मनोनीत

किया तथा फिर उसे मुख्यमन्त्री बना दिया। उदाहरणतया मद्रास में 1952 में श्रीप्रकाश ने, जो उस समय वहाँ के राज्यपाल थे, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को पहले तो बिना किसी की सिफारिश के विधानपरिषद् का सदस्य मनोनीत किया तथा फिर उसे मुख्यमन्त्री बना दिया।[13] इस प्रकार से कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ पर विधानपरिषद् के सदस्यों को मुख्यमन्त्री नियुक्त किया गया है, जैसे बिहार में विन्देश्वरी प्रसाद। उत्तरप्रदेश में चन्द्रभानु गुप्त ने मुख्यमन्त्री होते हुए अपने आप को विधानपरिषद् का सदस्य मनोनीत करवाया था।[14] मनोनीत सदस्यों को मुख्यमन्त्री बनाये जाने के संबंध मे भूतपूर्व राज्यपाल श्रीप्रकाश ने लिखा है कि यह आवश्यक नहीं कि मुख्यमन्त्री विधान-सभा का ही सदस्य हो। वह विधानपरिषद् का भी सदस्य हो सकता है और इस सम्बन्ध में हमें ब्रिटिश परम्परा पर चलने की आवश्यकता नहीं।[15] लेकिन कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जिनका विचार यह है कि विधानपरिषद् के मनोनीत सदस्यों की बात तो छोड़िये, विधानपरिषद् के निर्वाचित सदस्यों को भी मुख्यमन्त्री नहीं बनाया जाना चाहिये। इसीलिए हरिविष्णु कामथ ने लोकसभा में यह विधेयक पेश किया कि प्रधानमन्त्री लोकसभा का और मुख्यमन्त्री विधान-सभा का सदस्य होना चाहिये लेकिन इस बिल को रद्द कर दिया गया।[16] अब यह व्यवस्था संविधान में किए जाने वाले बत्तीसवें संशोधन सम्बन्धी बिल में की गई है जो सरकार ने 16 मई, 1973 को संसद में पेश किया था।[17]

विधान-सभा में एक दल का बहुमत तथा मुख्यमंत्री की नियुक्ति

राज्यपाल चुनाव के तुरन्त पश्चात् या मुख्यमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास होने या उसकी सम्भावना होने के कारण त्यागपत्र दे देने के पश्चात् मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है। वह मुख्यमन्त्री की नियुक्ति उस समय भी करता है जब मुख्यमन्त्री अपने पद से स्वास्थ्य खराब होने के कारण त्यागपत्र दे देता है। उसकी मृत्यु हो जाने के कारण या राज्यपाल द्वारा उसे पदच्युत किए जाने के कारण उसका स्थान खाली होने पर भी वह उसकी नियुक्ति करता है। चुनाव के तुरन्त पश्चात् यदि विधान-सभा में एक ही राजनैतिक दल का स्पष्ट बहुमत हो तो उस समय राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति में बहुत हस्तक्षेप नही कर सकता, क्योंकि उसे बहुमत के नेता को ही मुख्यमन्त्री बनाना पड़ेगा।

विधान-सभा में किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत न होने पर मुख्यमन्त्री की नियुक्ति

बहुमत मालूम करने का सिद्धान्त : लेकिन जब विधान-सभा में किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत न हो तो उस समय मुख्यमन्त्री की नियुक्ति में राज्यपाल का महत्वपूर्ण भाग होता है। ऐसी राजनैतिक परिस्थिति में भिन्न-भिन्न राज्यों के राज्यपालों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की नीतियां अपनाई हैं। ये नीतियां प्रायः दो प्रकार की हैं। कुछ राज्यपालों ने तो ऐसी राजनैतिक परिस्थितियों में मुख्यमन्त्री नियुक्त

करने से पहले मुख्यमन्त्री पद के उम्मीदवारों के समर्थकों का अनुमान लगाने की नीति अपनाई और जिस उम्मीदवार के विधान-सभा में अधिक समर्थक थे उसे मुख्यमन्त्री बनाया। इसके विपरीत कुछ राज्यपालों ने विधान सभा में सब से बड़े दल के नेता को मुख्यमन्त्री बनाया और उन्होंने उसके विधान-सभा में समर्थकों की संख्या मालूम करने का कष्ट नहीं किया। राज्यपालों की समिति ने भी जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति ने नवम्बर 1970 में की थी, यह सिफारिश की कि राज्यपाल का मुख्यमन्त्री की नियुक्ति से पहले यह जांच-पड़ताल करनी चाहिये कि विधान-सभा में बहुमत किस का है और उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह विधान-सभा में सबसे बड़े दल के नेता को ही मुख्यमन्त्री बनाये।[18] 1967 के चुनाव के पश्चात् पश्चिमी बंगाल तथा बिहार में वास्तव में ऐसा किया भी गया था। इन प्रान्तों में हालांकि कांग्रेस दल विधान-सभा में सबसे बड़ा दल था लेकिन फिर भी उस दल के नेताओं को इन प्रान्तों में सरकारें बनाने के लिए आमन्त्रित नहीं किया गया। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि इन राज्यों में विपक्ष अधिक संगठित था इसलिए कांग्रेस सरकार बन नहीं सकती थी, अन्यथा वहां पर उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान की तरह कांग्रेस सरकारें बनाने की संभावना हो सकती थी।

राज्यपालों की समिति ने तो यहां तक सिफारिश की है कि राज्यपाल अल्पमत के नेता को भी मुख्यमन्त्री नियुक्त कर सकता है, बशर्ते कि उसे यह आशा हो कि उस नेता को उसकी नीतियों के लिए विधान-सभा का समर्थन मिल जायेगा।[19] इस दृष्टिकोण का समर्थन मेहरचन्द महाजन ने भी किया है जो भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश थे। उन्होंने कहा था कि राज्यपाल द्वारा उस व्यक्ति को मुख्यमन्त्री बनाया जाना चाहिये जो स्थायी सरकार बना सके। राज्यपाल विधान-सभा में सबसे बड़े दल के नेता को मुख्यमन्त्री बनाने के लिए बाध्य नहीं है।[20] एच० एम० सीरवई, महाराष्ट्र के एडवोकेट जनरल,[21] एम०सी० सीतलवाद, भूतपूर्व अटार्नी जनरल[22], ए० के० सरकार, सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश[23] भी इस दृष्टिकोण से सहमत हैं।

बहुमत जांच-पड़ताल करने की पद्धति

विधान-सभा में बहुमत मालूम करने के अनेक ढंग हैं और भिन्न-भिन्न राज्यों में राज्यपालों ने भिन्न-भिन्न पद्धतियां अपनाई हैं। ये पद्धतियां साधारणतया तीन प्रकार की हैं जो निम्नलिखित हैं

(i) सूची पद्धति
(ii) परेड पद्धति
(iii) सूची तथा परेड पद्धति

बिहार में 29 जून, 1968 को राष्ट्रपति शासन लागू करने के पश्चात् जब मध्यावधि चुनाव हुए तो उस समय विधान-सभा में किसी भी राजनैतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ, लेकिन कांग्रेस की संख्या अन्य दलों की तुलना में सब से अधिक

थी।[24] कांग्रेस पार्टी के नेता सरदार हरिहर सिंह तथा संविद (समाजवादी सोशलिस्ट पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी और लोकतांत्रिक कांग्रेस) के नेता ने मुख्यमन्त्री बनने का दावा किया, तथा अपने-अपने समर्थकों की सूची राज्यपाल को दी। इन सूचियों में कुछ नाम ऐसे भी थे जो दोनों सूचियों में पाये जाते थे। लेकिन राज्यपाल ने इसकी जांच-पड़ताल किए बिना कांग्रेस पार्टी के नेता सरदार हरिहरसिंह को मुख्यमन्त्री बना दिया।[25] यह उदाहरण सूची-पद्धति का है, क्योंकि यहां पर बहुमत का निर्णय केवल सूचियों के आधार पर किया गया। इसी प्रकार से अप्रैल 1971, में गुजरात के राज्यपाल श्रीमन्नारायण ने बहुमत की जांच-पड़ताल करने के संबंध में कहा कि वह इस संबंध में विधान-सभा के सदस्यों की अपने सामने परेड नहीं करायेंगे, बल्कि वह सदस्यों की उस सूची पर विश्वास करेंगे जो अध्यक्ष (स्पीकर) द्वारा उन्हें दी जायेगी।[26] इसके पश्चात् उन्होंने हितेन्द्र देसाई को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। हितेन्द्र देसाई के विधान-सभा में बहुमत के संबंध में राज्यपाल ने कहा, कि "उसने हितेन्द्र देसाई द्वारा दी गई सूची पर बड़े ध्यानपूर्वक विचार किया है। संगठन कांग्रेस के 81 विधान-सभा के सदस्यों की सूची का अध्यक्ष ने अनुमोदन किया है और जनसंघ के एक तथा स्वतन्त्र पार्टी के 10 विधान-सभा के सदस्यों ने लिखित रूप से उसका समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त एक निर्दलीय सदस्य ने भी समर्थन देने का आश्वासन दिया है। इस प्रकार विधान-सभा के कुल 164 सदस्यों में से 93 सदस्य, देसाई के साथ हैं। इस आधार पर देसाई को राज्य में सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया है।"[27] सूची पद्धति का यह दूसरा उदाहरण है।

उत्तरप्रदेश में भी 1967 के चुनाव के पश्चात् विधान-सभा में किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत नहीं था।[28] कांग्रेस पार्टी के नेता चन्द्रभानु गुप्त तथा संयुक्त विधायक दल के नेता रामचन्द्र विकल दोनों ने विधान-सभा में बहुमत का दावा किया[29] तथा राज्यपाल के सामने समस्या यह थी कि ऐसी परिस्थिति में मुख्यमन्त्री किसे बनाया जाये। राज्यपाल ने सोच विचार करने के पश्चात् चन्द्रभानु गुप्त को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया और इसे न्यायोचित बतलाते हुए राज्यपाल विश्वनाथ दास ने कहा कि संयुक्त विधायक दल के नेता ने यह दावा किया था कि 37 निर्दलीय सदस्यों में से 27 सदस्य उसके साथ हैं, और कांग्रेस के नेता चन्द्रभानु गुप्त ने यह दावा किया था कि उनमें से 19 निर्दलीय सदस्य उनके साथ हैं। दोनों पक्षों का इस संबंध में जो दावा था उसका निर्णय उसने कैसे किया, इसका स्पष्टीकरण देते हुए उसने कहा कि पहले तो उसने उन तीन सदस्यों के लिखित बयानों को मान लिया जो कांग्रेस के समर्थक थे और जिनके बारे में संयुक्त विधायक दल ने समर्थन का दावा नहीं किया था। इसके पश्चात् दोनों दलों के निर्वाचित नेताओं को यह कहा गया कि वे उन सदस्यों को पेश करें जिनके नाम दोनों सूचियों में हैं। उनमें से 13 सदस्य उसके सामने पेश हुए और उन्होंने कांग्रेस के समर्थन का विश्वास दिलाया। इन 16 समर्थकों के साथ कांग्रेस की संख्या 214 हो गई और इससे कांग्रेस का विधानसभा में बहुमत हो गया। अन्य दलों

के पांच सदस्यों में से, जिन के समर्थन का कांग्रेस ने दावा किया था, तीन उनके सामने पेश हुए और उन्होंने भी कांग्रेस के समर्थन का विश्वास दिलाया। चौथे ने मौखिक रूप से तो कांग्रेस के समर्थन का विश्वास दिलाया, परन्तु लिखित रूप में समर्थन देने से इन्कार कर दिया। इसके अतिरिक्त एक निर्दलीय तथा मनोनीत ऐंग्लो इण्डियन ने भी कांग्रेस के पक्ष में लिखित रूप से सहयोग दिया। राज्यपाल ने आगे चल कर कहा कि रामचन्द्र विकल को अनेक बार निर्दलीय सदस्यों को पेश करने का अवसर दिया गया लेकिन वे ऐसा करने मे विफल रहे।[30]

इसी प्रकार 1967 मे जब चुनाव हुआ तो राजस्थान विधान-सभा मे भी किसी एक दल को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ।[31] कांग्रेस के नेता मोहनलाल सुखाडिया तथा संयुक्त दल के नेता महारावल लक्ष्मणसिंह दोनों ने, विधान-सभा में बहुमत का दावा किया। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने, जो उस समय वहाँ के राज्यपाल थे, विधान-सभा के उन 21 सदस्यों का साक्षात्कार किया जिनके नाम दोनों सूचियों में थे। तत्पश्चात् राज्यपाल ने मोहनलाल सुखाडिया को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया और अपना निर्णय देते हुए राज्यपाल ने कहा कि उसने उन 15 विधान-सभा के सदस्यों को नहीं गिना जो निर्दलीय हैं क्योंकि उनकी न तो कोई नीति है और न ही उनकी कोई पार्टी ही है।[32] इस प्रकार उ० प्र० तथा राजस्थान के राज्यपालों ने सूची तथा साक्षात्कार पद्धति का प्रयोग किया। लेकिन इन दोनों की समानता का अन्त यहीं पर हो जाता है क्योंकि बहुमत की जाच-पडताल करते समय उ० प्र० के राज्यपाल ने तो निर्दलीय सदस्यों को ध्यान मे रखा परन्तु राजस्थान के राज्यपाल ने उनको कोई महत्त्व नहीं दिया जैसे कि उनकी उपस्थिति का विधान-सभा मे कोई प्रभाव ही न हो। इससे ऐसा लगता है जैसे राजस्थान के राज्यपाल कांग्रेस पार्टी का पक्ष लेना चाहते थे, जिसका वास्तव में उस समय विधान-सभा मे बहुमत सन्देहजनक था। यह तथ्य इस बात से सिद्ध हो जाता है कि विपक्ष ने विधानसभा के आधे से अधिक सदस्यों को राष्ट्रपति के सामने पेश किया था।[33] इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि बहुमत का अनुमान लगाते समय राज्यपाल किसी भी दल के प्रति पक्षपात कर सकता है और मुख्यमन्त्री की नियुक्ति में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

जब सम्पूर्णानन्द के पश्चात् सरदार हुकमसिंह राजस्थान के राज्यपाल नियुक्त हुए तो उन्होंने भी बहुमत का अनुमान लगाने के लिए इसी पद्धति का प्रयोग किया। मोहनलाल सुखाडिया तथा महारावल लक्ष्मणसिंह द्वारा जो सूचियां दी गई थी, उन में से 21 नाम ऐसे थे जो दोनों सूचियों मे थे। राज्यपाल ने उनका साक्षात्कार किया।[34] इसी प्रकार मार्च 1970 में पश्चिमी बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल शान्तिस्वरूप धवन ने भी सूची तथा साक्षात्कार की मिली जुली पद्धति का प्रयोग किया।[35]

इस के अतिरिक्त कुछ राज्यपाल ऐसे भी हुए है जो केवल परेड पद्धति में विश्वास रखते थे। उदाहरणतया, फरवरी 1969 में पंजाब के राज्यपाल डी०सी० पावते ने कहा कि वह उस दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करेंगे जो

बहुमत का दावा करता है। लेकिन ऐसा करने से पहले वह उनकी गिनती अवश्य ही करना चाहेंगे।[36]

कुछ राज्यपाल अवश्य ही ऐसे हुए हैं जो विधान-सभा के सदस्यों की इस प्रकार से परेड करने या उनका साक्षात्कार करने की पद्धति के विरुद्ध थे। उदाहरणतया कानपुर में वक्तव्य देते हुए उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने कहा कि वह उस दल के नेता के बहुमत पर विश्वास करेंगे जो 213 सदस्यों की सूची दे सकेगा। यदि किसी ने उस सूची को चुनौती दी तो उसकी छानबीन करने में वह अपने विवेक का प्रयोग करेंगे और यदि उन्हें एक बार यह विश्वास हो गया कि चुनौती केवल अड़चन डालने के लिए ही दी गई है तो वे उसकी परवाह नहीं करेंगे।[37] उन्होंने आगे चल कर यह भी कहा कि सदस्यों की परेड कराने की कोई आवश्यकता नहीं।[38] उन्होंने तो यहाँ तक भी कह दिया कि "बहुमत जानने के लिए सदन से बाहर सदस्यों की गिनती करना राज्यपाल का काम नहीं है।"[39] इसी प्रकार 1969 में राष्ट्रपति शासन लागू करने के पश्चात् जब बिहार में चुनाव हुए तो वहाँ पर किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत नहीं आया। कांग्रेस तथा विपक्ष दोनों ने ही बहुमत का दावा किया। उस समय के राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो से जब यह पूछा गया कि क्या वे उन सदस्यों को अपने सामने बुलायेंगे जिन का नाम दोनों सूचियों में है तो उन्होंने उत्तर दिया कि कदापि नहीं।[40] के० सन्यानम का कहना है कि सदस्यों के हस्ताक्षर लेने तथा उन की राज्यपाल के सामने परेड कराने की पद्धति बहुत भद्दी तथा आपत्तिजनक है।[41] इस प्रकार से यह सिद्ध हो जाता है कि बहुमत का अनुमान लगाने के लिए राज्यपालों ने भिन्न-भिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है।

बहुमत की जाँच-पड़ताल न करने का सिद्धान्त

दूसरे दृष्टिकोण के लोगों का यह विचार है कि चुनाव के तुरन्त पश्चात् यदि किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत न हो तो राज्यपाल द्वारा विधान-सभा में सबसे बड़े दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना चाहिए और उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह यह मालूम करे कि बहुमत किसका है। उदाहरणतया आसम, मद्रास तथा बम्बई के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीप्रकाश का यह विचार है कि ऐसी राजनैतिक परिस्थितियों में राज्यपाल के लिए ऐसा करना न केवल उचित ही है बल्कि उसका यह कर्त्तव्य भी है।[42] 1952 में जब वह मद्रास के राज्यपाल थे तो उस समय उन्होंने राजा जी को सरकार बनाने के लिए इसलिए आमंत्रित किया था क्योंकि विधान-सभा में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या दूसरे दलों की अपेक्षा सबसे अधिक थी। 321 सदस्यों वाले सदन में उनकी संख्या 155 थी। जब सभी विपक्षी दल, जिनके सदस्यों की संख्या 166 थी, मिल कर राज्यपाल के पास गये तो राज्यपाल ने कहा कि वे उस दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करेंगे जिसके सदस्यों की विधान-सभा में सब से अधिक संख्या है, चाहे उसका विधान-सभा में बहुमत हो या न हो। उन्होंने यह भी कहा कि वे दलों के किसी ऐसे संगठन को नहीं मानेंगे जो चुनाव

के पश्चात् बनाया गया हो।[43] इसी प्रकार से बिहार मे बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल के मन्त्रीमण्डल द्वारा त्यागपत्र देने के पश्चात् कांग्रेस पार्टी के नेता महेशप्रसाद सिन्हा का सरकार बनाने के लिए इसीलिए आमंत्रित किया गया क्योंकि विधान-सभा मे उसके दल की संख्या और दलों की अपेक्षा अधिक थी। जब उसने सरकार बनाने से इन्कार कर दिया तो उस समय भोला पासवान शास्त्री को मुख्यमन्त्री नियुक्त किया गया।[44]

श्रीप्रकाश का यह विचार जिसे हम *श्रीप्रकाश सिद्धांत* भी कह सकते हैं, बिल्कुल ठीक मालूम पडता है। के० सुब्बाराव सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश का भी यही दृष्टिकोण है।[45] वास्तविकता तो यह है कि केवल इस सिद्धांत का अनुसरण करने मे ही मुख्यमन्त्री की नियुक्ति मे राज्यपाल का जो अनुचित हस्तक्षेप है उससे बचा जा सकता है। लेकिन यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि विधान-सभा मे सबसे बडे दल के नेता को मुख्यमन्त्री पद के लिए आमन्त्रित करने की प्रथा को 1967 से पहले केवल उन राज्यों मे लागू किया गया जहाँ कांग्रेस दल सबसे बडा था[46] और उन राज्यों मे इस सिद्धांत का अनुसरण नही किया गया जहाँ पर गैर-कांग्रेसी दल सबसे बडे थे।[47] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 1967 के पश्चात् इस प्रथा मे कुछ परिवर्तन आ गया है, क्योंकि 1967 के पश्चात् जब कभी भी कांग्रेस पार्टी के सदस्यों की संख्या अन्य दलों की तुलना मे अधिक थी तो उसके नेता को उस आधार पर सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नही किया गया। ऐसा करने से पहले राज्यपालों ने यह जाच पडताल की कि क्या वहाँ पर सबसे बडे दल का नेता स्थायी सरकार बना सकता है ? यदि राज्यपाल इस परिणाम पर पहुचे कि ऐसा करना संभव नही तो उन्होंने विधान-सभा मे सबसे बडे दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करने से इन्कार कर दिया।[48] लेकिन यहाँ पर इस बात की चर्चा भी आवश्यक है कि स्थायी सरकार बनाने के सम्बन्ध मे अनुमान लगाने के लिए जो कसौटी अपनायी गई है, वह भिन्न-भिन्न राज्यों मे भिन्न-भिन्न है। उदाहरणतया, पश्चिमी बगाल मे 16 मार्च 1970 को जब अजय मुकर्जी की सरकार ने त्यागपत्र दिया तो मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता ने राज्यपाल से प्रार्थना की कि उन्हे सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाना चाहिये। लेकिन राज्यपाल ने ज्योति बसु से उनके समर्थकों की सूची मांगी ताकि वे उनका साक्षात्कार कर सकें। ज्योति बसु इस के लिए तैयार नही थे। उन्होंने कहा कि वे विधान-सभा मे अपने बहुमत का प्रमाण दे देंगे जिसे राज्यपाल ने मानने से इन्कार कर दिया और कहा कि जब तक मार्क्सवादी सरकार की नियुक्ति के विरुद्ध विपक्ष द्वारा दिए गए तर्कों का खण्डन नही कर दिया जाता उन्हे सरकार बनाने का अवसर नही दिया जा सकता। इसके पश्चात वहाँ पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। लेकिन 1967 मे राजस्थान के राज्यपाल ने जो सरकार बनाने के सम्बन्ध मे नीति अपनाई थी, वह इससे बिल्कुल भिन्न थी। वहाँ पर संयुक्त विधायक दल ने 183 मे से 95 सदस्यों की सूची पेश कर के जिन्हे कुछ समय पश्चात् राष्ट्रपति के सामने भी पेश किया गया, गैर कांग्रेसी सरकार की स्थापना की माग की।

वहाँ पर राज्यपाल ने कांग्रेस के नेता मोहनलाल सुखाड़िया को पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल के समान यह नहीं कहा कि वे संयुक्त विधायक दल द्वारा गैर-कांग्रेसी सरकार के पक्ष में जो सबूत दिया गया है, उसका खंडन करें। यह कार्य राज्यपाल ने निर्दलीय सदस्यों की उपेक्षा करके स्वयं ही कर दिया जैसे कि उनकी उपस्थिति का विधान-सभा में सरकार के बनाने पर कोई प्रभाव ही नहीं था। यह खेद की बात है कि राज्यपाल ने संयुक्त विधायक दल के नेता महारावल लक्ष्मण सिंह को, मोहनलाल सुखाड़िया द्वारा सरकार बनाने से इन्कार करने के पश्चात् भी, सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया और वहाँ पर राष्ट्रपति शासन लागू करने तथा विधान-सभा भंग करने की सिफारिश की। राज्यपाल की सिफारिश पर राष्ट्रपति शासन तो लागू कर दिया गया लेकिन विधान-सभा को भंग न करके केवल निलम्बित कर दिया गया इस प्रकार जहाँ पर पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल द्वारा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता से उस के समर्थकों की सूची मांगी गई ताकि उन का साक्षात्कार किया जा सके, राजस्थान में इस से बिल्कुल उल्ट किया गया। वहाँ पर विपक्ष ने अपने समर्थकों की सूची दी तथा वे साक्षात्कार के लिए भी तैयार थे, लेकिन फिर भी मोहनलाल सुखाड़िया को मुख्यमन्त्री बनाने के लिए आमंत्रित किया गया और जब उन्होंने इन्कार कर दिया तो राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर दी गई। यह कहना अनुचित न होगा कि चुनाव के तुरन्त पश्चात् राष्ट्रपति शासन इस आधार पर लागू करना कि वहाँ पर स्थायी सरकार नहीं बन सकती प्रजातन्त्र के हित में नहीं है, विशेषकर उस समय जब विधान-सभा में सब से बड़ा दल या वह संयुक्त विधायक दल जो चुनाव से पहले बनाया गया हो, सरकार बनाने के लिए तैयार हो। 1965 में केरल में राष्ट्रपति शासन के दोबारा लागू किए जाने पर कांग्रेस के एक महारथी आर० के० खादीलकर ने कहा था कि ऐसा करना संविधान का उल्लंघन है क्योंकि जनता के प्रतिनिधियों को सरकार बनाने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिये।[49]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ राजनैतिक परिस्थितियों में विधान-सभा में सब से बड़े दल के नेता के सरकार बनाने से संबंधित दावे की उपेक्षा की जा सकती है। उदाहरणतया यह तब किया जा सकता है जब चुनाव से पहले कुछ दल मिलकर एक संयुक्त मोर्चे का गठन कर लें और यदि चुनाव में उस संयुक्त मोर्चे का विधान-सभा में बहुमत आ जाये तो उस समय ऐसा किया जा सकता है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त की गई राज्यपालों की समिति भी इस दृष्टिकोण से सहमत है।[50] इस प्रकार के मोर्चे का संगठन 1960 में केरल में गैर-साम्यवादी दलों[51] ने तथा 1967 में गैर-कांग्रेसी दलों ने किया था। 1967 में जब गैर-कांग्रेसी दलों के मोर्चे को विधान-सभा में बहुमत प्राप्त हुआ तो राज्यपाल ने उसके नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।[52] 1968 में पश्चिमी बंगाल में भी गैर-कांग्रेसी दलों ने ऐसा ही संयुक्त मोर्चा बनाया और जब मध्यावधि चुनाव सम्पन्न हुए तो विधान-सभा में उन्हें बहुमत मिला। इसलिए उनके नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया, हालांकि कांग्रेस पार्टी के

सदस्यो की सरया प्रत्येक दल की अपेक्षा अधिक थी। केन्द्रीय सरकार का भी यही विचार था कि चुनाव से पहले कुछ दल मिल कर सयुक्त मोर्चा बना लें और यदि उस मोर्चे का विधान-सभा मे बहुमत आ जाये तो उसके नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाना चाहिए।[53]

परन्तु प्रश्न यह है कि चुनाव से पहले बनाये गए इस प्रकार के सयुक्त मोर्चे को विधान-सभा मे बहुमत न मिले और उस के सदस्यों की सरया अन्य दलों के मुकाबले मे अधिक हो तो उस स्थिति मे किसको मुख्यमन्त्री बनाया जाये ? ऐसी परिस्थिति मे सयुक्त मोर्चे के नेता को इस आधार पर मुख्यमन्त्री नियुक्त किया जाना चाहिए कि उस मोर्चे के सदस्यो की सख्या अन्य दलो की अपेक्षा अधिक है। 1971 मे इस प्रकार की स्थिति पश्चिमी बगाल मे थी। वहा पर 30 मार्च 1970 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था और उसके पश्चात् मार्च 1971, मे जो मध्यावधि चुनाव हुए उनमे सयुक्त वामपक्षी मोर्चे को विधान-सभा मे 123 स्थान प्राप्त हुए थे। इस मोर्चे के सदस्यो की सरया विधान-सभा मे अन्य दलो की अपेक्षा सब से अधिक थी। इस आधार पर ज्योति बसु ने राज्यपाल को एक ही पत्र लिखा जिसमें यह माग की गई थी कि विधान-सभा मे सब से बडे दल का नेता होने के कारण उसे सरकार बनाने का अवसर दिया जाना चाहिये। राज्यपाल ने इस पत्र के उत्तर मे कहा कि विधान-सभा मे सबसे बडे दल के नेता को सरकार बनाने का अवसर उन राज्यो मे तो दिया जा सकता है जहाँ पर राष्ट्रपति शासन लागू न हो। लेकिन उस राज्य मे जहाँ राष्ट्रपति का शासन हो और जहाँ पर विपक्ष राज्यपाल को यह लिखे कि सबसे बडे दल के नेता का विधान-सभा मे बहुमत नही है वहाँ पर पूरी तरह से जाँच किए बिना राष्ट्रपति शासन को समाप्त करने की सिफारिश करना राज्यपाल के लिए उचित नही होगा।[54]

राज्यपाल ने ज्योति बसु को यह भी लिखा, कि "राष्ट्रपति शासन के दौरान राज्यपाल को यह अधिकार नही है कि वह किसी दल या गुट को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करे। वह राष्ट्रपति शासन को समाप्त करने की सिफारिश केवल तब ही कर सकता है जब वह राष्ट्रपति को यह रिपोर्ट देने की स्थिति मे हो कि राज्य का शासन सविधान के अनुसार चलाया जा सकता है। लेकिन जब विपक्ष वाले, जिन की सरया उस वामपक्षी मोर्चे के सदस्यों से अधिक है, जिस का आप नेतृत्व कर रहे हैं, राज्यपाल को यह लिख दें कि वामपक्षी मोर्चे की सरकार नही बनानी चाहिये तो उस स्थिति मे राज्यपाल राष्ट्रपति को राष्ट्रपति शासन समाप्त करने के लिए कैसे लिख सकते हैं।"[55] स्थिति का अनुमान लगाने के पश्चात् राज्यपाल ने प्रजातान्त्रिक सगठन (डैमोक्रैटिक कोलिशन) के नेता अजय मुकर्जी को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया। इस सगठन मे काग्रेस, मुस्लिम लीग, बगला काग्रेस, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी तथा कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे।[56] इस प्रकार राज्यपाल ने सब से बडे फ्रन्ट के नेता के दावे को रद्द कर दिया। यह फ्रन्ट चुनाव से पहले बनाया गया था। यह बात आश्चर्य-

जनक है कि राज्यपाल चुनाव से पहले बनाये जाने वाले मोर्चों या संगठनों के उस नेता के द्वारा सरकार बनाने के पक्ष में है जो चुनाव से पहले बनाये गए हों, लेकिन केवल उन राज्यों में जहां राष्ट्रपति शासन नहीं है। यह समझना कठिन है कि चुनाव के पश्चात् मुख्यमन्त्री नियुक्त किए जाने के संबंध में उन राज्यों में जहां राष्ट्रपति शासन है और जहां राष्ट्रपति शासन नहीं है, राज्यपाल की स्थिति में क्या भिन्नता है ?

इसके अतिरिक्त एक अन्य अवसर पर भी जिसकी चर्चा भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश मेहरचन्द महाजन ने की है, विधान-सभा में सबसे बड़े दल के नेता को सरकार बनाने के अवसर से वंचित किया जा सकता है। उदाहरणतया मेहरचन्द महाजन का कहना है कि यदि सत्तारूढ़ दल को चुनाव में बहुमत नहीं मिलता तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल को चाहिये कि वह विपक्ष को सरकार बनाने का अवसर दे।[57] एम० सी० सीतलवाद का भी यही विचार है।[58]

लेकिन सर्वोच्च न्यायालय के एक अन्य भूतपूर्व न्यायाधीश ए० के० सरकार इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। वे इस तथ्य को मानने के लिए तैयार नहीं कि विधान-सभा में सब से बड़े दल के नेता को इसलिए सरकार बनाने की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि चुनाव से पहले उस दल की सरकार थी। यदि ऐसा दल निर्दलीय सदस्यों का समर्थन प्राप्त कर ले और उनके समर्थन के पश्चात् यदि उस दल को विधान-सभा में बहुमत प्राप्त हो जाये तो उस दल के नेता को सरकार बनाने का अवसर देना उचित होगा।[59] अतः ए०के० सरकार के अनुसार सबसे बड़े दल के नेता को उस समय तक वंचित नहीं किया जाना चाहिये जब तक वह स्वयं इन्कार न कर दे। 1967 में इस सिद्धांत का अनुसरण पंजाब में किया गया। कांग्रेस पार्टी जिस के सदस्यों की संख्या 104 में से 48 थी विधान-सभा में सबसे बड़ी पार्टी थी। इस के नेता सरदार ज्ञान सिंह राड़ेवाला को सरकार बनाने का अवसर दिया गया और जब उसने सरकार बनाने से इन्कार कर दिया तब विपक्ष को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया गया।[60] उत्तर प्रदेश में विश्वनाथ दास[61] ने, राजस्थान में सम्पूर्णानन्द[62] ने भी 1967 में ऐसा ही किया था। लेकिन ऐसा करने से वहां पर राज्यपालों ने निर्दलीय सदस्यों के संबंध में जांच पड़ताल की थी। राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के राज्यपालों की ज्योतिषियों के समान अनुमान लगाने की यह प्रक्रिया बहुत ही खतरनाक है। राज्यपाल का संवैधानिक कर्त्तव्य जांच पड़ताल करना नहीं, अपितु सब से बड़े दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना है। यदि राज्यों में राज्यपाल तथा केन्द्र में राष्ट्रपति यह निर्णय करे कि कोई दल सरकार बनाने की स्थिति में है या नहीं तो भारतवर्ष में प्रजातन्त्र का भविष्य अवश्य ही धूमिल है।[63] इस दृष्टिकोण को मानते हुए, के० सन्थानम ने कहा है कि संविधान में यह कहीं भी नहीं लिखा है कि मुख्यमन्त्री की नियुक्ति से पहले वह यह देखे कि उस का बहुमत है या नहीं। यदि उसका बहुमत है तो यह सोने पर सुहागे के समान है।

होगा। लेकिन समर्थको को राज्यपाल के सामने पेश करना या उनके हस्ताक्षरो की सूची देना मूर्खतापूर्ण तथा अपमानजनक है।[64]

ऐसा इसलिए नही किया जाना चाहिये क्योंकि यदि ऐसा किया गया तो बहुदलीय पद्धति मे, जो भारत मे है, इस का दुरुपयोग हो सकता है। यदि सब से बड़े दल के नेता को मुख्यमन्त्री बनाने के सिद्धात को नही माना जाता तो राज्यपाल को मुख्यमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति मे हस्तक्षेप का अवसर मिल जायेगा। यह भी हो सकता है कि वह मन्त्रिमडल की नीतिया को भी प्रभावित करने का प्रयत्न करे। वास्तव मे विधानचन्द्र राय की मृत्यु के पश्चात् पश्चिमी बगाल मे राज्यपाल ने ऐसा करने का प्रयत्न किया था क्योंकि उसने मुख्यमन्त्री के माध्यम से मन्त्रिमडल को एक सन्देश भेजा जिस मे विधानचन्द्र राय की नीतियो पर चलने के लिए कहा गया था।[65]

यदि हम इस सिद्धात को मान ले कि चुनाव के पश्चात् यदि विधानसभा मे किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत न होने पर राज्यपाल इस बात का निर्णय करेगा कि सरकार कौन बनाये तो इससे, मन्त्रिमडल के निर्माण मे राज्यपाल के हस्तक्षेप करने की क्षमता बहुत अधिक बढ जायेगी। अत प्रजातन्त्र का हित इसमे है कि चुनाव के पश्चात् किसी भी राजनैतिक दल का विधानसभा मे बहुमत न होने पर उस दल के नेता को मुख्यमन्त्री बनाया जाना चाहिये जिसके सदस्यो की सख्या अन्य दलो की अपेक्षा सबसे अधिक है। लेकिन यह खेद जनक है कि इस सिद्धात का पूरी तरह से अनुसरण नही किया गया।

राज्यपाल को स्थिति का अनुमान कब लगाना चाहिये

जब यह कहा जाता है कि विधान-सभा मे सबसे बड़े दल के नेता को या उस सयुक्त मोर्चे के नेता को जो चुनाव से पहले बनाया गया हो, पूर्ण बहुमत न होते हुए भी सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाना चाहिए तो उसका अर्थ यह नही है कि राज्यपाल को बहुमत से सम्बन्धित स्थिति का अनुमान कभी भी नही लगाना चाहिये। कुछ विशेष परिस्थितियो मे राज्यपाल के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह विधानसभा मे बहुमत के सम्बन्ध मे जाँच पडताल करे। उदाहरणतया, एक ऐसी स्थिति की कल्पना कीजिये जब अनेक दलो द्वारा बनाई हुई सरकारो का पतन हो चुका हो और सब दलो को इस प्रकार से सरकार बनाने के अवसर दिये जाने के पश्चात राष्ट्रपति शासन लागू किया गया हो और विधानसभा को निलम्बित कर दिया गया हो जैसा कि 1971 मे बिहार मे हुआ था। यदि कुछ समय पश्चात् राष्ट्रपति शासन को समाप्त किए जाने के सम्बन्ध मे कदम उठाये जाये तो राज्यपाल के पास राजनैतिक स्थिति का अनुमान लगाने के अतिरिक्त और कोई वैकल्पिक नही होगा, क्योकि वह सबसे बड़े गुट के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित नही कर सकता। क्योकि हो सकता है उस नेता की सरकार के पतन के बाद वहाँ पर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया हो जैसा कि 24 अक्तूबर, 1967 को मणिपुर मे हुआ था।[66] ऐसी

परिस्थितियों में राष्ट्रपति शासन समाप्त करना हो तो यह जांच पड़ताल करना कि वहां पर सरकार का निर्माण हो सकता है या नहीं, राज्यपाल के लिए आवश्यक ही नहीं बल्कि उसका कर्त्तव्य भी होगा। परन्तु इस सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल ने यह जांच पड़ताल उस समय करनी चाहिये या नहीं जब मिली-जुली सरकार के मुख्यमन्त्री द्वारा त्यागपत्र दिए जाने के पश्चात् संयुक्त मोर्चा अपना नेता चुनने में असफल हो जाये और वहां पर ऐसा होने के पश्चात् राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाये जैसा कि 1968 में चरणसिंह के त्यागपत्र के पश्चात् उत्तर प्रदेश में हुआ था।[67] राज्यपाल ने यह सिफारिश की कि कुछ समय तक विधान-सभा को निलिम्बत रखने के पश्चात् वहां पर स्थायी सरकार की संभावना है।[68] यह सरकार का दूसरा पतन था। चन्द्रभानु गुप्त की सरकार इससे पहले गिर चुकी थी। 22 मार्च, 1968, को संयुक्त विधायक दल ने हरिश्चन्द्र सिंह को अपना नेता चुना तो उस समय राष्ट्रपति शासन को समाप्त करने तथा जनता के प्रतिनिधियों की सरकार बनाने की बात दोबारा चली और हरिश्चन्द्र सिंह ने राज्यपाल से यह प्रार्थना की कि उसे सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाना चाहिए।[69] कांग्रेस के नेता चन्द्रभानु गुप्त ने भी विधानसभा में बहुमत का दावा किया और राज्यपाल के सामने तब यह प्रश्न उठा कि वह ऐसी परिस्थिति में क्या करे। यदि राज्यपाल को यह विश्वास होता कि संयुक्त विधायक दल के किसी भी सदस्य ने दल नहीं छोड़ा तो राज्यपाल के लिए संयुक्त विधायक दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना उचित होता। लेकिन क्या उस समय ऐसा करना उचित होता जब संयुक्त विधायक दल के कुछ सदस्यों ने राज्यपाल को लिखित रूप से दल को छोड़ने लिए लिख दिया हो। यह एक विवादग्रस्त विषय है। इस प्रकार की परिस्थितियां उत्तर प्रदेश में उस समय पैदा हुई जब चरणसिंह के त्यागपत्र के पश्चात संयुक्त विधायक दल ने हरिश्चन्द्र सिंह को अपना नेता चुना क्योंकि संयुक्त विधायक दल के कुछ सदस्य चन्द्रभानु गुप्त को समर्थन देने के लिए तैयार हो गए। उस समय राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी के सामने एक कठिन समस्या उत्पन्न हो गई, जिसका समाधान ढूंढने के लिए उसने हरिश्चन्द्र सिंह को एक पत्र लिखा जिसमें निम्नलिखित प्रश्नों के सम्बन्ध में उस के विचार जानने के लिए कहा गया था, कि

(i) क्या ऐसी परिस्थितियों में जब संयुक्त विधायक दल के कुछ सदस्य चन्द्रभानु गुप्त को समर्थन देने के लिए तैयार हैं। राज्यपाल दोनों नेताओं के बहुमत के दावे की जांच पड़ताल किए बिना मुख्यमन्त्री की नियुक्ति कर सकता है ?

(ii) यदि बहुमत की जांच पड़ताल की जाये तो उसका क्या ढंग होना चाहिये ?

(iii) क्या राज्यपाल उन गोपनीय पत्रों को ध्यान में रख सकता है जो उन दल बदलने वालों ने उसे लिखे हैं जो संयुक्त विधायक दल छोड़ कर कांग्रेस में शामिल होना चाहते हैं ?

(iv) क्या राज्य मे एक स्थायी सरकार बनाने की सभावना है ताकि वह राष्ट्रपति को राष्ट्रपति-शासन समाप्त करने की सिफारिश कर सके ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि क्या सत्तारूढ दल के बहुमत के बारे मे, दल छोडने के सम्बन्ध मे राज्यपाल को लिखे गये पत्रो की वह उपेक्षा कर सकता है या नही ? हरिश्चन्द्र सिंह ने कहा कि हा ऐसा किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिये, क्योंकि यदि ऐसा नही किया जाता तो उसका अभिप्राय यह होगा कि सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव विधान-सभा मे पास न हो कर, राजभवन मे भी पास हो सकेगा।[70] इसके अतिरिक्त उसने यह भी कहा कि यदि ऐसा न किया गया तो जब कभी भी सत्रावसान होगा तो कुछ सदस्य अवश्य ऐसे होगे जो सरकार को समर्थन न देने के लिए राज्यपाल को पत्र लिख कर नई सरकार बनाने की माग करेगे। चूंकि उत्तर प्रदेश मे अभी तक विधान-सभा भग नही की गई है अत चुनाव के पश्चात् मुख्यमन्त्री बनाने के लिए जो जाच पडताल करने की पद्धति है वह यहाँ पर लागू नही होती।[71] उसने राज्यपाल का उन सदस्यो के नाम बतलाने के लिए भी निवेदन किया, जिन्होंने सयुक्त विधायक दल छोडने के लिए राज्यपाल को लिखा था। और जब राज्यपाल ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो उस समय राज्यपाल के इस कार्य (action) को अनुचित बताते हुए कहा कि सयुक्त विधायक दल का नेता होने के कारण उसका यह अधिकार है कि दल छोडने वाले विधायको के नाम उसे बताये जायें, क्योंकि सयुक्त विधायक दल के उन सदस्यो ने दल को छोड दिया है जिन्होंने काग्रेस का समर्थन करने का विश्वास दिया है और ऐसा निर्णय दल तथा जनता की जानकारी के बिना राजभवन मे नही किया जा सकता।[72] ऐसा मालूम होता है कि ये तर्क काफी सारगर्भित हैं और उस परिस्थिति मे राज्यपाल को चाहिए था कि वह हरिश्चन्द्र को सयुक्त विधायक दल का नेता चुने जाने के पश्चात् मुख्यमन्त्री बना देता। सयुक्त विधायक दल का नेता बदलने पर प्रत्येक बार बहुमत के सम्बन्ध मे जाच पडताल करने का अर्थ दल बदलने वालो का प्रोत्साहन देना है।

मध्यप्रदेश मे राज्यपाल इससे भी एक कदम और आगे गए क्योंकि जब गोविन्दनारायण सिंह के स्थान पर राजा नरेशचन्द्र सिंह को सयुक्त विधायक दल का नेता चुना गया, तो गोविन्दनारायण सिंह ने अपना त्यागपत्र देते समय राज्यपाल को *यह सलाह दी कि सयुक्त विधायक दल के नए नेता राजा नरेशचन्द्र सिंह को मुख्यमन्त्री* बनाया जाये लेकिन राज्यपाल के० सी० रेड्डी ने गोविन्दनारायण सिंह को सूचित किया कि ऐसा करने से पहले वे स्थिति का अनुमान लगाना चाहेगे। उन्होंने राजमाता का सयुक्त विधायक दल की उस बैठक की कार्यवाही भी भेजने को कहा जिसमे *नरेशचन्द्र सिंह को दल का नेता चुना गया था। राज्यपाल द्वारा ऐसा किये जाने का* शायद उद्देश्य यह था कि वे यह देखना चाहते थे कि नरेशचन्द्र सिंह को सयुक्त विधायक दल के अनेक दलो का समर्थन है या नही।[73] जब विधान-सभा का अधिवेशन चल रहा था उस समय राज्यपाल द्वारा ऐसा किया जाना उचित नही था, क्योंकि ऐसा करने

के परिणामस्वरूप गोविन्दनारायण सिंह बजट अधिवेशन के सत्रावसान करने की सिफारिश करने पर विवश हो गए। ऐसा करना इसलिए भी अनुचित था क्योंकि यदि राज्यपाल को संयुक्त विधायक दल के बहुमत पर सन्देह था तो शक्ति का परीक्षण विधान-सभा में हो सकता था। यह समझ में नहीं आता कि यदि राजस्थान में कांग्रेस के नेता मोहनलाल सुखाड़िया ने बहुमत का दावा किया तो राज्यपाल ने उन पर विश्वास कर लिया और जब उन्होंने सरकार बनाने मे इन्कार कर दिया तो विपक्ष को सरकार बनाने का अवसर देने के स्थान पर राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया गया। लेकिन इसके विपरीत जब गोविन्दनारायण सिंह ने बहुमत का दावा किया तो उन पर विश्वास नहीं किया गया, हालांकि इसकी परीक्षा विधान-सभा में अगले ही दिन हो सकती थी, क्योंकि विधान-सभा का अधिवेशन चल रहा था। जब संयुक्त विधायक दल ने अपना नया नेता चुन लिया था, जो कि उनका आन्तरिक मामला था तो राज्यपाल को राजा नरेशचन्द्र सिंह को मुख्यमन्त्री बनाना चाहिए था। मद्रास में 1946 और 1951 के बीच तीन मुख्यमन्त्री रहे। पहले मुख्यमन्त्री को दल ने 1947 में हटा दिया और उनके स्थान पर पार्टी ने अपना नया नेता चुन लिया। वहां पर भी मध्यप्रदेश के समान अधिवेशन चल रहा था लेकिन सत्रावसान करने की आवश्यकता इसलिए नहीं पड़ी क्योंकि नए मुख्यमन्त्री ने अगले ही दिन विधान-सभा की बैठक होने से पहले अपने पद की शपथ ले ली। इसके दो साल पश्चात् भी ऐसा ही हुआ और मध्यप्रदेश में भी यही होना चाहिए था।[74] जब आंध्र प्रदेश में संजीवा रेड्डी ने मुख्यमन्त्री के पद से त्यागपत्र दिया तो उस समय उसने राज्यपाल को यह परामर्श दिया कि ब्रह्मानन्द रेड्डी को मुख्यमन्त्री बनाये और ब्रह्मानन्द रेड्डी को पार्टी द्वारा नेता चुने जाने से पहले ही मुख्यमन्त्री बना दिया गया।[75] जब मध्यप्रदेश मे श्यामचरण शुक्ला के स्थान पर प्रकाशचन्द्र सेठी को, राजस्थान में मोहनलाल सुखाड़िया के स्थान पर बरकतुल्लाखां को, मैसूर में निजलिंगप्पा के स्थान पर वीरेन्द्र पाटिल को, बिहार में सतीशप्रसाद सिंह के स्थान पर बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल को मुख्यमन्त्री बनाया गया तब भी ऐसा ही किया गया था। सत्तारूढ़ दल ने जब एक नेता के स्थान पर दूसरा नेता चुना तब इन राज्यों में राज्यपाल ने उन्हें बिना किसी प्रकार की जांच पड़ताल किए मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया। मध्यप्रदेश के राज्यपाल ने जो कुछ किया था उस पर बोलते हुए एक कांग्रेस नेता पी० वेंकटासुब्बैया ने कहा कि प्रजातन्त्र की सफलता के लिए कुछ नियमों का पालन अवश्य ही किया जाना चाहिए। अध्यक्षों के सम्मेलन की सिफारिश के अनुसार बहुमत का निर्णय सदा विधान-सभा में किया जाना चाहिए और जो कुछ मध्यप्रदेश के राज्यपाल ने किया था वह बहुत ही अनुचित था, जिसे आचार्य जे० बी० कृपलानी ने संविधान का उल्लंघन बतलाया।[76]

अतः यह कहा जा सकता है कि मध्यप्रदेश के राज्यपाल ने जो कुछ किया वह बहुत ही आपत्तिजनक था क्योंकि गोविन्द नारायण सिंह की सलाह को न मानने

का अर्थ यह था कि वह बहुमत के प्रश्न का निर्णय विधान-सभा का अधिवेशन जारी होते हुए भी विधान-सभा में न कर के, राजभवन में करना चाहते थे।

दूसरे, सयुक्त विधायक दल के बहुमत का अनुमान लगाते हुए उसकी नीतियों के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछना कहा तक उचित था ? साधारणतया राज्यपाल को नीतियो से सम्बन्धित क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए क्योकि ऐसा करना उनके अधिकार-क्षेत्र से बाहर है। लेकिन यह अचम्भे की बात है कि मुख्यमन्त्री की नियुक्ति के समय कुछ राज्यपालो ने सयुक्त विधायक दल के नेताओ से इस प्रकार की सूचनाए भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतया उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने बहुमत की जाच पडताल करते समय सयुक्त विधायक दल के नेता से पूछा कि

(i) क्या सयुक्त विधायक दल में आपसी भेदभाव है ?

(ii) क्या दल से सम्बन्धित जिन नीतियो की घोषणा की गई है, दल उसे लागू कर सकेगा ?

इस प्रकार बिहार मे जनवरी 1968 मे बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल की सरकार का पतन होने के पश्चात जब सयुक्त विधायक दल ने भोला पासवान शास्त्री को अपना नेता चुना तब भी राज्यपाल ने उनसे सयुक्त विधायक दल के कार्यक्रम की सूचना मागी थी लेकिन यह हैरानी की बात है कि जब कभी भी काग्रेस सयुक्त विधायक दल मे शामिल हुई तो उस समय उस दल के नेता से इस प्रकार की सूचना कभी नही मागी गई।[77]

सरकार का स्थायित्व तथा मुख्यमन्त्री की नियुक्ति

जैसा पहले कहा जा चुका है कि कुछेक परिस्थितियो मे मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करने से पहले विधान-सभा मे बहुमत के सम्बन्ध मे छानबीन करना राज्यपाल के लिए आवश्यक हो जाता है, लेकिन ऐसा करते समय क्या उसे यह भी देखना चाहिए कि सरकार स्थायी होगी या नही ? बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो के अनुसार राज्यपालो का यह कर्त्तव्य है कि वे ऐसी सरकारो की नियुक्ति न करे जो अस्थायी हो क्योंकि इसका जनता तथा प्रशासन पर बुरा प्रभाव पडता है।[78] शायद यही एक कारण था कि चुनाव के तुरन्त पश्चात् कुछ राज्यो मे राज्यपालो ने सब से बडे दलो को सरकार बनाने की आज्ञा नही दी।[79] हरियाणा मे भी सरकार का बहुमत होते हुए राज्यपाल ने राष्ट्रपति-शासन लागू करने की सिफारिश इसी आधार पर की थी कि वहा की सरकार स्थायी नही है। इसी प्रकार 1968 मे उत्तर प्रदेश मे चरणसिंह सरकार के पतन के पश्चात् चन्द्रभानु गुप्त को[80] और मार्च, 1973 मे उडीसा मे नन्दिनी सत्पथी के त्यागपत्र दे देने के पश्चात् बीजू पटनायक को[81] इसी आधार पर सरकार बनाने की आज्ञा नही दी गई थी।

अत मुख्यमन्त्री की नियुक्ति मे सरकार के स्थायित्व के सिद्धान्त का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। सरकार के स्थायित्व के सिद्धान्त का प्रयोग अनेक बार कुछ

राजनैतिक दलों के पक्ष में तथा अन्य राजनैतिक दलों के विपक्ष में किया गया है। वास्तव में सरकार के स्थायी होने का सम्बन्ध केवल इस बात पर नहीं होता कि सरकार का विधान-सभा में काफी बहुमत हो। पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल डी० सी० पावते ने ठीक ही कहा था, कि सरकार के स्थायी होने के लिए शासक दल का विधान-सभा में अधिक बहुमत होना इतना आवश्यक नहीं जितना कि जो भी थोड़ा बहुत बहुमत है उसे बनाये रखना।[82] इस तथ्य को इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि शासक दल का विधान-सभा में बहुत अधिक बहुमत किसी भी समय अल्पमत में बदल सकता है जैसा कि हरियाणा तथा मध्यप्रदेश में हुआ।[83] इसी प्रकार से 1967 के चुनाव के पश्चात् उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल तथा बिहार में संयुक्त मोर्चे द्वारा बनाये गए मन्त्रिमण्डलों का विधान-सभा में बहुमत था परन्तु एक के बाद दूसरे का शीघ्र ही पतन होता गया। इसके विपरीत 1967 के पश्चात् राजस्थान में जब मोहनलाल सुखाडिया को मुख्यमन्त्री नियुक्त किया गया तो वहां पर कांग्रेसी सदस्यों की संख्या 94 थी और विपक्ष की 88, अर्थात् कांग्रेस का बहुमत केवल 6 सदस्यों का था।[84] यह बहुमत कोई बहुत अधिक न था लेकिन फिर भी राजस्थान की सरकार स्थायी रही। इसकी तुलना में 1967 के पश्चात् उत्तरप्रदेश में भी कांग्रेस का बहुमत केवल चार का था लेकिन वहा पर चन्द्रभानु गुप्त की सरकार का पतन आठवे दिन ही हो गया।

इस से यह सिद्ध होता है कि सरकार का स्थायित्व केवल सत्तारूढ़ दल के बहुमत पर ही निर्भर नहीं होता, बल्कि वह इस बात पर निर्भर है कि क्या उस दल के सदस्य अनुशासन में रहने के लिए तैयार हैं या नहीं। यदि उनमें से अधिकांश या कुछेक सदस्य ऐसे हों जो व्यक्तिगत लाभ के लिए दल बदलने को तैयार हों तो सत्तारूढ़ दल का विधान-सभा में काफी बहुमत होते हुए भी सरकार अस्थायी होगी। यही कारण है कि वे सरकारें जिन्हें राज्यपाल स्थायी समझते थे अस्थायी सिद्ध हुई। उदाहरणतया, बिहार के राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो ने 26 अक्तूबर, 1970 को अपने भाषण में कहा था कि दारोगाप्रसाद राय की सरकार स्थायी है।[85] परन्तु वह सरकार 18 दिसम्बर, 1970 को अर्थात् दो महीने के अन्दर ही अपदस्थ हो गई।[86] इसी प्रकार से डी० के० बरुआ ने, जो नित्यानन्द कानूनगो के पश्चात् बिहार के राज्यपाल नियुक्त हुए, 16 जुलाई, 1971 को संवाददाताओं से कहा कि कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा मन्त्रीमण्डल को सहयोग देने से इन्कार करने के पश्चात् भोला पासवान की सरकार को कोई खतरा नहीं है,[87] परन्तु यह सरकार भी 27 दिसम्बर, 1971 को अर्थात् 6 महीने के अन्दर ही अपदस्थ हो गई।[88] यह सरकार विधान-सभा में एक बार भी अपना बहुमत सिद्ध नहीं कर सकी क्योंकि इसने बजट अधिवेशन, जो कि 30 दिसम्बर 1971 को शुरु होना था, से तीन दिन पहले ही त्यागपत्र दे दिया। यह अचम्भे की बात है कि जब 2 जून, 1971 को भोला पासवान की सरकार की नियुक्ति हुई तो उस समय राजभवन ने जारी किये गये एक वक्तव्य में कहा गया था कि

राज्यपाल ने भोला पासवान को सरकार बनाने का निमन्त्रण देने से पहले ही जाच पड़ताल कर ली है कि उसका विधान-सभा मे काफी बहुमत है, इसलिए उसने भूतपूर्व मुख्यमन्त्री कर्पूरी ठाकुर की इस सलाह को नही माना कि विधान-सभा भग करके नये चुनाव कराये जाए।[89] यह सरकार जिसका राज्यपाल के अनुसार विधान-सभा मे काफी बहुमत था एक बार भी विधान-सभा मे विपक्ष का सामना नही कर सकी। बिहार मे 5 मार्च, 1967 तथा 2 जून, 1971 के बीच नौ मन्त्रिमण्डल अपदस्थ हुए।

इस अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राज्यपालो को सरकार के स्थायी या अस्थायी होने के सम्बन्ध मे साधारणतया कोई भविष्यवाणी नही करनी चाहिए। परन्तु कुछ राज्यपाल इस दृष्टिकोण से सहमत नही है। *उदाहरणतया* हरियाणा मे जब राव बीरेन्द्र सिंह का विधान-सभा मे बहुमत था तो उस समय राष्ट्रपति-शासन की सिफारिश करते हुए राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट मे कहा था, कि "यदि विधान-सभा का अधिवेशन बुलाया भी जाये और शासक दल या विपक्ष अपना बहुमत सिद्ध कर भी दे, तो भी वर्तमान परिस्थितियो मे यहा की सरकार स्थायी नही हो सकती। मेरा यह अनुमान है कि कांग्रेस विधायक दल देवीलाल की सहायता से सयुक्त विधायक दल की सरकार को अपदस्थ कर सकता है।"[90]

इस रिपोर्ट पर टिप्पणी करते हुए ससद सदस्य सौजिया ने कहा था, कि "अब तक मेरा यह अनुमान था कि भविष्यवाणी करने के लिए केवल केन्द्रीय मन्त्री ही ज्योतिषियो का सहारा लेते हैं लेकिन अब हमारे पास एक ऐसे राज्यपाल भी है जो ज्योतिष जानते हैं और वह यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि यदि विधान-सभा का अधिवेशन बुलाया गया तो क्या होगा"।[91] यह वास्तव मे एक हैरानी की बात है कि *बिहार मे सोशित दल के मन्त्रीमण्डल, पश्चिम बगाल मे पी० सी० घोष तथा पजाब मे* लक्ष्मण सिंह गिल के मन्त्रिमण्डल, जिन मे केवल दल-बदलू ही शामिल थे, उनके सम्बन्ध में राज्यपाल यह समझते थे कि वे स्थायी होगे।

यहा पर इस बात की चर्चा करना भी आवश्यक है कि 5 मार्च, 1967 और 2 जून, 1971, के बीच बिहार मे नौ मन्त्रिमन्डल बने। उनमे से कोई भी मन्त्रिमण्डल एक वर्ष से अधिक पद पर नहीं रहा।[92] उत्तर प्रदेश मे भी मार्च 1967 और नवम्बर 1973, के बीच सात मन्त्रिमण्डल बने और त्रिपाठी मन्त्रिमण्डल को छोड़कर उनमे से कोई भी एक वर्ष से अधिक अपने पद पर नहीं रहा।[93]

मार्च 1967 तथा सितम्बर 1971, के बीच पजाब मे भी चार मन्त्रिमण्डल बने और उनमे से कोई भी 15 महीने से अधिक पद पर नही रहा।[94] पश्चिम बगाल मे भी मार्च 1967 तथा दिसम्बर 1971, के बीच चार मन्त्रिमण्डल बने और उनमे से कोई भी 13 *महीने से अधिक नही टिक सका।*[95] *मध्यप्रदेश मे द्वारिकाप्रसाद मिश्र* का मन्त्रिमण्डल पाच महीने और राजा नरेशचन्द्र सिंह का मन्त्रिमण्डल केवल 8 दिन पद पर रहा।[96] गुजरात मे जब हितेन्द्र देसाई ने 13 अप्रैल, 1971 को दावारा सरकार बनाई तो वह 14 मई, 1971 का अर्थात् केवल 40 दिन के पश्चात् अपदस्थ

हो गई। उड़ीसा में नन्दिनी सतपथी की सरकार 9 महीने से भी कम अपने पद पर रही[97] और मणीपुर में अलीमुद्दीन की सरकार 13 महीने के अन्दर ही अपदस्थ हो गई।[98] ये सब उदाहरण अस्थायी मन्त्रिमण्डलों के है जिन्हें राज्यपाल स्थायी समझते थे। इससे यह परिणाम निकलता है कि स्थायी सरकार के बारे में भविष्यवाणी करना बड़ा कठिन है और राज्यपालों को ज्योतिषी बनने का प्रयास नहीं करना चाहिए। उनका प्रमुख कर्त्तव्य एक ऐसी सरकार की स्थापना करना है जिसका नियुक्ति के समय विधान-सभा में बहुमत हो। उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल विश्वनाथ दास का भी यही दृष्टिकोण है।[99]

इसके अतिरिक्त यहां पर इस बात की चर्चा भी आवश्यक है कि कुछ राज्यपालों ने ऐसे मन्त्रिमण्डलों की नियुक्ति की जिन्हे वे अस्थायी समझते थे। उदाहरणतया पंजाब मे जब लक्ष्मणसिंह गिल को मुख्यमन्त्री बनाया गया तो उस समय राज्यपाल यह अनुभव करते थे कि उनकी सरकार स्थायी नहीं होगी।[100] इसी प्रकार मध्यप्रदेश में जब 10 मार्च, 1969 को गोविन्दनारायण सिंह ने मुख्यमन्त्री के पद से त्यागपत्र दिया तो राज्यपाल के० सी० रेड्डी ने यह जानते हुए राजा नरेशचन्द्र सिंह को मुख्यमन्त्री नियुक्त किया कि उनके साथ सदन का बहुमत नहीं है और उनकी सरकार स्थायी नहीं होगी।[101]

इसके अतिरिक्त मुख्यमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में यह चर्चा भी आवश्यक है कि जब राज्यपाल विधान-सभा में सबसे बड़े दल के नेता को सरकार बनाने का निमन्त्रण देते हैं तो वे उनके लिए समय भी निश्चित कर सकते है जिसके अन्दर उसे सरकार बना लेनी चाहिए। यदि मनोनीत मुख्यमन्त्री सरकार बनाने के लिए कुछ और समय मांगे तो यह राज्यपाल की मर्जी पर है कि वे उसे और समय दें या न दें। उदाहरणतया पंजाब में 23 नवम्बर, 1967 को जब लक्ष्मणसिंह गिल ने संयुक्त विधायक दल छोड़ा तो उस समय गुरनाम सिंह ने मुख्यमन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया।[102] चूंकि गुरनाम सिंह विधान-सभा में सब से बड़े दल का नेता था, इसलिए राज्यपाल ने उसे सरकार बनाने के लिए दोबारा आमंत्रित किया और उससे 25 नवम्बर तक सरकार बनाने के लिए कहा।[103] 25 नवम्बर, 1967 को दिल्ली जाते समय गुरनाम सिंह ने राज्यपाल को एक पत्र लिखा, जिसमें लिखा था कि वे उन्हें 26 नवम्बर को मिलेंगे।[104] लेकिन राज्यपाल ने 26 नवम्बर तक प्रतीक्षा किए बिना ही लक्ष्मणसिंह गिल को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया।[105] लेकिन बिहार में जून 1968, में जब भोला पासवान शास्त्री के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दिया तो उस समय कांग्रेस विधायक दल के नेता एम० पी० सिन्हा ने सरकार बनाने के लिए कुछ समय मांगा, परन्तु राज्यपाल ने उसे समय देने से इन्कार कर दिया।[106] राज्यपाल ने राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट में लिखा कि उसने एम० पी० सिन्हा को समय देने से इसलिए इन्कार कर दिया क्योंकि विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) 30 जून से पहले पास किया जाना था।[107] राज्यपाल संयुक्त विधायक दल के नेता भोला

पासवान शास्त्री को दोबारा सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करने को भी तैयार नही थे और इस सम्बन्ध मे राष्ट्रपति को उन्होंने अपनी रिपोर्ट मे लिखा था, कि वे भोला पासवान शास्त्री द्वारा उनकी सरकार का त्यागपत्र देने के तुरन्त पश्चात् दल-बदलुओं की सहायता से बनाई जाने वाली सरकार को अनुमति नही दे सकते।[108] भोला पासवान शास्त्री ने त्यागपत्र देने के 24 घण्टे के अन्दर दोबारा यह दावा किया था कि विधान-सभा मे उनका बहुमत है। लेकिन राज्यपाल ने उन के इस दावे को रद्द करते हुए राष्ट्रपति-शासन लागू करने की सिफारिश की। यहाँ पर इस बात की चर्चा करना उचित होगा कि पश्चिम बगाल मे पी०सी० घोष, पजाब मे लक्ष्मणसिंह गिल, उत्तर प्रदेश मे चरणसिंह, मध्य प्रदेश मे गोविन्दनारायण सिंह, हरियाणा मे राव बीरेन्द्र सिंह स्वय दल-बदलू थे और इन प्रान्तों के राज्यपालों ने उन्हे सरकार बनाने की आज्ञा दी थी। इनमे से कुछ सरकारें तो केवल दल-बदलुओं द्वारा ही बनाई गई थी। लगभग बिहार जैसी ही परिस्थितियों मे पजाब के राज्यपाल डी० सी० पावते ने गुरनाम सिंह द्वारा त्यागपत्र देने के पश्चात् उन्हे दोबारा मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया था।[109] इसी प्रकार गुजरात मे हितेन्द्र देसाई के त्यागपत्र देने के कुछ दिनो पश्चात् ही उन्हें दोबारा सरकार बनाने के लिए कहा गया था और उसने दोबारा सरकार बनाई भी थी।[110] मैसूर मे भी बीरेन्द्र पाटिल को त्यागपत्र देने के पश्चात् उस समय दोबारा सरकार बनाने के लिए कहा गया था जब वे कामचलाऊ सरकार के मुख्यमन्त्री थे।[111] पश्चिम बगाल मे भी जब अजय मुकर्जी ने मार्क्सवादियों के साथ मतभेद होने के कारण 16 मार्च, 1970 को त्यागपत्र दिया तो राज्यपाल शान्ति-स्वरूप धवन ने उन्हे पुन सरकार बनाने के लिए कहा, परन्तु मुकर्जी ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।[112] चूंकि भोला पासवान उस समय तक कामचलाऊ मुख्यमन्त्री के रूप मे कार्य कर रहे थे, अत उन्हे दोबारा सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करना उचित ही था, विशेषकर इसलिए क्योंकि वह यह दावा कर रहे थे कि बहुमत उनके साथ है।

दल द्वारा नेता का चुनाव

मुख्यमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध मे यह भी पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल बहुमत दल के किसी भी सदस्य को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर सकता है या केवल उस व्यक्ति को ही मुख्यमन्त्री नियुक्त कर सकता है जिसे बहुमत-दल ने अपना नेता चुना हो। साधारणतया तो राज्यपाल बहुमत-दल के किसी भी सदस्य को उस समय तक मुख्यमन्त्री नियुक्त नही करेगा जब तक कि वह दल अपना नेता स्वय न चुन ले। आमतौर मे राज्यपाल इस प्रथा का पालन करते हैं और राष्ट्रपति भी ऐसा ही करते है। उदाहरणतया, हालांकि पडित नेहरू कांग्रेस के प्रमुख नेता थे, लेकिन प्रत्येक चुनाव के पश्चात् राष्ट्रपति द्वारा उन्हे सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किए जाने से पहले कांग्रेस ससदीय दल उन्हें सर्वथा अपना नेता चुनता था और उसके पश्चात् ही उन्हे प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाता था। लेकिन कुछ ऐसे

भी उदाहरण मिलते हैं जहां पर राज्यपालों ने बहिगत मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर ही नए मुख्यमन्त्री की नियुक्ति, दल द्वारा उसे नेता के रूप में चुने जाने से पहले ही कर दी थी। उदाहरणतया आंध्र में जब संजीवा रेड्डी ने मुख्यमन्त्री के पद से त्याग-पत्र दिया तो उस समय ब्रह्मानन्द रेड्डी को दल का नेता चुना जाने से पहले ही संजीवा रेड्डी की सिफारिश पर मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया गया था।[113]

जहां तक मिली जुली सरकारों का सम्बन्ध है उनके लिए बेहतर तो यह होगा कि जो दल मिली जुली सरकार बनाना चाहते हैं, उन दलों के सारे विधान-सभा के सदस्य इकट्ठे हो कर अपना नेता चुनें, जैसा कि मध्यप्रदेश में मार्च 1969 में किया गया। वहां जब गोविन्द नारायण सिंह ने त्यागपत्र दिया तो उस समय सारंगगढ़ के राजा नरेशचन्द्र सिंह का चुनाव संयुक्त विधायक दल के सब सदस्यों ने किया था। लेकिन अन्य राज्यों में जो संयुक्त विधायक दलों ने सरकारें बनाईं, वहां नेता का चुनाव दलों के नेताओं द्वारा किया गया था न कि संयुक्त विधायक दल के सदस्यों द्वारा। उदाहरण-तया पश्चिम बंगाल में अजय मुकर्जी, उत्तरप्रदेश में चरणसिंह, बिहार में भोला पासवान शास्त्री का चुनाव इसी प्रकार से किया गया था।

इस सम्बन्ध में यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि 18 जून, 1970 को जब इंग्लैंड में चुनाव हुए तो उनमें कंजर्वेटिव दल को 630 स्थानों में से 330 स्थान मिले थे। उसके परिणामस्वरूप प्रधानमन्त्री हैरल्ड विलसन ने उसी दिन 6 बज कर 24 मिनट पर शाम को त्यागपत्र दे दिया। महारानी ने एडवर्ड हीथ को, उसके दल के सदस्यों से पूछताछ किए बिना ही प्रधानमन्त्री बनने के लिए आमन्त्रित किया। इस प्रकार के आधुनिक पूर्वोदाहरण इंग्लैंड में और भी हैं।[114] इसी प्रकार से 1923 में बाल्डविन को, 1957 में मैकमिलन को, और 1963 में अर्ल ऑफ होम को दल द्वारा औपचारिक रूप से नेता चुने जाने से पहले ही प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया गया था। लेकिन भारतवर्ष में केवल उस उदाहरण को छोड़ कर जिस की चर्चा ऊपर की गई है, राज्यपाल केवल उस नेता को मुख्यमन्त्री बनने के लिए आमन्त्रित करते रहे हैं जो दलों द्वारा औपचारिक रूप से नेता चुने गये थे।

जब मुख्यमन्त्री की मृत्यु पद पर रहते हुए हो जाये तो उस समय साधारणतया सब से वरिष्ठ मन्त्री को कामचलाऊ मुख्यमन्त्री के तौर पर नियुक्त कर दिया जाता है। उदाहरणतया पश्चिम बंगाल में विधानचन्द्र राय की मृत्यु के पश्चात् पी० सी० सेन को, तमिल नाडु में अन्नादुराई की मृत्यु के पश्चात् नेडुंचेरियां (Neduncherhian) को कामचलाऊ मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया गया था।

संदर्भ

1. 1972 के चुनाव के पश्चात् मध्यप्रदेश में प्रकाशचन्द्र सेठी, गुजरात में घनश्याम ओझा, मैसूर में देवराज उर्स, पश्चिमी बंगाल में सिद्धार्थ शंकर रे, उड़ीसा में नन्दिनी सत्पथी, 1966 में पंजाब में ज्ञानी गुरमुख सिंह मुसाफिर, 1970 में उत्तर प्रदेश में त्रिभुवन नारायण सिंह, 1969 में मध्यप्रदेश में राजा नरेशचन्द्र सिंह, तथा केरल में 1970 में अच्युता मेनन को जब मुख्यमन्त्री बनाया गया तो उस समय वे विधान सभा के सदस्य नहीं थे।
2. अनुच्छेद, 164 (4)
3. The Governor said, "I have since obtained the opinion of the Advocate general regarding your claim to become the Chief Minister or even a Minister He states that you are not qualified to be a Minister without becoming a Member of the Legislature *In view of the Constitutional position explained in my letter and the opinion of the Advocate* General, I feel it difficult to accede to your request to form the Government in the state"
   The Hindustan Times, September 13, 1967, P 1
4. हरशरण वर्मा बनाम चन्द्रभानु गुप्त, 'ए आई आर', *1962*, इलाहाबाद, *301*
5. हरशरण वर्मा बनाम त्रिभुवन नारायण सिंह, 'ए आई आर', *1971*, इलाहाबाद, *237*
6. हरनाम शर्मा बनाम त्रिभुवन नारायण सिंह 'ए. आई. आर'., *1971*, सर्वोच्च न्यायालय, *133*.
7. वही।
8. इन रे रामामूर्ति, 'ए आई आर', *1953*, मद्रास *94*
9. 'दि टाईम्स ऑफ इंडिया', सितम्बर 12, 1968, पृष्ठ 3
10. 'दि ट्रिब्यून', सितम्बर 19, 1967, पृष्ठ 2.
11. (क) उदाहरणतया, बिहार में राष्ट्रपति ने 8 जनवरी, 1972 को राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा की। इस उद्घोषणा को 8 मार्च, 1972 तक संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाना चाहिये था, लेकिन ऐसा इसलिए नहीं हो सका क्योंकि 8 जनवरी, 1972 और 8 मार्च, 1972 के बीच संसद का अधिवेशन नहीं हुआ। अत दो महीने के पश्चात् अर्थात् 8 मार्च, 1972 को राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा स्वयं समाप्त हो गई। इसलिए 9 मार्च, 1972 को राष्ट्रपति-शासन की उद्घोषणा दोबारा की गई क्योंकि संसद का अधिवेशन 13 मार्च से आरम्भ होना था।
    'दि ट्रिब्यून', मार्च 10, 1972, पृष्ठ 10
    (ख) इसी प्रकार उड़ीसा में भी अनुच्छेद 356 के अधीन 23 जनवरी, 1971 को राष्ट्रपति-शासन की उद्घोषणा की गई थी। उसे संविधान के अनुसार 23 मार्च, 1971 तक संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाना चाहिये था। लेकिन जब ऐसा नहीं किया गया तो उद्घोषणा समाप्त हो गई और 23 मार्च को राष्ट्रपति शासन लागू करने की घोषणा दोबारा की गई। 'दि स्टेट्समैन', मार्च 24, 1971, पृष्ठ 1.
12. 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 27, 1971, पृष्ठ 7.
13. श्रीप्रकाश, 'स्टेट गवरनर्स इन इंडिया', '*1966*, पृष्ठ *42*
14. हरशरण वर्मा बनाम चन्द्रभानु गुप्त, 'ए आई आर', *1962*, इलाहाबाद, *301*.
15. श्रीप्रकाश, 'स्टेट गवरनर्स इन इंडिया', *1960*, पृष्ठ *41-42*
16. 'लोक सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् *5*, नम्बर *59*, मई *13*, *1966*, कॉलम *16715*.
17. 'दि ट्रिब्यून', जून 22, 1973, पृष्ठ 4

18. The committee recommended that, "The leader of the largest single party in the Assembly (when no party has an absolute majority) has for that reason alone no absolute right to claim that he should be entrusted with the task of forming a Government to the exclusion of others. The relevant test for a Governor is not a size of the party but its ability to command the support of the majority in the Legislature. The Governor has first and essentially to satisfy himself that the person whom he invites to form the Government commands majority support in the Legislature."
The Statesman, November 27, 1971, P. 6.
19. वही; नवम्बर 27, 1971, पृष्ठ 7.
20. 'दि इंडियन एक्सप्रेस', मार्च 25, 1968, पृष्ठ 6.
21. वही; मार्च 26, 1968, पृष्ठ 6.
22. वही।
23. वही; मार्च 25, 1968, पृष्ठ 6.
24. विधान-सभा में अनेक दलों की संख्या इस प्रकार थी : कांग्रेस 118; एस. एस. पी. 52; जनसंघ 34; कम्यूनिस्ट पार्टी 25; प्रजा सोशलिस्ट 17; जनता पार्टी 14; फुल फारवर्ड 10; लोकतांत्रिक कांग्रेस दल 9; भारतीय क्रांति दल 6; सोशित दल 6; स्वतन्त्र पार्टी 3; मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी 3; निर्दलीय 20। विधानसभा में सदस्यों की कुल संख्या 318.
'दि स्टेटसमैन', फरवरी 21, 1969, पृष्ठ 1.
25. 'पैट्रियट', फरवरी 27, 1969, पृष्ठ 1.
26. 'दि स्टेट्समैन', अप्रैल 7, 1971, पृष्ठ 1.
27. वही; अप्रैल 8, 1971, पृष्ठ 1.
28. विधान-सभा में अनेक राजनैतिक दलों की संख्या इस प्रकार थी : कांग्रेस 198; संयुक्त विधायक दल 188; निर्दलीय 37; खाली स्थान 2.
वही; मार्च 14, 1967, पृष्ठ 7.
29. वही।
30. वही; मार्च 14, 1967, पृष्ठ 7.
31. 183 सदस्यों की विधान-सभा में कांग्रेस के सदस्यों की संख्या 88 थी।
वही; मार्च 5, 1967, पृष्ठ 1.
32. वही।
33. 'लोक सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 1, नम्बर 1-10, मार्च 18, 1967, कॉलम 219.
34. 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', अप्रैल 25, 1967, पृष्ठ 1.
35. उदाहरणतया जब मार्च 16, 1970 को अजय मुकर्जी ने मुख्यमन्त्री के पद से त्यागपत्र दिया तो उस समय मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी के नेता ज्योति बसु ने राज्यपाल को कहा कि राज्यपाल को उन्हें सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करना चाहिये। लेकिन राज्यपाल ने उनसे उनके समर्थकों की सूची मांगी ताकि वह उन का साक्षात्कार कर सकें। इस के लिए ज्योति बसु तैयार नहीं हुये। उन्होंने कहा कि वह विधान-सभा में अपना बहुमत सिद्ध कर देंगे। लेकिन राज्यपाल ने कहा कि जब तक मार्क्सवादी सरकार के विरुद्ध दिये गए विपक्ष के तर्कों का उत्तर नहीं दिया जाता, तब तक उसे सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया जा सकता।
'नैशनल हैराल्ड' मार्च 19, 1970, पृष्ठ 1.
36. 'दि स्टेट्समैन', फरवरी 13, 1969, पृष्ठ 16.
37. 'पैट्रियट', फरवरी 17, 1969, पृष्ठ 4.
38. 'दि स्टेट्समैन', फरवरी 19, 1969, पृष्ठ 1..

39 'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया', दिसम्बर 21, 1969, पृष्ठ 1

40. 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', जुलाई 12, 1969, पृष्ठ 3.

41. 'दि स्टेट्समैन', दिसम्बर 7, 1969, पृष्ठ 8

42 He says that, "the Head of the state is perfectly within his rights-infact, it is his duty to call in these circumstances, the leader of the largest group to form the Government If all other parties join together and defeat the Government, then and then only-can the head of the state call the person whom these parties together may choose as there leaders to take charge of the Government The whole procedure is perfectly clear and constitutional and should be followed I do not think a Governor can take into cognisance any new party that may be said to have been formed after the elections and before the Legislature meets He can only accept the nomenclature of parties as they were given before the elections ' Sri Prakasha , *The Indian Express*, March 30, 1967, P 6

43 'राज्य सभा डिबेट्स', वाल्यूम 8, 1954, पृष्ठ 204

44 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', मार्च 22, 1968, पृष्ठ 1.

45, 'दि ट्रिब्यून', अगस्त 15, 1969, पृष्ठ 4

46 उदाहरणतया 1950 में पैप्सू तथा ट्रावकोर कोचीन के राजप्रमुखों और मद्रास तथा आन्ध्र के राज्यपालों ने कांग्रेस पार्टी के नेताओं को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया हालांकि उनके दलों का इन राज्यों की विधान सभाओं में पूर्ण बहुमत नहीं था। पैप्सू में 60 में से 26, ट्रावकोर कोचीन में 108 में से 44, मद्रास में 321 में से 155 तथा आन्ध्र में 140 में से 51 स्थान कांग्रेस के पास थे।

47 जब 4 मार्च 1965 को केरल में मध्यावधि चुनाव हुए तो विधान सभा में किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत नहीं था लेकिन कम्यूनिस्ट दल के सदस्यों की संख्या अन्य दलों की तुलना में सब से अधिक थी। उन्हें 133 में से 40 स्थान मिले थे। इस के नेता ने यह दावा किया कि वह सरकार बनाने की स्थिति में है लेकिन फिर भी राज्यपाल ने वहां पर स्थिति का अनुमान लगाने के पश्चात् राष्ट्रपति शासन दोबारा लागू करने की सिफारिश की। 'लोक सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 42, 1965, कॉलम 13576-77

48. उड़ीसा में सिंहदेव मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र देने के पश्चात् 10 जनवरी, 1971 को राष्ट्रपति-शासन लागू किया गया। मार्च 1971 में वहां पर मध्यावधि चुनाव हुये। वहां पर किसी भी राजनीतिक दल का विधान सभा में बहुमत नहीं था, लेकिन अन्य दलों की अपेक्षा कांग्रेस के सदस्यों की संख्या अधिक थी। राज्यपाल का यह अनुमान था कि कांग्रेस के नेता हरेकृष्ण मेहताब को 140 सदस्यों में से 70 सदस्यों का समर्थन प्राप्त नहीं है, अतः वह स्थायी सरकार नहीं बना सकते। इस लिए राज्यपाल ने विधान-सभा को निलम्बित करने तथा राष्ट्रपति-शासन दोबारा लागू करने की सिफारिश की। यह तब किया गया जब हरेकृष्ण मेहताब वहां पर सरकार बनाने के लिए बहुत ही उत्सुक थे। 'दि स्टेट्समैन', मार्च 24, 1971, पृष्ठ 1

बिहार में 1969 में जब मध्यावधि चुनाव हुये तो वहां पर किसी भी राजनीतिक दल का बहुमत नहीं था। हालांकि कांग्रेस के सदस्यों की संख्या अन्य दलों की अपेक्षा अधिक थी। विधान-सभा में अनेक राजनीतिक दलों की स्थिति इस प्रकार थी कांग्रेस 118, समाजवादी सोशलिस्ट पार्टी 52, जनसंघ 34, कम्यूनिस्ट पार्टी 25, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी 17, जनता पार्टी 14, झारखण्ड 10, लोकतान्त्रिक कांग्रेस दल 9, भारतीय क्रान्ति दल तथा सोशित दल प्रत्येक के 6, स्वतन्त्र तथा मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट प्रत्येक के 3, तथा निर्दलीय 20 ('दि स्टेट्समैन', फरवरी 21,

1969 पृष्ठ 1.)। वहां के राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो ने वहां की राजनैतिक स्थिति का अनुमान लगाने के पश्चात् कांग्रेस के नेता सरदार हरिहरसिंह को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।

49. 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम 9, नम्बर 6-10, नवम्बर 23, 1967, कॉलम 2321.
50. 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 27, 1971, पृष्ठ 7.
51. वी. रामाकृष्णा नैय्यर 'कान्स्टिट्यूशनल एक्सपेरिमेन्ट इन केरल', 1964, पृष्ठ 46.
52. 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', मार्च 30, 1967, पृष्ठ 6.
53. 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम 1, नम्बर 1-10, मार्च 20, 1967, कॉलम 37.
54. 'दि स्टेट्समैन'; मार्च 16, 1971, पृष्ठ 1.
55. वही; मार्च 17, 1971, पृष्ठ 1,
56. वही; अप्रैल 3, 1971, पृष्ठ 9.
57. 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', मार्च 25, 1968, पृष्ठ 6.
58. वही।
59. 'दि स्टेट्समैन', मार्च 25, 1968, पृष्ठ 6.
60. वही; मार्च 8, 1967, पृष्ठ 1.
61. वही; मार्च 13, 1967, पृष्ठ 1.
62. वही; मार्च 5, 1967, पृष्ठ 1.
63. हरेकृष्णा मेहताब, 'दि ट्रिब्यून', मार्च 27, 1965.
64. 'दि स्टेट्समैन', अप्रैल 17, 1967, पृष्ठ 6.
65. 'दि ट्रिब्यून', जुलाई 20, 1962.
66. 'दि स्टेट्समैन', अक्तूबर 25, 1967, पृष्ठ 1.
67. चरणसिंह के त्यागपत्र के पश्चात् संयुक्त विधायक दल अपना नेता चुनने में सफल नहीं हुआ, अतः वहां पर राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया गया।
    'दि स्टेट्समैन' फरवरी 26, 1968 पृष्ठ 1.
68. वही।
69. 'पेट्रियट' मार्च 30, 1968, पृष्ठ 1.
70. 'दि स्टेट्समैन', अप्रैल 9, 1968, पृष्ठ 8.
71. 'पेट्रियट', अप्रैल 9, 1968, पृष्ठ 1.
72. 'दि स्टेट्समैन', अप्रैल 8, 1968, पृष्ठ 1.
73. 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी शृंखला वॉल्यूम 25, नम्बर 11-20, मार्च 12, 1969, कॉलम 276,
74. 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम 25, नम्बर 16-20; मार्च 13, 1969, कॉलम 269, 70.
75. वही; कॉलम 233.
76. 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', मार्च 13, 1969, पृष्ठ 8.
77. 'राज्य सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 65. नम्बर एक, जुलाई 22, 1968, कालम 146.
78. 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', सितम्बर 26, 1969, पृष्ठ 8.

79 1965 में केरल में कम्यूनिस्ट पार्टी के नेता नम्बूदरीपाद को, 1971 में उड़ीसा में कांग्रेस के नेता हरेकृष्ण मेहताब को, मार्च 1971 में पश्चिम बंगाल में संयुक्त वामपंथी मोर्चे के नेता ज्योति बसु को इसी आधार पर सरकार बनाने की आज्ञा नहीं दी गई थी। केरल तथा उड़ीसा में राज्यपालों ने राष्ट्रपति-शासन लागू करने की सिफारिश की थी और पश्चिम बंगाल में राष्ट्रपति-शासन जारी रखने की सिफारिश की गई थी।
80 'दि स्टेट्समैन' फरवरी 26, 1969, पृष्ठ 1
81. वही, मार्च 2, 1973, पृष्ठ 1
82 डा० पावते ने कहा था Stability meant not only the numerical superiority of the ruling party but also its ability to hold on to the majority strength and continuing with it' *The Statesman* February 13, 1967, p 16
83 1967 के आम चुनावों के पश्चात् हरियाणा की 81 सदस्यों वाली विधान-सभा मे कांग्रेस के 48 सदस्य थे, लेकिन इस सरकार का 13 वें दिन पतन हो गया। इसी प्रकार मध्यप्रदेश में भी 1967 के चुनाव के पश्चात् कांग्रेस का बहुमत था, परन्तु इसका भी जुलाई 1967, अर्थात् पांच महीने के बाद पतन हो गया।
84 'दि स्टेट्समैन', अप्रैल 26, 1967, पृष्ठ 1
85 'दि स्टेट्समैन', अक्तूबर 27, 1970, पृष्ठ 9
86 वही, दिसम्बर 19, 1970, पृष्ठ 1
87 वही, जुलाई 17, 1971, पृष्ठ 1
88 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स,' दिसम्बर 28, 1971, पृष्ठ 1
89. 'दि स्टेट्समैन,' जून 2, 1971, पृष्ठ 1
90 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वाल्यूम 9, नम्बर 6-10, नवम्बर 23, 1967, कालम 2319-20
91 वही।
92

मुख्यमन्त्री का नाम	पद ग्रहण करने की तिथि	अपदस्थ होने की तिथि
महामाया प्रसाद सिन्हा	5 3 1967	25 1 1968
सतीश प्रसाद सिंह	28 1 1968	31 1 1968
बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल	31 1 1968	22 3 1968
भोला पासवान शास्त्री	22 3 1968	25 6 1968
राष्ट्रपति-शासन	26 6 1968	26 2 1969
हरिहर सिंह	26 2 1969	18 6 1969
भोला पासवान शास्त्री	26 6 1969	1 7.1969
राष्ट्रपति शासन	4 7 1969	16 2 1970
दारोगा प्रसाद राय	16 2 1970	18 12 1970
कर्पूरी ठाकुर	22 12 1970	1 6 1971
भोला पासवान शास्त्री	2 6 1971	27 12 1971
राष्ट्रपति शासन	9 1 1972	मार्च, 1972
केदार पाण्डेय	मार्च, 1972	24 6 1973

93.

चन्द्रभानु गुप्त	14 3 1967	1 4 1967
चरण सिंह	3 4 1967	19 2 1968
राष्ट्रपति-शासन	26 2 1968	26 2 1969
चन्द्रभानु गुप्त	18 2 1969	18 2 1970

	चरण सिंह	18.2.1970	10.10.1970
	राष्ट्रपति-शासन	10.10.1970	19.10.1970
	त्रिभुवन सिंह	19.10.1970	30.3.1971
	कमलापति त्रिपाठी	1.4.1971	12.6.1973
	राष्ट्रपति-शासन	13.6.1973	7.11.1973
	हेमवती नन्दन बहुगुणा	8.11.1973 के पश्चात्	
94.	गुरनाम सिंह	7.3.1967	22.11.1967
	लछमण सिंह गिल	25.11.1967	21.8.1968
	राष्ट्रपति-शासन	23.8.1968	16.2.1969
	गुरनाम सिंह	17.2 1969	26.3.1970
	प्रकाश सिंह बादल	27.3.1970	13.6.1971
	राष्ट्रपति-शासन	15.6.1971	फरवरी, 1972
95.	अजय मुकर्जी	14.3.1967	21.11.1967
	पी० सी० घोष	21.11.1967	21.2.1968
	राष्ट्रपति-शासन	21.2.1968	24.2.1969
	अजय मुकर्जी	25.2.1969	18.3.1970
	राष्ट्रपति-शासन	19.3.1970	2.4.1971
	अजय मुकर्जी	2.4.1971	25.6.1971
	राष्ट्रपति-शासन	25.6.1971	फरवरी, 1972
96.	राजा नरेशचन्द्र सिंह	13.3.1969	20.3.1969
97.	नन्दिनी सत्पथी	14.6.1971	3.3.1972
98.	अलीमुद्दीन	20.3.1972	28.3.1973

99. 'दि स्टेट्समैन', मार्च 14, 1967, पृष्ठ 1.

100. The Governor on the second page of his report to the president said, that "The Congress Legislature party extended its support to the Gill Ministry. Such an arrangement was ab-initio fraught with instability as the Gill Ministry consisted of and was led by Legislators who were drawn together not by any ideological affinity but by desire to gain political power." '*Lok Sabha Debates*', 4th series, Vol. 20, Nos 25-28, August 29, 1968, Col. 3053.

101. K. C. Reddy said subsequently, "When he appointed the Raja to form the Government, he had no doubt that the SVD had lost majority in the Assembly, however, it was considered proper in the circumstances that he should seek and be given an opportunity to prove on the floor of the House whether he had a majority. It was expected that the Chief Minister would take the opportunity but instead, he had chosen to resign and alongwith resignation advised that the Assembly should be dissolved". '*Patriot*', March 26, 1969, P. 7.

102. 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 23, 1967, पृष्ठ 1.

103. वही।

104. 'दि ट्रिब्यून,' नवम्बर 26, 1967, पृष्ठ 1.

105. 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 25, 1967, पृष्ठ 1.

106. 'पेट्रियट', जुलाई 24, 1968, पृष्ठ 5.

107 वही।
108 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 25, 1968, पृष्ठ 12
109 राज्यपाल ने इसका औचित्य बतलाते हुए कहा था
"In a fluid situation like this nothing can be taken for granted The resignation of Mr Gurnam Singh came all of a sudden and since Legislators keep on changing from one side to the other crossing the floor, it was necessary to know the exact position and that requires some time It appeared there were three major parties in the Legislature Mr Gurnam Singh was the Chief Minister for a long time It was not desirable that the ruling party should not be given a chance to reform the Government It was open to Mr Gurnam Singh to reconstitute his Government in such a way that it would be in a position to enjoy the confidence of the Legislature"
The Statesman, November 25, 1967, p 12
110 वही, अप्रैल 8, 1972, पृष्ठ 1
111 'दि ट्रिब्यून', अप्रैल 14, 1971, पृष्ठ 1
112 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', मार्च, 20, 1970, पृष्ठ 1
113. 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम् 25, नम्बर 16-20, मार्च 12, 1969 कॉलम 233
114 पीटर ब्रूमहैड, 'पार्लियामेन्टरि अफेयर्स' वाल्यूम् 24, नम्बर 2, 1971, पृष्ठ 104.

3

मुख्यमन्त्री की बरख़ास्तगी

अविश्वास का प्रस्ताव

संविधान की धारा 164 (1) के अनुसार मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है तथा वह उसके प्रसाद पर्यन्त पद पर रहता है। राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद पर रहने का साधारणतया अर्थ यह है कि मुख्यमंत्री उस समय तक पद पर रहता है जब तक कि विधान-सभा में उसका बहुमत है। डाक्टर बी० आर० अम्बेडकर के अनुसार मुख्यमंत्री उस समय पद पर नहीं रहेगा जब उसका विधान-सभा में बहुमत नहीं होगा। जब मंत्रिमण्डल में बहुमत का विश्वास नहीं रहता उसी समय राष्ट्रपति (तथा राज्यपाल) से यह आशा की जाती है कि वे मन्त्रिमण्डल को बरखास्त कर देंगे।[1]

इसलिए राज्यपाल उस समय मुख्यमन्त्री को बरखास्त कर देंगे जब अविश्वास का प्रस्ताव पास होने के पश्चात् वह त्यागपत्र न दे। भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश भी इस दृष्टिकोण से सहमत हैं।[2]

मन्त्रिमण्डल में विधान-सभा का उस समय विश्वास नहीं रहता जब विधान-सभा या तो औपचारिक रूप से मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे या मन्त्रिमण्डल द्वारा इस संबंध में औपचारिक रूप से पेश किए गए प्रस्ताव को रद्द कर दे।[3] उसी प्रकार से यदि विधान-सभा, बजट या किसी वित्त विधेयक को या किसी महत्त्वपूर्ण नीति से संबंधित विधेयक को रद्द कर दे तो उसका अर्थ भी यही होता है कि मन्त्रिमण्डल में विधान-सभा का विश्वास नहीं है।

जहां तक मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध औपचारिक रूप से अविश्वास का प्रस्ताव पास करने का संबंध है, यह मुख्यमन्त्री या सारे मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध पास होना चाहिये। यदि अविश्वास का प्रस्ताव किसी एक मन्त्री के विरुद्ध पास किया जाये तो उस स्थिति में मुख्यमन्त्री के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह भी त्यागपत्र दे या उसे सारे मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव समझे। उदाहरणतया अक्तूबर 1969, में केरल के मुख्यमन्त्री ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद जब पश्चिमी जर्मनी गए हुए थे तो उनकी अनुपस्थिति में विधान-सभा ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें स्वास्थ्य मन्त्री बी० वेलिंग्टन के विरुद्ध जांच करने की मांग की गई थी।[4] जब नम्बूदरीपाद वापस आए तो उन से यह पूछा गया कि क्या वे मार्क्सवादी मन्त्री के विरुद्ध, विधान-सभा ने जो जांच पड़ताल करने का प्रस्ताव पास किया है, उसे अपने मन्त्रिमण्डल में अविश्वास का प्रस्ताव

समझेंगे, उसके उत्तर में मार्क्सवादी नेता ने कहा कि वे उस समय तक अपना त्यागपत्र नहीं देंगे जब तक विधान-सभा प्रत्यक्ष रूप से उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास नहीं कर देती। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि वे विधान-सभा में औपचारिक रूप में प्रस्ताव पेश करके यह जानने का भी कष्ट नहीं करेंगे कि क्या विधान-सभा को उनके मन्त्रिमण्डल में विश्वास है या नहीं। यदि विधान-सभा में किसी ने उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया तो उस पर तुरन्त मतदान करवाया जायेगा।[5] विधान-सभा का उस समय अधिवेशन हो रहा था।

यदि वित्त विधेयक पर सरकार की हार हो जाये तो उसके पास त्यागपत्र देने के अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प नहीं होता। उदाहरणतया, बिहार में जब भोला पासवान शास्त्री के मन्त्रिमण्डल की नवम्बर 1970, में पशुपालन से सर्बधित मांगों पर हार हुई तो मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ा।[6] इसी प्रकार यदि सरकार की महत्वपूर्ण नीति से सबधित विषय पर हार हो जाय और यह पराजय इस बात का सूचक हो कि मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा तो उस स्थिति में भी मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ेगा। केरल में जब विधान-सभा ने मुख्यमन्त्री के विरोध के बावजूद, कुछ मन्त्रियों के विरुद्ध जाच का प्रस्ताव पास कर दिया तो उसने त्यागपत्र दे दिया,[7] क्योंकि इसका सबध एक महत्त्वपूर्ण नीति से था और यह इस बात का भी सूचक था कि मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा। लेकिन इस सबध में यह चर्चा करनी भी आवश्यक है कि मन्त्रिमण्डल की हार चाहे महत्त्वपूर्ण विषय पर हुई हो तो भी उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह त्यागपत्र दे बशर्ते कि इसका प्रभाव विधान-सभा में मन्त्रिमण्डल का जो बहुमत है उस पर न पड़े।[8] इसके अतिरिक्त इस बात का निर्णय करना भी सरकार का ही काम है कि क्या वह हार महत्त्वपूर्ण विषय पर है या किसी साधारण विषय पर। उदाहरणतया 1952 में मद्रास में चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य की सरकार की शिक्षा सबधी विधेयक पर हार हो गई थी लेकिन उसने यह कह कर इस हार को कोई महत्त्व नहीं दिया कि इस विधेयक का सबध किसी महत्त्वपूर्ण नीति से नहीं था।[9] इसी प्रकार 1967 में पजाब में गुरनाम सिंह ने उस समय त्यागपत्र नहीं दिया जब राज्यपाल के भाषण के सबध में पास किए जाने वाले प्रस्ताव पर सरकार की हार हो गई थी।

यदि सरकार की पराजय किसी ऐसे मतदान में हो जाये जिसके लिए वह तैयार न हो (स्नैप वोट) तो स्थिति बिल्कुल भिन्न होती है। सरकार उस समय त्यागपत्र नहीं देगी जब किसी साधारण बिल पर उसकी अचानक हार हो जाये। उदाहरणतया, आंध्र में ब्रह्मानन्द रेड्डी की सरकार की 1970 में कृषि से सबधित रोग तथा बीमारियों से सबधित सशोधन बिल पर हार हो गई थी, किन्तु उसने त्यागपत्र नहीं दिया।[10] इंग्लैंड में भी ऐसी ही प्रथा है। एडवर्ड हीथ की कजर्वेटिव सरकार ने उस समय त्यागपत्र नहीं दिया जब नवम्बर, 1972 में आप्रवासन नीति (इम्मीग्रेशन पॉलिसी) पर उसकी अचानक हार हो गई थी।[11] यदि सरकार

की हार वित्त विधेयक पर आकस्मिक मतदान में हो जाये तो क्या उसे त्यागपत्र देना पड़ेगा या नहीं; इस संबंध मे दो प्रकार के विचार हैं। उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी के अनुसार ऐसा होने पर मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ेगा। उदाहरणतया 25 अगस्त, 1969 को उत्तर प्रदेश में जब विपक्ष ने जेलों के अनुदान से संबंधित मांगों पर मतदान की मांग की तो उस समय अध्यक्ष ने सदन को स्थगित कर दिया। लेकिन राज्यपाल ने कहा कि यदि जेलों से संबंधित अनुदान की मांगों पर सरकार हार जाती तो उसे त्यागपत्र देना ही पड़ता। वही सरकार दोबारा बजट पेश नहीं कर सकती थी। यह हो सकता है कि कांग्रेस दल का विधान-सभा में बहुमत होने के कारण उसके नेता को पुनः सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाता और फिर वह दोबारा बजट पेश करता।[12] दूसरा मत इस संबंध में यह है कि यदि सरकार वित्त विधेयक पर आकस्मिक मतदान मे हार जाये तो उसे त्यागपत्र देने की आवश्यकता नहीं। उदाहरणतया 13 दिसम्बर, 1973 को बिहार में जब गफूर सरकार की बिक्री कर (संशोधन बिल) पर हार हुई तो उस समय विपक्ष ने यह मांग की थी कि सरकार को त्यागपत्र दे देना चाहिए (दि हिन्दुस्तान टाईम्स, 14-12-73, पृष्ठ 1), परन्तु बिहार के विधान-सभा अध्यक्ष ने इस संबंध में यह निर्णय दिया कि सरकार को त्यागपत्र देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि दो दिन पहले ही विपक्ष का अविश्वास का प्रस्ताव 86 मतों के मुकाबले 175 मतों से रद्द कर दिया गया था। (दि हिन्दुस्तान टाईम्स, 15-12-73, पृष्ठ 1)। यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि 1970 में गुरनाम सिंह मन्त्रिमण्डल में जब वित्त मन्त्री ने बजट पेश करने से इन्कार कर दिया था तो उस समय स्वयं मुख्यमन्त्री ने बजट पेश किया था और वह पास नहीं हो सका था। लेकिन बजट पर हार होने पर भी गुरनाम सिंह ने तुरन्त त्यागपत्र नहीं दिया। 24 घण्टे त्यागपत्र की प्रतीक्षा करने के पश्चात् राज्यपाल ने उसे तुरन्त त्यागपत्र देने के लिए लिखा। वह बजट पर पहले दिन हार होने के पश्चात् अगले दिन भी त्यागपत्र दिए बिना विधान-सभा की बैठक में शामिल हुआ। ऐसा करना उसके लिए उचित नहीं था और उसके इस अनुचित व्यवहार पर संसद में भी बहस हुई।

राज्यपाल का भाषण और सरकार की हार

अविश्वास के संबंध में मतदान के बारे में इस बात की चर्चा करना भी आवश्यक है कि यदि सरकार की हार किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर भी हो जाये, तो भी उसके लिए त्यागपत्र देना उस समय तक आवश्यक नहीं होता जब तक विधान-सभा में उसे बहुमत प्राप्त है। जहां पर मिली जुली सरकार होती है वहां पर कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर सरकार की हार इसलिए हो सकती है क्योंकि, सरकार में सम्मिलित कुछ दल, कुछ विशेष विषयों को समर्थन देने से इन्कार कर सकते हैं लेकिन उन कुछ विषयों को छोड़कर वे सरकार का समर्थन करते हैं। इसलिए यह संभव हो सकता है कि सरकार की कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर हार होते हुए भी उसका विधान-सभा में बहुमत बना रहे। उदाहरणतया अप्रैल 1967, मे पंजाब सरकार की हार 49 मतो के मुकाबले में 53 मतों

से राज्यपाल के भाषण से सम्बन्धित प्रस्ताव पर हुई थी।[13] लेकिन इस हार के कारण न तो मुख्यमन्त्री ने त्यागपत्र दिया और न ही राज्यपाल ने उसे बरखास्त किया।[14] इस संबंध में टिप्पणी करते हुए ट्रिब्यून ने लिखा था, कि पंजाब की ये परिस्थितियां एक ही दिशा में संकेत करती हैं और वह दिशा है राष्ट्रपति-शासन। गुरनाम सिंह मन्त्रिमण्डल की बुद्धवार को जो पराजय हुई है उसके कारण उसे त्यागपत्र दे देना चाहिये। गुरनाम सिंह तथा अन्य विधि विशेषज्ञ जो तर्क दे रहे हैं उसका कोई महत्व नहीं है। *यदि गुरनाम सिंह बुद्धवार को विधान-सभा में हुई हार को अविश्वास का* प्रस्ताव मानने को तैयार नहीं तो उनके लिए केवल एक ही रास्ता बाकी है और वह है मन्त्रिमण्डल का प्रस्ताव द्वारा विधान सभा का विश्वास प्राप्त करना। यदि उन्हें यह विश्वास था कि विधान-सभा में उनका बहुमत है तो उन्हें ऐसे भद्दे ढंग से विधान-*सभा को अनिश्चित काल के लिए स्थगित नहीं करना चाहिये था।*[15]

लेकिन इस संबंध में राज्यपाल का यह विचार था, कि जिस दिन राज्यपाल का उनके भाषण के लिए धन्यवाद का प्रस्ताव पेश करने से संबंधित सरकार के प्रस्ताव में विपक्ष द्वारा पेश किया हुआ संशोधन पास हुआ, उस दिन विधान-सभा में राजनैतिक *स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं थी कि उसके आधार पर सरकार को बरखास्त किया जा* सकता।[16] उनका विचार था कि सरकार को केवल तब ही बरखास्त किया जाना चाहिये जब या तो औपचारिक रूप से सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाये या औपचारिक रूप से सरकार में विश्वास का प्रस्ताव रद्द हो जाये और *फिर भी सरकार त्यागपत्र देने से इन्कार कर दे। राज्यपाल का यह विचार तर्कसंगत* है। के० संथानम के अनुसार, राज्यपाल का उसके भाषण के लिए धन्यवाद करने के लिए सरकार के प्रस्ताव में विपक्ष का संशोधन यदि पास हो जाये तो उसका यह अर्थ नहीं कि सरकार का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा। सरकार विपक्ष द्वारा पेश किए *हुए संशोधन को मान सकती है।* उनका तो यह भी विचार है कि बजट में विपक्ष की मांग पर की गई थोड़ी सी कटौती के कारण भी सरकार को त्यागपत्र नहीं देना चाहिये, बशर्ते कि सरकार उस कटौती को मानने के लिए तैयार हो। सरकार को केवल तब ही त्यागपत्र देना चाहिये जब बजट में कटौती इतनी अधिक हो कि उस पैसे के बिना सरकार का काम ही न चल सके।[17] लेकिन इस सिद्धांत को उस समय नहीं माना जा सकता जब राज्यपाल के भाषण पर हार सरकार के समर्थक विधायकों द्वारा दल छोड़ने के कारण हो जाये। ऐसी परिस्थिति में हार होने पर भी यदि सरकार *त्यागपत्र नहीं देती तो राज्यपाल के पास उस सरकार को* बरखास्त करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं होगा। इसीलिए मार्च, 1969 में उत्तर प्रदेश में जब चन्द्रभानु गुप्त की सरकार की राज्यपाल के भाषण से संबंधित प्रस्ताव पर चरणसिंह तथा उनके साथियों द्वारा दल छोड़ने के कारण हार हुई तो उन्होंने तुरन्त त्यागपत्र दे दिया था। इसी प्रकार 30 मार्च, 1971 को उत्तर प्रदेश में ही त्रिभुवन नारायण सिंह ने उस समय अपना त्यागपत्र दे दिया था जब उनकी सरकार की राज्यपाल के भाषण से

संबंधित प्रस्ताव पर हार हुई। ऐसी परिस्थिति में एन० एन० भरीन के इस विचार के साथ सहमत होना कठिन है कि यदि मुख्यमन्त्री त्यागपत्र न दे तो भी कोई बात नहीं जैसा कि लार्ड रॉसबरी ने महारानी के अभिभाषण पर आठ मतों से हार होने पर भी त्यागपत्र नहीं दिया था।[18]

अध्यक्ष के चुनाव में सरकार की हार

अविश्वास के प्रस्ताव के संबंध में यह भी प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि सरकार द्वारा अध्यक्ष पद के लिए खड़े किए गए उम्मीदवार की हार हो जाये तो क्या मुख्यमन्त्री के लिए त्यागपत्र देना आवश्यक होगा ? इस का उत्तर यह है कि सरकार के लिए ऐसा होने पर भी त्यागपत्र देना आवश्यक नहीं है। उदाहरणतया 17 मार्च, 1967 को हरियाणा में उस समय के मुख्यमन्त्री भगवत्दयाल ने पंडित दयाकिशन को अध्यक्ष पद के लिए चुनाव लड़ने के लिए खड़ा किया था जिसकी चुनाव में हार हो गई थी। वास्तव में इस देश के स्वतंत्रता के पश्चात् के राजनैतिक इतिहास में यह पहला उदाहरण था जब कि कांग्रेस दल द्वारा अध्यक्ष पद के लिए खड़ा किया हुआ उम्मीदवार, किसी दूसरे कांग्रेसी द्वारा विपक्ष की सहायता से हरा दिया गया हो। राव वीरेन्द्र सिंह के इस प्रकार से अध्यक्ष चुने जाने के पश्चात् विधान-सभा के 12 कांग्रेसी सदस्यों ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया तथा उन्होंने विपक्ष के साथ मिलकर संयुक्त विधायक दल बना लिया। 22 मार्च 1967, को भगवत्दयाल ने अपने मन्त्रि-मण्डल से त्यागपत्र दे दिया। चूंकि मुख्यमन्त्री ने अध्यक्ष के चुनाव में हार होते ही त्यागपत्र नहीं दिया, यह इस बात का सूचक है कि यदि अध्यक्ष के चुनाव में सरकार की हार हो जाये तो उस के लिए त्यागपत्र देना आवश्यक नहीं। इस तर्क के पक्ष में बिहार का उदाहरण भी दिया जा सकता है। वहां पर 1969 के मध्यावधि चुनावों के पश्चात् अध्यक्ष के पद के लिए सत्तारूढ़ दल के उम्मीदवार की 155 के मुकाबले में 172 मतों से हार हो गई थी, लेकिन फिर भी हरिहर सिंह ने जो उस समय मुख्यमन्त्री थे, अपनी सरकार का त्यागपत्र नहीं दिया था।[19]

मुख्यमन्त्री द्वारा विधान-सभा का सत्र बुलाने से इन्कार करना

राज्यपाल को यदि यह विश्वास हो जाये कि मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत नहीं है और वह राज्यपाल के कहने पर भी विधान-सभा का सत्र बुलाने को तैयार नहीं है तो भी राज्यपाल उस मुख्यमन्त्री को बरखास्त कर सकता है। राज्यपालों की समिति की रिपोर्ट के अनुसार, विधान-सभा में मुख्यमन्त्री का बहुमत है या नहीं उसका निर्णय साधारणतया विधान-सभा द्वारा ही किया जाना चाहिये और यदि कोई मुख्यमन्त्री विधान-सभा की बैठक बुलाने से इन्कार करता है तो उसका अर्थ यह हो सकता है कि विधान-सभा में उस मुख्यमन्त्री का बहुमत नहीं रहा और राज्यपाल को ऐसी परिस्थिति में मुख्यमन्त्री को बरखास्त कर देना चाहिये, बशर्ते कि उस मन्त्रि-मण्डल के स्थान पर कोई दूसरा ऐसा मन्त्रिमण्डल बनाया जा सके जिसे विधान-सभा का विश्वास प्राप्त हो। यदि ऐसी वैकल्पिक सरकार की स्थापना की संभावना नहीं है

तो राज्यपाल के पास अनुच्छेद 356 के अधीन रिपोर्ट करने के अतिरिक्त और अन्य कोई रास्ता नहीं रह जाता।"

इस संबंध में यह चर्चा करनी भी आवश्यक है कि "प्रशासन सुधार आयोग" (Administrative Reforms Commission) ने इस संबंध में यह कहा है, कि ऐसी परिस्थितियां पहले उत्पन्न हो चुकी हैं और भविष्य में भी उत्पन्न हो सकती हैं, जहां पर मुख्यमन्त्री विधान-सभा में बहुमत खो देने के पश्चात राज्यपाल के कहने पर भी न तो विधान सभा का अधिवेशन बुलाने को तैयार हो और न ही त्यागपत्र देने को राजी हो। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर राज्यपाल के पास अनुच्छेद 164 के अनुसार उस मुख्यमन्त्री को बरखास्त करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता।[21] अध्यक्षों के सम्मेलन (Speaker's Conference) का भी यही दृष्टिकोण है। ऐसी परिस्थिति पश्चिम बंगाल में उस समय उत्पन्न हुई जब 2 नवम्बर, 1967 को प्रफुल्ला चन्द्र घोष ने अपने 17 समर्थकों के साथ संयुक्त मोर्चे (United Front) को छोड़ दिया, जिसके कारण 280 सदस्यों के सदन में शासक दल की संख्या 136 रह गई।[22] इसके पश्चात् कांग्रेस दल ने पी० सी० घोष का समर्थन करना शुरू कर दिया और उन्होंने राज्यपाल से विधान-सभा की बैठक बुलाने के लिए निवेदन किया ताकि सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास किया जा सके।

साधारणतया जब पी० सी० घोष और उसके समर्थकों ने संयुक्त मोर्चे को छोड़ा तो उस समय मुख्यमन्त्री को या तो त्यागपत्र दे देना चाहिए था या शीघ्र ही विधान-सभा का अधिवेशन बुलाना चाहिए था। पहला रास्ता तो बिहार के मुख्यमन्त्री भोला पासवान शास्त्री ने अपनाया। 21 जून, 1969 को जब जनसंघ के 34 विधायकों ने उनके मन्त्रिमण्डल से समर्थन वापिस लिया तो उन्होंने तुरन्त 22 जून को अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया था।[23] दूसरा रास्ता उड़ीसा के मुख्यमन्त्री विश्वनाथ दास ने जून 1972, में अपनाया था। जब उनके कुछ समर्थक उन्हें छोड़ कर कांग्रेस में जा मिले तो उन्होंने विधान-सभा की बैठक की तिथि तुरन्त निश्चित की[24] और जब उन्हें यह पूर्ण विश्वास हो गया कि विधान सभा का बहुमत उनके साथ नहीं है तो विधान-सभा की बैठक की प्रतीक्षा किए बिना अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया।[25] यही रास्ता आर० एन० सिंह देव ने उड़ीसा में जनवरी 1971, में अपनाया था। जब जन कांग्रेस के 25 सदस्यों ने स्वतन्त्र जन कांग्रेस की संयुक्त सरकार से समर्थन वापिस लिया तो उन्होंने 19 जनवरी को तुरन्त विधान-सभा की बैठक बुलाई। उन्हें जब यह पूर्ण विश्वास हो गया कि विधान-सभा में उनका बहुमत नहीं रहा तो 9 जनवरी को ही विधान-सभा की बैठक की प्रतीक्षा किए बिना उन्होंने त्यागपत्र दे दिया।[26] पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री को भी इन दोनों रास्तों में से किसी एक पर चलना चाहिये था लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया जिसके परिणामस्वरूप राज्यपाल को उन्हें यह कहना पड़ा कि वे विधान-सभा की बैठक सात दिन के भीतर बुलाएँ। मुख्यमन्त्री ने यह सुझाव दिया कि विधान-सभा की बैठक 18 दिसम्बर को बुलाई जाये,

अर्थात् वह विधान-सभा में बहुमत खो देने के पश्चात् 46 दिन के बाद अधिवेशन बुलाना चाहते थे।[27] लेकिन वहां के राज्यपाल धर्मवीर ने यह सुझाव मानने से इन्कार कर दिया और मुख्यमन्त्री को कहा कि अधिवेशन 30 नवम्बर से पहले बुलाया जाये।[28] परन्तु मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल का यह सुझाव मानने से इन्कार कर दिया,[29] जिसके परिणामस्वरूप राज्यपाल ने मन्त्रिमण्डल को बरखास्त कर दिया।[30] चूंकि राज्यपाल जिस तिथि से पहले विधान-सभा का अधिवेशन बुलाना चाहता था और जिस तिथि के लिए मुख्यमन्त्री ने सुझाव दिया था, उनमें केवल 18 दिन का अन्तर था, इसलिए यदि राज्यपाल मुख्यमन्त्री के सुझाव को मान लेता तो अधिक उचित होता।

पश्चिम बंगाल के राज्यपाल का समर्थन करते हुए यशवन्त राव चव्हाण ने, जो उस समय गृहमन्त्री थे, कहा कि विधान-सभा तथा कार्यपालिका का संबंध बहुत नाजुक है और राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि सरकार सामूहिक रूप से विधान-पालिका के प्रति उत्तरदायी रहे। बंगाल का राज्यपाल यही कार्य कर रहा था। वह एक रेफ्री के रूप में काम कर रहा था। जब राज्यपाल को यह स्पष्ट मालूम हो गया कि विधान-सभा में मन्त्रिमण्डल का बहुमत नहीं है तो उनके पास विधान-सभा की बैठक बुलाने के सिवा और कोई दूसरा रास्ता नहीं रह गया था।[31] परन्तु आश्चर्य-जनक बात तो यह है कि यह तर्क उत्तर प्रदेश में उस समय लागू नहीं किया गया जब चरणसिंह की सरकार से सत्ताधारी कांग्रेस ने अपना समर्थन वापस लिया। वहां के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने चरणसिंह को, विधान-सभा में अपना बहुमत प्रदर्शित करने के स्थान पर त्यागपत्र देने के लिए कहा। विधान-सभा की बैठक 6 अक्तूबर 1970, को होनी थी और मुख्यमन्त्री विधान-सभा की बैठक उससे पहले भी बुलाने को तैयार थे। लेकिन फिर भी राज्यपाल ने राष्ट्रपति को यह सिफारिश की कि राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया जाये, क्योंकि चरणसिंह ने राज्यपाल के कहने पर त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया था। उन की सिफारिश पर विधान-सभा की बैठक से तीन दिन पहले 3 अक्तूबर, 1970 को राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया गया।[32] संवैधानिक दृष्टि से ऐसा करना उचित नहीं था क्योंकि मुख्यमन्त्री विधान-सभा में अपना बहुमत साबित करने के लिए तैयार थे और उन्हें यह अवसर दिया जाना चाहिये था। पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री को तो इसलिए बरखास्त कर दिया गया क्योंकि वे विधान-सभा का सत्र बुलाने को तैयार नहीं थे, लेकिन उत्तरप्रदेश के मुख्यमन्त्री को विधान-सभा में अपना बहुमत सिद्ध नहीं करने दिया गया और उन्हें तब बरखास्त किया गया जबकि विधान-सभा का अधिवेशन केवल तीन दिन पश्चात् होने वाला था।

लेकिन इस बार राज्यपाल के इस व्यवहार को उचित ठहराने के लिए एक नये सिद्धांत का निर्माण किया गया, और कहा गया कि संविधान के अनुसार राज्यपाल मन्त्रिमण्डल से परामर्श करता है और जब मन्त्रिमण्डल का सामूहिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया तो फिर राज्यपाल मन्त्रिमण्डल से परामर्श कैसे करता। राज्यपाल का यह संवैधानिक कर्त्तव्य है कि वह एक ऐसे मन्त्रिमण्डल के परामर्श से कार्य करे जो

विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी हो, अर्थात् जिसका विधान-सभा में बहुमत हो। मन्त्रिमण्डल में दो गुट बन जाने के पश्चात् राज्यपाल एक गुट के परामर्श से जिसका बहुमत नहीं है, कैसे काम कर सकते थे ?[33] अटार्नी जनरल ने भी यह विचार प्रकट किया कि मिली जुली सरकार के समाप्त हो जाने पर चरणसिंह को मिली जुली सरकार का मुख्यमन्त्री बने रहने का कोई अधिकार नहीं है और राज्यपाल उनके परामर्श पर चलने के लिए बाध्य नहीं है।[34]

यदि इन तर्कों का हम अधिक बारीकी के साथ अध्ययन करें तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि इनमें कोई औचित्य नहीं है। उदाहरणतया जहां तक मन्त्रियों का बरखास्त करने के अधिकार का सम्बंध है यह अधिकार केवल मुख्यमन्त्री का है न कि मन्त्रिमण्डल का। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि राज्यपाल ने चरणसिंह के उस परामर्श को तो मान लिया जिसके अनुसार उन्होंने कुछ मन्त्रियों से उनके विभाग छीनने के लिए कहा था लेकिन उनके उस परामर्श को नहीं माना जिसमें कुछ मन्त्रियों को बरखास्त करने के लिए कहा गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ सन्दर्भों में उनके परामर्श को माना जा सकता है लेकिन अन्य सन्दर्भों में नहीं। इसके अतिरिक्त हमें इस तथ्य को भी नहीं भूलना चाहिए कि आरम्भ में चरणसिंह ने केवल भारतीय क्रान्ति दल की सरकार के नेता होने के कारण केवल अपने दल की सरकार बनाई थी जो कि एक अल्पसंख्यक सरकार थी। आरम्भ में यह कोई मिली जुली सरकार नहीं थी और कुछ महीनों के पश्चात् ही कांग्रेस दल इस सरकार में शामिल हुआ था, तब यह एक मिली जुली सरकार बनी थी। जब सत्तारूढ़ कांग्रेस ने चरणसिंह मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस लिया तो उन की सरकार की स्थिति फिर से वही हो गई जो कांग्रेस (सत्तारूढ़) के उसमें सम्मिलित होने से पहले थी। यदि कांग्रेस (सत्तारूढ़) उस सरकार में शामिल नहीं होती या चरणसिंह मुख्यमन्त्री बनने के पश्चात् उसे मन्त्रिमण्डल में शामिल नहीं करते तो क्या कांग्रेस (सत्तारूढ़) इस प्रकार से अपना समर्थन वापस ले कर उन्हें उनके पद से हटा सकती थी, विशेषकर उस समय जब अन्य राजनैतिक दल जिन की संख्या कांग्रेस (सत्तारूढ़) से अधिक थी अपना समर्थन देने को तैयार थे। इस का केवल एकमात्र उत्तर यह है कि कांग्रेस विधान-सभा में अविश्वास का प्रस्ताव पास किये बिना ऐसा नहीं कर सकती थी। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि कांग्रेस (सत्तारूढ़) जो कुछ विपक्ष में होते हुए नहीं कर सकती थी, वह उसने सरकार में शामिल हो कर कर दिया।

इसके अतिरिक्त अल्पमत सरकार को भी उसके पद पर तब तक बने रहने का अधिकार प्राप्त है जब तक विधान-सभा उसके विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप से अविश्वास का प्रस्ताव पास नहीं कर देती। उसके लिए किसी विशेष दल या गुट के समर्थन की आवश्यकता नहीं है।[35] उदाहरणतया 1970 में आर० एन० सिंह देव की सरकार उड़ीसा में उस समय भी कार्य करती रही जब 140 सदस्यों वाली विधान-सभा में स्वतन्त्र और जन कांग्रेस के दलों के सदस्यों की संख्या 68 थी। मुख्यमन्त्री ने कहा कि

कुछ अन्य सदस्य उन की सरकार का समर्थन इसलिए करते हैं क्योंकि उनके ऐसा न करने के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति-शासन लागू होने का डर है। इसलिए बजट पास होने के समय या तो कुछ सदस्य अनुपस्थित हो जाते थे या वे सरकार का साथ देते थे।[36]

जब कांग्रेस (सत्तारूढ़) ने चरणसिंह सरकार से अपना समर्थन वापस लिया तो कांग्रेस (संगठन) जनसंघ, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी तथा स्वतन्त्र दलों ने अपना समर्थन दे दिया था[37], और इन सब दलों का विधान-सभा में बहुमत था। इसलिए यह कहना कि चरणसिंह की सरकार का विधान-सभा में बहुमत नहीं था, ठीक नहीं है। इसलिए नाथपाई ने यह ठीक ही कहा था, कि "यदि मिली जुली सरकार है और यदि कांग्रेस (सत्तारूढ़) उसे समर्थन दे तो वह सरकार वैधानिक है। लेकिन कुछ ऐसे कारणों से जिन्हें केवल कांग्रेस (सत्तारूढ़) ही जानती है यदि कांग्रेस (सत्तारूढ़) अपना समर्थन वापस ले ले तो उसी समय संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार की संवैधानिकता इस बात पर निर्भर है कि क्या कांग्रेस (सत्तारूढ़) उसका समर्थन करती है या नहीं। यदि कांग्रेस अपना समर्थन वापस ले ले तो संवैधानिक संकट उत्पन्न हो जायेगा। संविधान की इस प्रकार से वी० गोपाला रेड्डी ने जो व्याख्या की वह बहुत खतरनाक है और मेरे विचार में उसे भारतरत्न को नहीं तो कम से कम पद्मविभूषण की उपाधि तो दे ही देनी चाहिये।"[38]

इसके अतिरिक्त यदि हम इस सिद्धांत को मान लें कि मिली जुली सरकार के मुख्यमंत्री को उसी समय तुरन्त त्यागपत्र दे देना चाहिये, जब सरकार में सम्मिलित प्रमुख दल अपना समर्थन वापस ले ले तो इसका अर्थ यह होगा कि मुख्यमंत्री अपने पद पर उस समय तक नहीं रहते जब तक कि उन के साथ विधान-सभा का बहुमत है बल्कि वे उस समय तक पद पर बने रहते हैं जब तक कि उन्हें सरकार में सम्मिलित प्रमुख दल का समर्थन है। उदाहरणतया, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी तथा कम्यूनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) जिन की 320 सदस्यों वाली विधान-सभा में संख्या क्रमश: 50, 55, 60 तथा 65 हो और यदि वे एक मिली जुली सरकार बनायें जिस का मन्त्री संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का हो तो वह मुख्यमंत्री उस समय तक अपने पद पर बना रहेगा जब तक कम्यूनिस्ट (मार्क्सवादी) उसे पद पर रखना चाहेंगे, और जब भी वह दल अपना समर्थन वापस ले लेगा तो वह संवैधानिक संकट समझा जायेगा। संविधान की इस प्रकार की व्याख्या बहुत खतरनाक है।

इसके अतिरिक्त, भूतपूर्व विधि मन्त्री अशोक सेन ने उत्तर प्रदेश के राज्यपाल का समर्थन करते हुए मिली-जुली सरकारों के बारे में कहा कि मिली-जुली सरकार में से कम संख्या वाला दल यदि अपना समर्थन वापस ले ले तो मुख्यमन्त्री विधान-सभा की बैठक होने तक अपने पद पर उस समय भी रह सकता है जब उसका विधान-सभा में बहुमत न हो। बशर्ते कि कम संख्या वाले दल के मन्त्री अपना त्यागपत्र दे दें।[39] पंजाब में जब जनसंघ ने बादल मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस लिया तो

उस समय जनसंघ के मन्त्रियों ने त्यागपत्र दे दिए थे। इसलिए वहां पर संवैधानिक संकट नहीं हुआ और सरकार विधान सभा की बैठक होने तक अपने पद पर रह सकती थी।[40] लेकिन यदि मिली-जुली सरकार से प्रमुख दल अपना समर्थन वापस ले ले और उस दल के मन्त्री त्यागपत्र न दें तो उस समय चाहे मुख्यमन्त्री का विधान सभा में बहुमत भी क्यों न हो उसे त्यागपत्र दे देना चाहिए और उसे उसके पद पर रहने की आशा नहीं दी जानी चाहिए। संविधान की यह व्याख्या वैधानिक नहीं अपितु राजनीतिक है और यह सिद्धांत बहुत खतरनाक है।

चरणसिंह मन्त्रीमण्डल की बरखास्तगी पर टिप्पणी करते हुए बम्बई की भूतपूर्व राज्यपाल श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने कहा, कि "मुझे वे दिन याद हैं जब 1937 में हमने कांग्रेस सरकार बनाई थी। मैं उस समय पन्त जी के मन्त्रिमन्डल में मन्त्री थी। उस समय नेहरू जी ने हमें प्रजातन्त्र के उस पौधे को सींचने के लिए कहा था जो उसी समय लगाया गया था, और हम से यह भी आशा की गई थी कि हम भविष्य के स्वतन्त्र भारत के लिए अच्छी परम्पराओं का निर्माण करेंगे। उत्तर प्रदेश में जो कुछ किया गया है, उस से पन्त जी या रफी अहमद किदवई कभी भी सहमत न होते। यदि आज वे जीवित होते तो वे उत्तर प्रदेश में जो कुछ किया गया है उस के विरुद्ध आन्दोलन कर देते।"[41]

पश्चिमी बंगाल के अध्यक्ष की आलोचना इसलिए की गई थी क्योंकि उसने मन्त्रिमण्डल को विधान-सभा में बहुमत साबित करने का अवसर नहीं दिया था। क्या उसी आधार पर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल की आलोचना नहीं की जानी चाहिए ? यदि विधान-सभा का अध्यक्ष या राज्यपाल मुख्यमन्त्री को विधान सभा में उसका बहुमत प्रमाणित करने का अवसर न दे तो वास्तव में ही भारत में प्रजातन्त्र का भविष्य बहुत धूमिल है। लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल अनन्था-शियानम अय्यंगर ने ठीक ही कहा है, कि "यदि राज्यपाल सरकारों की नियुक्ति तथा बरखास्तगी में लग जायेंगे तो प्रजातन्त्र सुरक्षित नहीं है। हालांकि इस्माइलनम सहाय के मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती थी परन्तु फिर भी मैंने ऐसा नहीं किया क्योंकि उसका अर्थ प्रजातन्त्रात्मक ढंग से बनी वैधानिक सरकार में हस्तक्षेप समझा जाता।"[42]

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जब पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री ने विधान-सभा का सत्र बुलाने से इन्कार कर दिया तो राज्यपाल ने उन्हें अनुच्छेद 164 (1) के अधीन बरखास्त कर दिया, और उनके स्थान पर पी० सी० घोष को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया था। लेकिन उत्तर प्रदेश में जब चरणसिंह ने त्यागपत्र देने से इन्कार किया तो उस समय ऐसा नहीं किया गया और उसका एक मात्र कारण शायद यह था कि उत्तर प्रदेश में राज्यपाल को कोई दूसरा पी० सी० घोष नहीं मिल सका, अत वहां पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। यह आश्चर्यजनक बात है कि उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने अन्य दलों द्वारा यह लिख कर देने पर भी विश्वास नहीं किया कि वे

चरणसिंह मन्त्रिमण्डल का समर्थन करते हैं, लेकिन पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने ऐसे अनिश्चित बयानों पर विश्वास किया।

यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि यदि राज्यपाल मुख्यमन्त्री का पक्ष लेना चाहें तो वे उस समय भी मुख्यमन्त्री को विधान-सभा बुलाने के लिए न कहें जब मुख्यमन्त्री के विधान-सभा में बहुमत पर सन्देह हो। बिहार के राज्यपाल अनन्थास्यानम अय्यगर[43] तथा डी० के० बरुआ[44] ने ऐसा किया था। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने भी ऐसा ही किया था।[45]

हरियाणा में भी कार्यवाहक राज्यपाल जस्टिस मेहर सिंह ने दल बदलने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और जब चान्दराम ने सत्तारूढ़ दल छोड़ने के पश्चात् राज्यपाल से विधान-सभा का सत्र बुलाने को कहा तो भी उन्होंने मुख्यमन्त्री को विधान-सभा का सत्र बुलाने को नहीं कहा।[46] उसके पश्चात् जब बीरेन्द्र नारायण चक्रवर्ती हरियाणा के राज्यपाल नियुक्त हुए तो उन्होंने भी राव बीरेन्द्र सिंह की सरकार का विधान-सभा में सन्देहजनक बहुमत होते हुए भी विधान-सभा का सत्र बुलाने के लिए मुख्यमन्त्री को कुछ समय तक परामर्श नहीं दिया। उदाहरणतया, राज्यपाल ने राष्ट्रपति को जो अपनी रिपोर्ट लिखी थी उसमें कहा गया था कि दल बदलने के कारण ऐसा भी अवसर आया था जब सत्तारूढ़ दल की संख्या 39 रह गई थी। फिर 30 अक्तूबर, 1967 को "मैंने मुख्यमन्त्री को विधान-सभा का सत्र जितनी जल्दी हो सके बुलाने के लिए कहा तो उस समय मुख्यमन्त्री ने यह सुझाव दिया कि सत्र 30 दिसम्बर को होने वाले उप-चुनावों के पश्चात् बुलाना अधिक उचित होगा। चूंकि यह सुझाव ठीक ही था, अतः मैंने मुख्यमन्त्री पर अधिक दबाव डालना ठीक नहीं समझा।"[47] राज्यपाल ने यह भी कहा कि "राव के लिए उस समय तक त्यागपत्र देना आवश्यक नहीं जब तक वे विधान-सभा में सबसे बड़े दल के नेता हैं।"[48] जब राज्यपाल से यह प्रश्न किया गया कि क्या वे विधान-सभा का सत्र जल्दी बुलाना उचित समझते हैं, तो उसके उत्तर में राज्यपाल ने कहा कि "वर्तमान स्थिति में मेरे लिए मुख्यमन्त्री पर 27 जनवरी से पहले सत्र बुलाने के लिए दबाव डालना उचित नहीं क्योंकि पहले ही मुख्यमन्त्री उस तिथि को सत्र बुलाने का विचार प्रकट कर चुके हैं। यदि वह उससे पहले सत्र बुलाने को तैयार नहीं तो मैं वर्तमान परिस्थिति में कुछ भी नहीं कर सकता..................जब विधान-सभा का सत्र होगा उस समय विपक्ष अपनी शक्ति का अनुमान लगा सकता है और उस तिथि के लिए केवल छः सप्ताह शेष हैं।"[49]

इसी प्रकार पंजाब के राज्यपाल डॉ० डी०सी० पावते ने भी प्रकाश सिंह बादल को उस समय विधान-सभा का सत्र बुलाने के लिए नहीं कहा जब विधान-सभा में उसका बहुमत सन्देहजनक था। जब विधान-सभा के तीन सदस्यों ने जो सन्त के समर्थक थे उनका दल छोड़ दिया और वे गुरनाम सिंह दल से जा मिले तो उस समय प्रकाश सिंह बादल का बहुमत 104 सदस्यों वाले सदन में 54 से घट कर 51 रह गया था। लेकिन उसके कुछ समय पश्चात् राज्यपाल ने बादल को यह सुझाव दिया कि वे विधान-सभा

मे अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए विधान सभा का सत्र तुरन्त बुलाये या वे अपने समर्थकों की हस्ताक्षर सूची दे ।[50] हालांकि राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री को इस बात की आज्ञा दे दी थी कि वे अपने समर्थकों की हस्ताक्षर सूची दे दे लेकिन फिर भी मुख्य-मन्त्री ने *विधान सभा का सत्र बुलाने का निर्णय किया और उसके लिए 5 अगस्त* 1970, की तिथि निश्चित कर दी ।[51] उसके पश्चात् बादल इस बात पर भी तैयार हो गए थे कि सत्र 24 जुलाई, 1970 को बुलाया जाये ।[52] लेकिन जहा तक डा० पावते *का सबंध था उन्होंने केन्द्रीय सरकार को* सूचना दी कि वे विधान-सभा का सत्र बुलाने की निश्चित तिथि को लेकर कोई समस्या खड़ी नही करना चाहते ।[53]

इसी प्रकार से भोला पासवा की प्रोग्रेसिव विधायक दल की सरकार का, जिसने 2 जून, *1971* को पद समाला था, *9* जुलाई *1971* को उस समय विधान-सभा मे बहु-मत नही रहा जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने सरकार से उस समय अपना समर्थन वापस ले लिया जब उसने ललित नारायण मिश्र तथा लोहटान चौधरी के विरुद्ध भारत सेवक समाज के पैसे का दुरुपयोग करने के लिए जाच पड़ताल करने वाले दत्ता आयोग को समाप्त करने का निर्णय किया । यह आयोग कर्पूरी ठाकुर की भूतपूर्व सयुक्त विधायक दल की सरकार ने नियुक्त किया था । 312 सदस्यो वाले सदन मे प्रोग्रेसिव विधायक दल के 177 सदस्य थे और उनमे से 28 सदस्य भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के थे ।[54] लेकिन राज्यपाल ने इस अल्पमत सरकार को 22 जुलाई 1971 तक चलने दिया और फिर 22 जुलाई, 1971 को एक ऐसे मुख्यमन्त्री के कहने पर विधान-सभा को भग कर दिया जिस का विधान-सभा मे बहुमत सन्देहजनक था ।[55]

इन उदाहरणो से यह सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रिमडल का विधान-सभा मे बहु-मत न रहने पर उसे पद पर रहने दिया जायेगा या नही यह बहुत कुछ राज्यपाल के रवैये पर निर्भर करता है । उदाहरणतया पश्चिमी बगाल के राज्यपाल ने तो यह कहा *था कि वे 'अल्पमत सरकार को* पद पर *नहीं रहने दे सकते । इसे तुरन्त विधान-सभा* का सत्र बुला कर अपने बहुमत का प्रमाण देना चाहिए ।''[56] लेकिन बिहार, हरियाणा, उत्तर प्रदेश तथा पजाब के राज्यपालो ने ऐसा नही किया और मध्यप्रदेश के राज्यपाल ने तो अल्पमत सरकार को पद पर रखने के लिए बजट अधिवेशन का समावसान कर दिया था ।[57] इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने भिन्न-भिन्न मुख्यमन्त्रियो के प्रति भिन्न-भिन्न नीति अपनाई थी । उदाहरणतया, जब विधान-सभा मे चन्द्रभानु गुप्त का बहुमत *नही रहा तो उसे उसके* पद पर रहने दिया गया। उस समय राज्यपाल ने कहा कि मुख्य-मन्त्री को अपनी स्थिति दृढ बनाने के लिए पर्याप्त समय दिया जाना चाहिये । कांग्रेस का विभाजन होने पर, भारतीय क्रांति दल ने कांग्रेस (सत्तारूढ) की सहायता से सरकार बनाई । दो महीने तक भारतीय क्रान्ति दल की *अल्पमत की सरकार बनी* रही । लेकिन जब कांग्रेस (सत्तारूढ) के स्थान पर सगठन कांग्रेस तथा जनसघ ने समर्थन दिया तो राज्यपाल ने राष्ट्रपति-शासन की सिफारिश कर दी ।[58] पश्चिमी *बगाल* के राज्यपाल का समर्थन करते हुए मोरारजी देसाई, जो उस समय वित्त मन्त्री थे, ने कहा

कि "डेढ़ महीने तक मुख्यमन्त्री को जब उस का बहुमत नहीं था, उसके पद पर कैसे रहने दिया जा सकता था ? यदि राज्यपाल उसे ऐसा करने देते तो वे उस पद पर रहने योग्य नहीं होते और यह एक प्रकार का संविधान का खून होता ।"[59] लेकिन जब बिहार के राज्यपाल अनन्थासियानम अय्यंगर ने महामायाप्रसाद सिन्हा मन्त्रिमण्डल को 74 दिन, तथा उत्तरप्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने चन्द्रभानु गुप्त के मन्त्रि-मण्डल को 65 दिन तक, उनका विधान-सभा में बहुमत न होते हुए भी, पद पर रहने दिया, उस समय न तो यह प्रजातन्त्र की हत्या थी और न ही वहां के राज्यपालों को उनके पद पर रहने के अयोग्य समझा गया । यहा तक कि हरियाणा के राज्यपाल चक्रवर्ती भी राव वीरेन्द्र सिंह को विधान-सभा में उन का बहुमत न होते हुए भी छः सप्ताह तक पद पर रहने देने के लिए तैयार थे । यह ठीक है कि बिहार के राज्यपाल की इस संबंध में संसद में कांग्रेस के नेताओं द्वारा आलोचना अवश्य की गई[60], लेकिन यह आश्चर्यजनक बात है कि उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा गया ।

जब सत्तारूढ दल का विधान-सभा में कुछ सदस्यों द्वारा दल बदलने के कारण बहुमत नहीं रहता तो क्या राज्यपाल को विधान-सभा की बैठक होने से पहले उस मन्त्रिमण्डल को पद से हटा देना चाहिये या नहीं, इस प्रश्न पर मतभेद है । भूतपूर्व गृहमन्त्री यशवन्त राव चव्हाण ने लोकसभा में बोलते हुए कहा था, कि "संवैधानिक कार्यपालक के रूप में राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि क्या मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत है या नहीं । यदि इस संबंध में सन्देह हो तो उसे इस ओर ध्यान देना चाहिए ।"[61] लेकिन उस समय के विधि मन्त्री इस विचार से सहमत नहीं थे और उन्होंने कहा कि "सरकार तथा विपक्ष के बहुमत की परीक्षा केवल विधान-सभा में ही हो सकती है और यदि विपक्ष राज्यपाल के समक्ष अपने समर्थकों की परेड करता है तो उसे इसको अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए ।"[62] के० संथानम का भी यही विचार है । वे कहते हैं, कि "यह समझना ठीक नहीं है कि राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह दलों की संख्या, जो दिन प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है, की तरफ ध्यान दें । एक बार जब वे मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति कर देते हैं तो उस के पश्चात् विधान-सभा का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह यह निर्णय करे कि क्या मन्त्रिमण्डल को पद पर रहना चाहिए या नहीं । जब तक विधान-सभा बजट को रद्द करके या अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे पद से हटा नहीं देती तब तक वह पद पर रह सकता है और इसमें न तो कोई कानून टूटता है और न ही कोई परम्परा भंग होती है ।"[63]

एन० सी० चैटर्जी ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है । उन्होंने कहा, कि "विधान-सभा में मन्त्रिमण्डल का बहुमत न रहने पर बहुत शोर मचाया जाता है । हम जानते है कि अल्पमत मन्त्रिमण्डल भी पद पर रहे हैं । केरल में ऐसा हुआ, ग्रेट-ब्रिटेन में भी ऐसा हो चुका है । यह एक आश्चर्यजनक तर्क है कि जब तक मन्त्रिमण्डल

प्रतिक्षण यह सिद्ध न करे कि उसका विधान-सभा मे बहुमत है, वह पद पर नही रह सकता हमारे संविधान के अनुसार ऐसा नही है। देखना यह है कि यह निर्णय कौन करेगा कि *मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा मे बहुमत* है या नही। यह कहना बिल्कुल ठीक नही है कि राज्यपाल राजभवन में बैठ कर झूठी कहानिया सुन कर यह निर्णय करेगा कि मन्त्रिमण्डल का विधान सभा मे बहुमत नही रहा।''[64] सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बाराव का भी यही दृष्टिकोण है। उन का कथन है कि मन्त्रिमण्डल को केवल तब बरखास्त करना चाहिए जब उसका विधान-सभा मे बहुमत न रहे और इस बात का निर्णय कि मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा मे बहुमत है या नही सिवाय विधान-सभा के और कोई भी नही कर सकता। राष्ट्रपति या राज्यपाल मन्त्रिमण्डल को केवल तब ही बरखास्त कर सकते है जब उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाये अन्यथा नही। ससद या विधान-सभा मे ही सरकार अपने बहुमत का प्रदर्शन कर सकती है। जो सदस्य अपना दल बदलते हैं वे ससद या विधान-सभा मे मतदान के समय अपना निर्णय बदल सकते हैं।[65] बिल्कुल ऐसे ही हरियाणा मे हुआ था।[66] अत के० सुब्बाराव का यह विचार ठीक मालूम पडता है कि ससद तथा विधान सभाओ की बैठके निश्चित समय पर होती हैं तथा दल छोडने वाले तथा उनके समर्थक अगला सत्र होने तक प्रतीक्षा कर सकते हैं और सत्र मे वे सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश कर सकते हैं।[67] एम० सी० चागला[68] (बम्बई उच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश), डा० पी० एन० सप्रु[69] तथा अन्य विधि विशेषज्ञो का भी यही मत है। लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष सजीवा रेड्डी का भी यही मत है। विधान सभाओं के अध्यक्षो के सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होने कहा, कि "विधान-सभा मे मुख्यमन्त्री का बहुमत है या नही इस प्रश्न का निर्णय विधान-सभा द्वारा ही किया जाना चाहिए और यह निर्णय राज्यपाल पर कभी भी नही छोडना चाहिये कि क्या मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा मे बहुमत है या नही। यह निर्णय विधान-सभा द्वारा ही किया जाना चाहिये। जब विधान-सभा मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे और फिर भी मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र न दे तो राज्यपाल उसे बरखास्त कर सकते हैं।''[70]

हालाकि सवैधानिक दृष्टिकोण से यह उचित प्रतीत होता है, किन्तु यदि हम अनुच्छेद 164 (1) (2) का अध्ययन गहराई से करे तो हमें यह मालम होगा कि यह दृष्टिकोण ठीक नही है क्योकि इस सिद्धान्त को मानने का यह अर्थ होगा कि मन्त्रि-मण्डल केवल सत्र के समय ही विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। इस सम्बन्ध मे यह चर्चा करनी आवश्यक है कि कुछ विधान सभाओ के सत्र बहुत थोडे समय के लिए होते हैं।[71] लेकिन साधारणतया सरकार का हमेशा ही विधान-सभा मे बहुमत बना रहना चाहिए और जनता को कभी भी यह अनुभव नही होना चाहिए कि सरकार का विधान-सभा मे बहुमत नही है। यदि पश्चिमी बगाल, हरियाणा तथा उत्तरप्रदेश के समान बहुत से विधायक दल छोड दें तो उस समय राज्यपाल का यह कर्तव्य हो जाता

है कि वह उन की ओर ध्यान दे और विशेषकर उस समय जब विपक्ष, विधान-सभा का सत्र बुलाने की मांग करें। यदि विधान-सभा का सत्र थोड़े दिनों पश्चात् होने वाला हो तो उस समय वह विपक्ष द्वारा सत्र की मांग किए जाने पर भी उसकी उपेक्षा कर सकता है। यदि सत्र के आरम्भ होने में काफी समय हो और यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाये तो उस समय राज्यपाल को मुख्यमन्त्री को जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी विधान-सभा का सत्र बुलाने का सुझाव देना चाहिए। यदि मुख्यमन्त्री उस सुझाव को न माने तो राज्यपाल उसे बरखास्त कर सकता है, और यदि राज्यपाल ऐसा करते हैं तो वे वैधानिक तौर से सही होंगे, जैसा कि पश्चिमी बंगाल में हुआ। पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल की इस कार्यवाही को कलकत्ता उच्च न्यायालय ने उचित ठहराया है।[72] एम० सी० सीतलवाद, भूतपूर्व अटार्नी जनरल[73], अशोकसेन, भारत सरकार के भूतपूर्व विधि मन्त्री[74], तथा एस० एन० कौल लोकसभा के भूतपूर्व सचिव[75] का भी यही दृष्टिकोण है।

भ्रष्टाचार के कारण बरखास्तगी

यदि मुख्यमन्त्री विधायकों को रिश्वत देकर विधान-सभा में अपना बहुमत बनाये रखता है तो भी राज्यपाल उसे बरखास्त कर सकता है। डा० बी० आर० अम्बेदकर ने संविधान सभा में कहा था, कि "मन्त्री को दो कारणों के आधार पर बरखास्त किया जा सकता है। एक तो उसे उस समय हटाया जा सकता है जब अनुच्छेद 62 (2) के अनुसार उस में सदन का विश्वास न रहे। दूसरे उसे उस समय हटाया जा सकता है जब वह भ्रष्टाचारी या रिश्वतखोर हो ......।"[76] इस का अभिप्राय यह हुआ कि विधान-सभा में बहुमत होने पर भी राज्यपाल किसी मुख्यमन्त्री को उस के पद से हटा सकता है बशर्ते कि यह सिद्ध हो जाये कि वह भ्रष्टाचारी तथा रिश्वतखोर है। उदाहरणतया, यदि 1964 में पंजाब के मुख्यमन्त्री प्रताप सिंह कैरों, दास आयोग की रिपोर्ट पर जिस में उन्हें दोषी ठहराया गया था, त्यागपत्र नहीं देते तो राज्यपाल उन का विधान-सभा में बहुमत होते हुए भी उन्हें पद से हटा सकते थे, और राज्पाल ऐसा करते तो वे अपने अधिकारों की संवैधानिक सीमा के भीतर होते। इसी प्रकार हरियाणा में राव वीरेन्द्र सिंह की सरकार विधान-सभा में अपना बहुमत बनाये रखने के लिए कुछ ऐसे ढंग से कार्य कर रही थी[77] जिसे सम्मानित नहीं कहा जा सकता था। राज्यपाल उसे उस आधार पर ही बरखास्त कर सकते थे। लेकिन इस संबंध में यह चर्चा करनी आवश्यक है कि अब तक किसी भी राज्यपाल ने किसी भी मुख्यमन्त्री को इस आधार पर बरखास्त नहीं किया है, हालांकि कुछेक राज्यपाल इस बात से अवगत थे कि उन के मुख्यमन्त्री भ्रष्ट थे।

जब कभी भी कोई राज्यपाल किसी भी मन्त्रिमण्डल को इस आधार पर बरखास्त करता है कि उस का विधान-सभा में बहुमत नहीं है, तो राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा और इसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में अपील नहीं हो सकती। जब पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने अजय मुकर्जी के मन्त्रिमण्डल को बरखास्त किया

तो उस समय उसके निर्णय के विरुद्ध कलकत्ता उच्च न्यायालय मे अपील की गई थी। न्यायाधीश बी०सी० मिश्रा ने अपना निर्णय देते हुए कहा कि संविधान के अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार मन्त्रिमण्डल को बरखास्त करने तथा नियुक्त करने के लिए राज्यपाल के पास पूर्ण तथा असीमित अधिकार हैं। निर्णय मे यह भी कहा गया है कि अनुच्छेद 164 (1) मे यह व्यवस्था की गई है कि मन्त्री उस समय तक पद पर बने रहेंगे जब तक राज्यपाल चाहेगा और उसके इस अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया है। राज्यपाल किसी भी समय मन्त्रिमण्डल को बरखास्त कर सकता है। अनुच्छेद 164 (2) के अनुसार मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है परन्तु इस का अर्थ यह नही है कि इस अनुच्छेद के कारण राज्यपाल द्वारा मन्त्रियो को बरखास्त करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं। अनुच्छेद 164 (2) मे जो सामूहिक उत्तरदायित्व की बात कही गई है उसका अर्थ केवल यह है कि मन्त्रिमण्डल विधान-सभा मे बहुमत रहने तक अपने पद पर रहेगा। परन्तु संविधान मे विधान-सभा को यह अधिकार कहीं नही दिया गया कि वह मन्त्रिमण्डल को पद से हटा सके या बरखास्त कर सके। मुख्यमन्त्री को नियुक्त करने तथा उसकी सलाह पर अन्य मन्त्रियो को नियुक्त करने तथा उन्हे उनके पद से हटाने का अधिकार अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार केवल राज्यपाल को ही दिया गया है। इस अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नही है। राज्यपाल को अनुच्छेद 165 (1) तथा अनुच्छेद 310 द्वारा कुछ नियुक्तियां करने के अधिकार दिए गए है जिन पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए गए हैं और इन अधिकारो के प्रयोग को कुछ परिस्थितियो मे चुनौती दी जा सकती है। लेकिन अनुच्छेद 164 (1) के अधीन जो मन्त्रीमण्डल को बरखास्त करने की शक्तियां दी गई हैं उन्हें चुनौती नही दी जा सकती।[78]

अनुच्छेद 356 के अधीन बरखास्तगी

यह आवश्यक नही कि राज्यपाल मन्त्रीमण्डल को हटाने के लिए अनुच्छेद 164 (1) द्वारा दी गई शक्तियों का ही प्रयोग करें। राज्यपाल अनुच्छेद 356 के अधीन यह रिपोर्ट कर के कि राज्य का शासन, संविधान की धाराओं के अनुसार नही चल रहा मन्त्रीमण्डल को बरखास्त करने की सिफारिश कर सकता है। यह रिपोर्ट राज्यपाल उस समय भी भेज सकता है जब मन्त्रिमण्डल को विधान-सभा का विश्वास प्राप्त हो। 1958 मे केरल मे नम्बूदरीपाद के मन्त्रिमण्डल को, 1968 मे हरियाणा मे राव बीरेन्द्र सिंह के मन्त्रिमण्डल को, 1970 मे उत्तर प्रदेश मे चरण सिंह के मन्त्रिमण्डल को इसी प्रकार से बरखास्त करने की सिफारिश की गई थी, हालांकि उन का विधान सभाओं मे बहुमत था। इस संबन्ध मे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का जो प्रयोग करता है उसके औचित्य को न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती और राज्यों मे संवैधानिक मशीनरी के विफल होने की कहीं भी परिभाषा नही दी गई है। लेकिन प्रशासनिक सुधार आयोग ने नीचे लिखे तीन आधार दिये है जिनके कारण प्रान्त मे राष्ट्रपति-शासन लागू किया जा सकता है[79]

1. जहां पर मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र देने पर, नये चुनाव किए बिना नया मन्त्रिमण्डल न बन सके, या जहां पर विधान-सभा का बहुमत दल सरकार बनाने से इन्कार कर दे और अन्य दलों की मिली जुली सरकार न बन सके ।
2. जहां पर विधिवत् ढंग से नियुक्त मन्त्रिमण्डल संविधान की धाराओं का उल्लंघन करे और संविधान द्वारा दी गई शक्तियों का असंवैधानिक ढंग से प्रयोग करे और इस संबंध में दी गई चेतावनी की ओर भी कोई ध्यान न दे ।
3. संविधान के कुछ अनुच्छेदों के अधीन केन्द्र-सरकार, राज्य सरकारों को जो हिदायतें दे, उन्हें सरकार मानने से इन्कार कर दे ।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि यह सूची पूर्ण नहीं है और इन कारणों के अतिरिक्त भी कुछ और कारण हो सकते हैं जिन के आधार पर राज्यपाल संवैधानिक मशीनरी के विफल होने की सिफारिश कर सकता है जैसा कि उत्तर प्रदेश में 1970 में हुआ था । वहां पर यद्यपि चरण सिंह के साथ विधान-सभा का बहुमत था लेकिन फिर भी राज्यपाल ने उसे त्यागपत्र देने के लिए कहा ।[50] ऐसा राज्यपाल ने इसलिए किया क्योंकि कांग्रेस (सत्तारूढ़) जो कि चरण सिंह की मिली जुली सरकार में सबसे बड़ा दल था, उसने सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया और उस दल के मन्त्रियों ने मुख्यमन्त्री के कहने पर त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया । जब मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल से यह सिफारिश की कि उन्हें बरखास्त कर दिया जाये तो राज्यपाल ने उन्हें त्यागपत्र देने के लिए कहा । जब मुख्यमन्त्री ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो राज्यपाल ने संवैधानिक मशीनरी विफल होने की सिफारिश कर दी और मुख्यमन्त्री को इस बात की भी आज्ञा नहीं दी कि वह विधान-सभा में अपना बहुमत सिद्ध कर सके जिसका सत्र केवल तीन दिन पश्चात् 6 अक्तूबर, 1970 को होने वाला था । राज्यपाल की सिफारिश के आधार पर 2 अक्तूबर, 1972 को जब विधान-सभा की बैठक में केवल 72 घण्टे शेष रह गए थे राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया गया, हालांकि चरण सिंह 24 घंटे में विधान-सभा का अधिवेशन बुलाने को तैयार थे ।[51] इससे यह सिद्ध होता है कि अनुच्छेद 356 के अधीन राज्यपाल मुख्यमन्त्री को उस समय भी बरखास्त करने की सिफारिश कर सकता है जब उसका विधान-सभा में बहुमत हो और वह ऐसा तब भी कर सकता है जब विधान-सभा का सत्र होने वाला हो । इस प्रकार से वह राज्यपालों, प्रशासनिक सुधार आयोग तथा अध्यक्षों के सम्मेलन की इस सम्बन्ध में दी गई सिफारिशों का उल्लंघन कर सकता है ।

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने राष्ट्रपति-शासन की सिफारिश करते समय, राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट में लिखा था, कि "मन्त्रियों को हटाने या मन्त्रिमण्डल की पुन: रचना करने में मिली जुली सरकार के मुख्यमन्त्री को एक दल वाले बहुमत के मुख्यमन्त्री के बराबर नहीं समझा जा सकता ।"[52]

अब यह प्रश्न उठता है कि जब मिली जुली सरकार के प्रमुख दल ने सरकार से समर्थन वापस लिया और उसके मन्त्रियों ने त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया तो राज्यपाल के लिए यह कहा तक उचित था कि वे मुख्यमन्त्री से त्यागपत्र देने को कहे। राज्यपालों की समिति ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि मिली जुली सरकार मे मतभेद होने पर यदि मुख्यमन्त्री अपना त्यागपत्र दिए बिना अपने साथी मन्त्रियों के त्यागपत्र की माग करे जिन के साथ उसका मतभेद है जैसा कि उत्तर प्रदेश मे चरण सिंह ने किया तो उस समय राज्यपाल क्या पग उठाएँ ? इसके उत्तर मे राज्यपालों की समिति ने कहा, कि "मिली जुली सरकार मे मुख्यमन्त्री की अग्रता का आधार राजनीतिक दलो का आपसी समझौता होना है। जब मुख्यमन्त्री उस एक दल का होता है जिसका विधान-सभा मे बहुमत है तो उस की अग्रता नि सन्देह होती है। मुख्यमन्त्री, मन्त्रिमण्डल के मेहराब की डाट होता है लेकिन ऐसा केवल उसी परिस्थिति मे होता है जब उसका विधान-सभा मे बहुमत हो और उसके साथियो मे एकता हो। इसलिए मिली जुली सरकार का मुख्यमन्त्री, राज्यपाल को अपने मन्त्रियो की नियुक्ति तथा उनकी बरखास्तगी के सम्बन्ध मे ऐसी सिफारिश नही कर सकता कि मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब टूट जाये और फिर भी वह मुख्यमन्त्री के पद पर रहने का दावा करे। यह स्पष्ट है कि वह अपने पद पर रहते हुए सयुक्त सरकार मे अनेक राजनीतिक दलों के मन्त्रियों को बरखास्त करके सयुक्त सरकार को नही तोड सकता।

यदि सयुक्त सरकार के कुछ दलो के मन्त्री स्वय अपना त्यागपत्र इस बिना पर दे दें कि उनका मुख्यमन्त्री के साथ मतभेद है तो उस परिस्थिति मे मुख्यमन्त्री के लिए त्यागपत्र देना आवश्यक नही। यदि मन्त्रियों के त्यागपत्रों के कारण उसके विधान-सभा मे बहुमत पर प्रभाव पडता हो तो उससे यह आशा की जाती है कि विधान-सभा मे अपने बहुमत को सिद्ध करने के लिए वह राज्यपाल को जितनी जल्दी हो सके सत्र बुलाने की सिफारिश करेगा।"[83]

जहाँ तक सयुक्त सरकारो के मुख्य मन्त्रियों का सम्बन्ध है, वे पाँच प्रकार के हो सकते है

(1) दो दलो की सयुक्त सरकार मे मुख्यमन्त्री दोनों दलो मे से बडे दल का हो सकता है जैसे पजाब मे जनसघ-अकाली मिली जुली सरकार मे प्रकाश सिंह बादल (अकाली दल), उडीसा मे 1960 मे कांग्रेस-गणतन्त्र परिषद् की सरकार मे हरेकृष्ण मेहताब (कांग्रेस), स्वतन्त्र-जन कांग्रेस सरकार में आर एन सिंहदेव (1967) का सम्बन्ध दोनो दलो मे से बडे दल से था।

(2) दो दलो की मिली जुली सरकार मे मुख्यमन्त्री छोटे दल का हो सकता है, जैसे 1970 मे उत्तर प्रदेश मे कांग्रेस-भारतीय क्रांतिदल की सरकार मे चरण सिंह की यही स्थिति थी।

(3) बहुत से दलों की संयुक्त सरकार में मुख्यमन्त्री सबसे बड़े दल का हो सकता है, जैसे 1970 में उत्तर प्रदेश में त्रिभुवन नारायण सिंह तथा 1969 में केरल में अच्युता मेनन।

(4) अनेक दलों की संयुक्त सरकार में मुख्यमन्त्री सबसे छोटे दल का भी हो सकता है, जैसे 1967 में पश्चिमी बंगाल में अजय मुकर्जी या 1972 में उड़ीसा में विश्वनाथ दास (वह अकेला निर्दलीय था)।

(5) दो से अधिक दलों की मिली जुली सरकार में मुख्यमन्त्री न तो सबसे बड़े दल का हो और न ही सबसे छोटे दल का, जैसे 1960 में केरल में पट्टमथानू पिल्ले[84] तथा 1971 में चेलात अच्युता मेनन।[85]

(6) दो या दो से अधिक दलों की ऐसी सरकार का मुख्यमन्त्री, जिसका विधान-सभा में बहुमत किसी ऐसे दल के समर्थन पर आधारित हो जो सरकार में शामिल नहीं है, जैसे 1967 में पंजाब में जनता तथा रिपब्लिकन पार्टी की संयुक्त सरकार में लच्छमन सिंह गिल, तथा 1969 में केरल में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी, मुस्लिम लीग, इण्डियन सोशलिस्ट पार्टी, केरल कांग्रेस की संयुक्त सरकार में चेलात अच्युता मेनन। इन सरकारों का समर्थन कांग्रेस बाहर रहते हुए कर रही थी।

डा० गोपाला रेड्डी द्वारा अपनाए गए नये सिद्धांत के अनुसार ऐसी किसी भी संयुक्त सरकार, जिसका विधान-सभा में बहुमत है, अपने मन्त्रियों में मतभेद होने अथवा उनके त्यागपत्र दे देने से कोई संवैधानिक संकट पैदा नहीं होता, क्योंकि उन परिस्थितियों में मुख्यमन्त्री को विधान-सभा में बहुमत सिद्ध करने के लिए कहा जा सकता है जैसा कि पंजाब,[86] पश्चिमी बंगाल[87] तथा उड़ीसा[88] में किया गया था। इसी प्रकार यदि दो या दो से अधिक दलों की अल्पमत सरकार हो, जिसका कुछ दल सरकार में शामिल हुए बिना समर्थन करते हों तो उसे भी उस समय विधान-सभा में बहुमत सिद्ध करने के लिए कहा जा सकता है, जब वे दल अपना समर्थन वापस ले लें। इसका अभिप्राय यह है कि जब चरण सिंह की सरकार से कांग्रेस ने अपना समर्थन वापस लिया, उस समय यदि उस दल के मन्त्री त्यागपत्र दे देते तो कोई भी संवैधानिक संकट पैदा न होता और मुख्यमन्त्री से कहा जा सकता था कि वह विधान-सभा में अपना बहुमत सिद्ध करे। उदाहरणतया चरण सिंह के मामले पर बी० गोपाला रेड्डी के तर्क का समर्थन करते हुए भूतपूर्व विधि मन्त्री अशोक सेन ने लोकसभा में कहा कि पंजाब में जब जनसंघ ने बादल सरकार से अपना समर्थन वापस लिया तो उस समय संवैधानिक संकट इसलिए पैदा नहीं हुआ क्योंकि जनसंघ के मन्त्रियों ने त्यागपत्र दे दिया था। इसलिए सरकार विधान-सभा की बैठक होने तक पद पर रह सकती थी[89] और संभवत: यही तर्क चरण सिंह की सरकार पर भी लागू हो सकता था।

लेकिन उत्तर प्रदेश में वास्तविक संकट इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि कांग्रेस दल, जो चरण सिंह की संयुक्त सरकार में प्रमुख दल था, उसने सरकार से अपना समर्थन तो

वापस ले लिया लेकिन उस दल के मन्त्रियों ने त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया। यदि हम इस तर्क को मान लें तो फिर प्रश्न यह पैदा होगा कि यदि जनसंघ के मन्त्री भी पंजाब में त्यागपत्र देने से इन्कार कर देते और उत्तर प्रदेश में जैसे कांग्रेस ने समर्थन वापस लिया था वैसे ही पंजाब में जनसंघ बादल मन्त्रिमण्डल से समर्थन वापस ले लेता तो क्या होता ? क्या यह एक वैसा ही संवैधानिक संकट नहीं होता जैसा कि उत्तर प्रदेश में हुआ था, सिवाए इसके कि पंजाब में यह नाटक सरकार में सम्मिलित दोनों दलों में से छोटे दल द्वारा किया जाता जब कि उत्तर प्रदेश में यह नाटक सरकार में सम्मिलित दोनों दलों में से बड़े दल द्वारा किया गया था। इस अन्तर का महत्त्व भी उस समय धूमिल पड़ जाता है जब हम मन्त्रिमण्डल से समर्थन वापस लेने पर, उसका जो प्रभाव पड़ता है, उसकी ओर ध्यान दें। दोनों ही प्रांतों में मन्त्रिमण्डल से समर्थन वापस लेने के परिणामस्वरूप, मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत समाप्त हो जाना और ऐसी परिस्थिति में यदि मुख्यमन्त्री अपने पद पर रहना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह विधान-सभा में अपना बहुमत सिद्ध करे या त्यागपत्र दे दे। अतः दो दलों की संयुक्त सरकार में चाहे छोटा दल, सरकार से अपना समर्थन वापस ले या बड़ा दल उसका सरकार पर समान प्रभाव पड़ता है। अतः यह सिद्धान्त ठीक नहीं मालूम पड़ता कि संयुक्त सरकार में यदि बड़ा दल सरकार से अपना समर्थन वापस ले ले और उस दल के मन्त्री त्यागपत्र न दें तो मुख्यमन्त्री को त्यागपत्र दे देना चाहिए। वाजपेई ने चरण सिंह के मामले पर टिप्पणी करते हुए कहा था, कि "उत्तर प्रदेश के संकट ने मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को एक घातक झटका दिया है। प्रत्येक मन्त्रिमण्डल में कुछ मन्त्री ऐसे मिल जाएँगे जो मुख्यमन्त्री की पीठ में छुरा घोंपने के लिए तैयार होंगे और जो राज्यपाल या राष्ट्रपति के पास जाकर यह कहने को तैयार होंगे, कि "मेरे साथ कुछ सदस्य हैं"। केन्द्र तथा प्रांतों में कोई भी व्यक्ति अपने साथ कुछ सदस्यों को लगा सकता है—क्या उस व्यक्ति को यह प्रोत्साहन देना उचित होगा कि चूंकि तुम अपने प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री के विरुद्ध हो, अतः मैं उस प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री को बरखास्त कर दूंगा। उत्तर प्रदेश में राज्यपाल ने बिल्कुल यही किया है। वहाँ पर सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धांत को नष्ट कर दिया गया है। लेकिन कुछ व्यक्तियों को इस बात की आज्ञा देना कि वे राज्यपाल के घर जाकर यह कहें, कि "मेरे साथ कुछ अनुयायी हैं, आप मुख्यमन्त्री को बरखास्त कर दें" यह बहुत खतरनाक सिद्धांत है।"[90]

अतः चरण सिंह के मामले में राज्यपाल को मुख्यमन्त्री से त्यागपत्र देने के लिए नहीं कहना चाहिए था। लेकिन चरण सिंह से यह कहा जा सकता था कि वह विधान-सभा में अपना बहुमत सिद्ध करें।

इस सिद्धांत को इसलिए भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इस सिद्धांत को मानने का अर्थ यह होगा कि संयुक्त सरकार में मुख्यमन्त्री अपने पद पर उस समय तक नहीं रहेगा जब तक उसका विधान-सभा में बहुमत है (विपक्ष में भी कुछ सदस्य ऐसे हो

सकते हैं जो मुख्यमन्त्री के समर्थक हों) बल्कि केवल उस समय तक पद पर रहेगा जब तक संयुक्त सरकार में सम्मिलित बड़ा दल उसे चाहेगा और यह संविधान के अनुच्छेद 164 (2) का उल्लंघन है।

इस सिद्धान्त की बेतुकी उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम इस तथ्य की ओर ध्यान दें कि आरम्भ में चरण सिंह के अकेले दल ने अल्पमत की सरकार बनाई थी और दो महीने के पश्चात् कांग्रेस (सत्तारूढ़) ने मन्त्रिमण्डल में शामिल होकर संयुक्त सरकार बनाई। जिस समय कांग्रेस (सत्तारूढ़) ने अपना समर्थन वापस लिया तो चरण सिंह सरकार की स्थिति पहले जैसी ही अल्पमत सरकार की हो गई थी। यदि चरण सिंह की अल्पमत सरकार बनी रहती तो क्या कांग्रेस (सत्तारूढ़) अपना समर्थन वापस लेकर उस सरकार को उसके पद से हटा सकती थी, विशेषकर उस समय जब कांग्रेस (संगठन), स्वतन्त्र, जनसंघ जिनकी संख्या कांग्रेस (सत्तारूढ़) से अधिक थी, उनका समर्थन करने को तैयार थे। क्या यह एक आश्चर्यजनक बात नहीं है कि कांग्रेस (सत्तारूढ़) जो कुछ सरकार से बाहर रह कर नहीं कर सकती थी वह उसने सरकार में शामिल होकर कर दिया। यदि वह सरकार में शामिल नहीं होती तो राज्यपाल भी इस प्रकार से संविधान की बेतुकी व्याख्या नहीं कर पाता।

हालांकि अनुच्छेद 164 (1) के अधीन राज्यपाल, मन्त्रिमण्डल को बरखास्त कर सकता है और इसे अनुच्छेद 356 के अधीन भी उसे बरखास्त करने की सिफारिश कर सकता है, लेकिन फिर भी यदि वे बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल तथा लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष, श्री अनन्थासियानम अय्यंगर के निम्नलिखित परामर्श का अनुसरण करें तो बेहतर होगा। उन्होंने कहा, कि

> "राज्य के संवैधानिक कार्यपालक के रूप में राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह संविधान की व्याख्या प्रजातन्त्र की सुरक्षा के लिए करे न कि उसे खतरे में डालने के लिए। राज्यपाल को सरकार की नियुक्ति करनी चाहिए और उसे उस समय तक बरखास्त नहीं करना चाहिए जब तक कि इसके पीछे कोई ठोस कारण न हो। मन्त्रिमण्डल की जड़ों से मिट्टी निकालना संविधान के अनुसार नहीं है। राज्यपाल को प्रजातन्त्र की रक्षा करनी चाहिए, उसे नष्ट नहीं करना चाहिए...... ...राज्यपाल को अपने पद का प्रयोग राजनैतिक दृष्टिकोण के आधार पर नहीं करना चाहिए"।[1]

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जब तक राज्यपाल प्रजातन्त्रात्मक ढंग से निर्वाचित मन्त्रिमण्डल का समर्थन, रचनात्मक परामर्श द्वारा नहीं करते, और जब तक वे चुनाव के माध्यम से बनी हुई सरकारों को गिराने की साजिश में शामिल होते रहेंगे तब तक भारत में प्रजातन्त्र का भविष्य बहुत धूमिल है।

मुख्यमन्त्री की बरखास्तगी के परिणाम

जब किसी मन्त्री को बरखास्त किया जाता है तो उसका अन्य मन्त्रियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि मुख्यमन्त्री को बरखास्त किया जाए तो उसका प्रभाव

अवश्य ही सारे मन्त्रियों पर पड़ता है क्योंकि मुख्यमन्त्री को बरखास्त करने का प्रभाव अन्य मन्त्रियों पर लगभग वही होता है जो उसके त्यागपत्र या उसकी मृत्यु का होता है। केन्द्र में अब तक दो प्रधानमन्त्रियों जवाहरलाल नेहरू तथा लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु उनके पद पर रहते हुए हुई थी और दोनों ही बार गुलजारीलाल नन्दा को, जिनका स्थान मन्त्रिमण्डल में दूसरे नम्बर पर था, कामचलाऊ सरकार का प्रधानमन्त्री बनाया गया तथा अन्य मन्त्रियों को दोबारा उनके पद की शपथ दिलाई गई। इसी प्रकार 1961 में बिहार में श्रीकृष्ण सिन्हा[92], 1969 में तमिलनाडु में अन्नादुरई[93] तथा 1973 में राजस्थान में बरकतउल्लाखां की मृत्यु के पश्चात् कामचलाऊ सरकारों की नियुक्ति की गई तथा उन सरकारों में सम्मिलित अन्य मन्त्रियों को दोबारा उनके पदों की शपथ दिलाई गई। जब कभी भी राज्यों में किसी मुख्यमन्त्री ने त्यागपत्र दिया तो उस समय भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया। उदाहरणतया 1964 में पंजाब में जब दास आयोग की रिपोर्ट के कारण सरदार प्रताप सिंह कैरों ने त्यागपत्र दिया तो उस समय गोपीचन्द भार्गव को कामचलाऊ सरकार का मुख्यमन्त्री बनाया गया था तथा सारे मन्त्रियों ने दोबारा अपने पदों की शपथ ली थी। जब कामराज योजना के अधीन छः मुख्यमन्त्रियों ने त्यागपत्र दिए तो उस समय भी इसी प्रथा का अनुसरण किया गया था।

परन्तु कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जहाँ पर इस सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया। उदाहरणतया 1963 में पश्चिमी बंगाल में जब विधान चन्द्र राय की मृत्यु हुई तो उस समय उनका मन्त्रिमण्डल ज्यों का त्यों अपने पद पर काम करता रहा तथा पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने नये मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति तक उन्हें काम करते रहने को कहा। परन्तु ऐसा अनुभव किया जाता है कि मन्त्रियों ने राज्यपाल को यह सूचना दी कि पी०सी० सेन जो मन्त्रियों में सब से वरिष्ठ मन्त्री है, वे मुख्यमन्त्री के कार्यभार को वैसे ही संभालेंगे जैसे वे उस समय संभाला करते थे जब विधान चन्द्र राय कभी विदेश जाते थे। इसी कारण समाचारपत्रों ने यह समाचार प्रकाशित कर दिया कि पी० सी० सेन "कार्यवाहक मुख्यमन्त्री" नियुक्त कर दिए गए।[94] इसी पद्धति का अनुसरण 1955 में पैप्सू में तथा 1956 में मध्य प्रदेश में वहाँ के मुख्यमन्त्रियों की मृत्यु होने पर किया गया था।[95] इन राज्यों में मन्त्रिमण्डलों को दोबारा पद की शपथ नहीं दिलाई गई तथा औपचारिक ढंग से वह मुख्यमन्त्री की मृत्यु होने के पश्चात् भी अपने पदों पर बने रहे। इस संबंध में यह प्रश्न उठता है कि पश्चिमी बंगाल, पैप्सू तथा मध्य प्रदेश के राज्यपालों का व्यवहार कहाँ तक संवैधानिक था। इस संबंध में एक दृष्टिकोण तो यह है कि मुख्यमन्त्री की मृत्यु होने पर मन्त्रिमण्डल भी स्वयं ही तुरन्त भंग हो जाता है तथा राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह कार्यवाहक मन्त्रिमण्डल को दोबारा पद की शपथ दिलाए। देश के बंटवारे से पहले एक बार यह प्रश्न उठा था कि क्या मुख्यमन्त्री के बरखास्त होने पर सारा मन्त्रिमण्डल भंग हो जाता है या नहीं, तो उस समय यह निर्णय दिया गया था कि ऐसा होने पर सारा मन्त्रिमण्डल भंग हो

जाता है ।

परन्तु दूसरी विचारधारा के लोगों का यह दृष्टिकोण है कि "मुख्यमन्त्री की मृत्यु होने पर सारा मन्त्रिमण्डल भंग नहीं हो जाता । प्रत्येक मन्त्री विधान-सभा के प्रति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है तथा वह व्यक्तिगत रूप में ही राज्यपाल को परामर्श देता है जिस पर राज्यपाल कार्य करता है...... इस दृष्टिकोण के विचारक यह समझते हैं कि पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने नया मन्त्रिमण्डल बनाने तक मन्त्रियों को काम करते रहने का परामर्श देकर संवैधानिक दृष्टि से ठीक कार्य किया ।"[96] यदि इस सिद्धान्त को उचित मान लिया जाए तो इस का अर्थ यह होगा कि मुख्यमन्त्री को बरखास्त किए जाने का अन्य मन्त्रियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । परन्तु इस सिद्धांत को स्वीकार करना बड़ा कठिन है क्योंकि इस सिद्धांत को मानने का परिणाम यह होगा कि मुख्यमन्त्री के बरखास्त किए जाने पर भी अन्य मन्त्री उन के पदों पर कार्य करते रहेंगे और यह स्थिति हास्यजनक है । दूसरे, इस का एक परिणाम यह होगा कि मुख्यमन्त्री अपना त्यागपत्र देकर अपने मन्त्रिमंडल की दोबारा रचना नहीं कर सकेगा । तीसरे, जब वह व्यक्ति अपने पद से त्यागपत्र दे दे जिस की सिफारिश पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति की गई है तो फिर वे उन के पदों पर कैसे रह सकते हैं । अतः डा० राव का यह विचार ठीक मालूम पड़ता है कि मुख्यमन्त्री की मृत्यु होने पर अन्य मन्त्री पद पर नहीं बने रह सकते ।[97] यहाँ पर यह चर्चा करनी भी आवश्यक है पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री अजय मुकर्जी ने अपने त्यागपत्र में राज्यपाल को लिखा था, कि "मैं पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री के पद से त्यागपत्र देता हूँ । चूंकि मन्त्रिमंडल की नियुक्ति मेरे परामर्श से की गई थी अतः मेरे त्यागपत्र के परिणामस्वरूप मेरा मन्त्रिमण्डल भी भंग हो जाएगा ।"[98]

संदर्भ

1. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 8, पृष्ठ 520.
2. 'दि ट्रिब्यून', अगस्त 15, 1969, पृष्ठ 4.
3. दिसम्बर 1972 में तमिलनाडु के मुख्यमंत्री करुणानिधि ने विधान-सभा का विश्वास प्राप्त करने के लिए औपचारिक रूप में एक प्रस्ताव पेश किया था । सरकार द्वारा इस प्रकार का प्रस्ताव रखने के सम्बन्ध में हालांकि विधान-सभा के ऐसे नियम नहीं थे लेकिन फिर भी श्री श्रीनिवासन ने (जो कि उपाध्यक्ष थे) उस पूर्वोदाहरण की चर्चा की जिसके अनुसार 30 जून 1952, को चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने इसी प्रकार से विधान-सभा का विश्वास प्राप्त किया था । इंग्लैंड में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं । 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', दिसम्बर 5, 1972, पृष्ठ 1.
4. 'दि इण्डियन एक्सप्रेस' अक्तूबर 6, 1969, पृष्ठ 1.
5. 'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया', अक्तूबर 10, 1969 पृष्ठ 1.
6. 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 29, 1970, पृष्ठ 1.

7 वही।
8 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 29, 1970, पृष्ठ 1
9. 'जर्नल ऑफ दि सोसाइटी फार स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेंट्स', वॉल्यूम 3, नम्बर 3, जुलाई 1, सितम्बर 1970, पृष्ठ 164
10 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 29, 1970, पृष्ठ 1
11 वही, नवम्बर 24, 1972, पृष्ठ 6
12 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', सितम्बर 12, 1969, पृष्ठ 8
13 जब पंजाबी भाषा के सम्बन्ध में मतदान हुआ तो चार अकाली सदस्यों ने विपक्ष के साथ मतदान किया, जिस के कारण राज्यपाल का उस के भाषण के लिए धन्यवाद करने से सम्बन्धित प्रस्ताव में विपक्ष का संशोधन पास हो गया। लेकिन उन चार सदस्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे सरकार के साथ हैं और साथ ही रहेंगे।
'दि स्टेट्समैन', अप्रैल 16, 1967, पृष्ठ 1
14 वही।
15 लोकसभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम् 7, नम्बर 41-45, जुलाई 20, 1967, कालम 13447,
16 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', अप्रैल 12, 1967, पृष्ठ 1
17. के० संथानम, 'दि स्टेट्समैन', अप्रैल 17, 1967, पृष्ठ 6
18. एल एन सरीन, 'दि इण्डियन एक्सप्रैस', मार्च 14, 1969, पृष्ठ 6
19 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', मार्च 14, 1969, पृष्ठ 1
20 'दि स्टेटसमैन', नवम्बर 27, 1971, पृष्ठ 7
21 'लोकसभा डिबेट्स', वॉल्यूम 45, नम्बर 1-10, नवम्बर 19, 1970, कॉलम 340
22 'पैट्रिअट', नवम्बर 23, 1967, पृष्ठ 4
23 'एशियन रिकार्डर', अगस्त 6-12, 1969, पृष्ठ 9065
24 'दि इण्डियन ऐक्सप्रेस', जून 9, 1972, पृष्ठ 6
25 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', जून 10 1972, पृष्ठ 1
26 'एशियन रिकार्डर', जनवरी 29, फरवरी 4, 1971, पृष्ठ 9984
27 'लोकसभा डिबेटस', चौथी शृंखला, वॉल्यूम् 9, नम्बर 6-10, नवम्बर 23, 1967, कॉलम 2330
28 'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया', नवम्बर 17, 1967, पृष्ठ 1
29 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 22, 1967 पृष्ठ 1
30 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', नवम्बर 23, 1967, पृष्ठ 1
31 'लोकसभा डिबेट्स' चौथी शृंखला, वॉल्यूम् 10, नम्बर 11-15, दिसम्बर 4, 1967, कॉलम 4556
32 वही।
33 अशोक सेन, वही, कालम 307
34 कृष्णचन्द्र पन्त, वही, कॉलम 407
35 कुछ समय तक कांग्रेस का विभाजन होने पर श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार अल्पमत होते हुए भी अपने पद पर इसलिए बनी रही क्योंकि लोकसभा में इस की सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास नहीं किया गया।
36 'एशियन रिकार्डर', अप्रैल 30 मई 1970, पृष्ठ 9522
37. 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम् 40, नम्बर 1-10, नवम्बर 19, 1970,

कॉलम 423.

38. वहीं, कालम 382.
39. वही: कालम 307.
40. वही।
41. वही: कॉलम 379-380.
42. एच० एन० मुकर्जी द्वारा उद्धृत, 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी शृंखला वॉल्यूम 10, नम्बर 1-10, दिसम्बर 4, 1967, कॉलम 4564.
43. शासित दल, कांग्रेस मोर्चे ने संयुक्त विधायक दल के उन 31 समर्थकों को जिन्होंने संयुक्त विधायक दल छोड़ा था, राजभवन में राज्यपाल के सामने यह दिखाने के लिए पेश किया कि 172 सदस्यों वाले विधायक दल का, जिस का नेतृत्व महामायाप्रसाद सिन्हा कर रहे हैं, अब विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा ('दि हिन्दुस्तान टाइम्स', नवम्बर 5, 1967, पृष्ठ 5)। लेकिन वहां के राज्यपाल अय्यंगर ने फिर भी मुख्यमंत्री से विधान-सभा की बैठक तुरन्त बुलाने को नहीं कहा। राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री के उस परामर्श को मान लिया कि विधान-सभा का सत्र 18 जनवरी 1968, को बुलाया जाये। इस का अर्थ यह था कि विधान-सभा में बहुमत न रहने के 72 दिन पश्चात सत्र बुलाया गया।
    वही; नवम्बर 29, 1967, पृष्ठ 5.
44. जब भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी तथा प्रजा सोशलिस्ट दल के कुछ सदस्यों ने प्रोग्रेसिव विधायक दल (जिस में कांग्रेस, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी शामिल थे) की सरकार से समर्थन वापस लिया तो उस समय संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता रामानन्द तिवारी ने राज्यपाल का ध्यान इस ओर दिलाते हुये लिखा कि अब प्रोग्रेसिव विधायक दल की सरकार का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा। उस समय राज्यपाल ने उन्हें विधान-सभा के उन सदस्यों की सूची भेजने को कहा जो प्रोग्रेसिव विधायक दल की सरकार के विरुद्ध हैं। राज्यपाल ने पत्रकारों को यह भी कहा, कि भोला पासवान शास्त्री की सरकार का विधान-सभा में बहुमत है या नहीं इसका निर्णय केवल विधान-सभा में ही किया जा सकता है। भारतीय साम्यवादी दल ने जो सरकार से अपना समर्थन वापस लिया है, उससे सरकार के अस्तित्व को कोई खतरा नहीं। जब उनसे यह प्रश्न पूछा गया कि क्या वह विधान-सभा सत्र जल्दी ही बुलायेंगे तो उन्होंने कहा कि विधान-सभा का सत्र अभी नहीं बुलाया जायेगा।
    'दि स्टेट्समैन', जुलाई 17, 1971, पृष्ठ 1.
45. (अ) जब कांग्रेस के विभाजन के कारण चन्द्रभानु गुप्त का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा तो उस समय चरण सिंह ने राज्यपाल का इस ओर ध्यान दिलाते हुये एक पत्र लिखा था जिसके उत्तर में राज्यपाल ने चरण सिंह को लिखा, कि "मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत है या नहीं इस का निर्णय केवल विधान-सभा में ही हो सकता है।" जब राज्यपाल के मित्र बालसुब्रमण्यम ने पत्र लिख कर यह मांग की कि चन्द्रभानु गुप्त को विधान-सभा का सत्र बुला कर यह सिद्ध करना चाहिए कि उनका विधान-सभा में बहुमत है या नहीं तो उन्हें भी राज्यपाल ने वैसा ही उत्तर दिया जैसा कि चरण सिंह को दिया था, जो कि 17 अक्तूबर 1969 को स्वराज्य में प्रकाशन किया गया था और चन्द्रभानु गुप्त को मुख्यमन्त्री पद पर बना रहने दिया गया था। चरण सिंह ने 27 नवम्बर को पत्र लिखा था लेकिन विधान-सभा का सत्र फरवरी 1970, में बुलाया गया।
    'लोक सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 45, नम्बर 1-10, नवम्बर 19, 1970, कॉलम 302-3.

(ख) पत्रकारों से औपचारिक रूप से बातचीत करते समय राज्यपाल ने कहा, कि "यह कार्य राज्यपाल का नहीं है कि वे यह मालूम करने के लिये कि विधान-सभा में बहुमत किस का है, सदन से बाहर अनेक राजनैतिक दलों के सदस्यों की गिनती करें। संविधान में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि दो सत्रों के बीच छः महीने का अन्तर होगा। मुख्यमन्त्री इस समय से बाध्य है। उन्होंने कहा कि अल्पमत की सरकार, उस समय तक अवैधानिक नहीं है जब तक विधान सभा में यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उस सरकार का बहुमत नहीं है। अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां अल्पमत सरकारों को शपथ दिलाई गई, लेकिन उन के पश्चात् उन का बहुमत हो गया तथा वे स्थिर सिद्ध हुई।

दि टाईम्स आफ इण्डिया, दिसम्बर 21, 1969, पृष्ठ 7

46 'दि स्टेट्समैन', अगस्त 13, 1967, पृष्ठ 1
47 'दि ट्रिब्यून', नवम्बर 22, 1967, पृष्ठ 3
48 वही, नवम्बर 1, 1967, पृष्ठ 1
49 वही, दिसम्बर 13, 1968, पृष्ठ 1
50 वही, जुलाई 2, 1970, पृष्ठ 1
51 'दि स्टेट्समैन', जुलाई 8, 1970, पृष्ठ 1
52 वही, जुलाई 9 1970, पृष्ठ 1
53 वही, जुलाई 8, 1970, पृष्ठ 1
54 'दि स्टेट्समैन', जुलाई 15, 1971, पृष्ठ 1
55 वही, जुलाई 22, 1971, पृष्ठ 1
56 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम 11 नम्बर 26-30, दिसम्बर 22, 1967, कॉलम 9486
57 वही, वॉल्यूम 25, नम्बर 16-20, मार्च 12, 1969, कॉलम 272
58 वही, वॉल्यूम 45, नम्बर 1-10, नवम्बर 19, 1970, कॉलम 285
59 वही, चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम 9, नम्बर 6-10, नवम्बर 23, 1967, कॉलम 2330
60 पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल के पक्ष में बोलते हुये अशोक सेन ने कहा कि बिहार का राज्यपाल पक्षपात कर रहा है।

वही, वॉल्यूम 10, नम्बर 11-15 दिसम्बर 15, 1967, कॉलम 4296

61. 'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया', नवम्बर 17, 1967, पृष्ठ 1
62. वही, नवम्बर 12, 1967, पृष्ठ 8.
63 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 11, 1967, पृष्ठ 8
64 एन० सी० चैटर्जी, 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम 9, नम्बर 6-10, 23 नवम्बर 1967 कालम 2402-03
65 'दि ट्रिब्यून', अगस्त 15, 1969, पृष्ठ 4
66 9 दिसम्बर 1969 को कांग्रेस के 15 विधायकों ने कांग्रेस दल को छोड़ दिया और उन्होंने विपक्ष के साथ मिल कर संयुक्त विधायक दल की स्थापना की। इस दल का नेता भगवतदयाल था। इस संयुक्त दल के 41 सदस्य राज्यपाल के पास गये तथा उन्होंने वर्तमान मन्त्रि-मण्डल को बरखास्त करने की मांग की। परन्तु उस के तुरन्त पश्चात् उन में से कुछ विधायकों ने संयुक्त दल को छोड़ दिया और वे पुनः कांग्रेस विधायक दल में जा मिले। 37 घंटे के भीतर 81 सदस्यों वाले सदन में, जिस में एक खाली स्थान था, कांग्रेस विधायक दल की संख्या 43 हो गई। 'कम्पलिन्ट' वॉल्यूम 1, नम्बर 1, जनवरी 1969, पृष्ठ 3

67. के० सुब्बाराव, 'दि ट्रिब्यून', अगस्त 15, 1969, पृष्ठ 4.
68. 'पैट्रियट', नवम्बर 24, 1967, पृष्ठ 2.
69. 'दि ट्रिब्यून', मार्च 23, 1968, पृष्ठ 1.
70. 'दि सण्डे स्टैंडर्ड', अप्रैल 7, 1968, पृष्ठ 1.
71. हरियाणा विधान-सभा का सत्र 1968-71 के बीच केवल 72 दिन हुआ था।
72. 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', नवम्बर 23, 1967, पृष्ठ 1.
73. 'दि ट्रिब्यून', दिसम्बर 17, 1967, पृष्ठ 2.
74. 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', दिसम्बर 3, 1967, पृष्ठ 6.
75. 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', दिसम्बर 1, 1969, पृष्ठ 1.
76. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 7, पृष्ठ 1166.
77. राज्यपाल ने राष्ट्रपति को जो रिपोर्ट लिखी उस में इस बात की स्पष्ट रूप में चर्चा की गई थी। 'दि ट्रिब्यून', नवम्बर 22, 1967, पृष्ठ 3.
78. 'दि स्टेट्समैन', फरवरी 7, 1968, पृष्ठ 1.
79. 'एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमीशन', वॉल्यूम् 1, सितम्बर 1967, पृष्ठ 276.
80. 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम् 45, नम्बर 1-10, 19 नवम्बर 1970, कॉलम 412-13.
81. वही; कॉलम 298.
82. (क) 'लोकसभा डिबेट्स', वाल्यूम् 45, नम्बर 1-10, 19 नवम्बर 1970, कॉलम 347.
(ख) यहां पर यह चर्चा भी की जा सकती है कि उत्तर प्रदेश के राज्यपाल का यह दृष्टिकोण ज्योतिबसु के दृष्टिकोण से मिलता जुलता है। उदाहरणतया पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री अजय मुकर्जी को उस ने जो पत्र लिखा था उस में कहा था, कि "हालांकि संविधान में यह लिखा है कि मन्त्रियों की नियुक्ति मुख्यमन्त्री के कहने पर की जायेगी, परन्तु इस का अभिप्राय यह नहीं है कि प्रत्येक राजनैतिक परिस्थिति में मुख्यमन्त्री की स्थिति सरकार के मामलों में सर्वश्रेष्ठ होगी और वह अपने साथियों के कार्य की देखभाल करेगा। मुख्यमन्त्री तथा मन्त्रीपरिषद के सम्बन्धों की सविस्तार चर्चा करते हुये ज्योतिबसु ने कहा कि प्रत्येक मन्त्री का चुनाव, उस की नियुक्ति के लिए उनके राजनैतिक दलों द्वारा किया गया है। मुख्यमन्त्री तो केवल एक ऐसा सन्देशवाहक माध्यम है जो संयुक्त मोर्चे की इच्छाओं को राज्यपाल तक पहुंचाता है। इसलिए बंगाल की इस समय जो राजनैतिक परिस्थितियां हैं उन में अन्य मन्त्रियों के मुकाबले में मुख्यमन्त्री की विशेष स्थिति नहीं है जिसे सर्वश्रेष्ठ कहा जाये," ('दि स्टेट्समैन', जनवरी 26, 1970 पृष्ठ 11.)। परन्तु मुख्यमन्त्री ने बसु के इस तर्क को मानने से इन्कार कर दिया और कहा कि वे इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं कि संयुक्त मोर्चे की सरकार में मुख्यमन्त्री की स्थिति अन्य मन्त्रियों के समान है। ऐसा कहना तथा उस को स्वीकार करना सरकार के विरुद्ध है। 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', फरवरी 1, 1970, पृष्ठ 1.
83. 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 27, 1967, पृष्ठ 7.
84. यह कांग्रेस, प्रजा सोशलिस्ट तथा मुस्लिम लीग की संयुक्त सरकार थी। इस में तीनों दलों की क्रमशः संख्या 63,17 तथा 11 थी।
85. इस में कांग्रेस, भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी, मुस्लिम लीग, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी शामिल थी और कांग्रेस सब से बड़ी पार्टी थी।
86. जब जनसंघ ने जून 1970 में बादल सरकार से अपना समर्थन वापस लिया तो उस समय जनसंघ के मन्त्रियों ने त्यागपत्र दे दिया था।

87. नवम्बर 1967 में पश्चिमी बंगाल में पी० सी० घोष तथा उस के समर्थकों ने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया था।
88 जनवरी 1971 में जन कांग्रेस ने आर० एन० सिंहदेव के मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस ले लिया तथा उस दल के मन्त्रियों ने भी त्यागपत्र दे दिया था। इसी प्रकार उत्कल कांग्रेस ने 1972 में जब विश्वनाथ दास सरकार से अपना समर्थन वापस लिया तो उस दल के मन्त्रियों ने भी त्यागपत्र दे दिया था।
89 'लोकसभा डिबेट्स', वॉल्यूम 45, नम्बर 1-10, नवम्बर 19, 1970 कॉलम 307
90 नाथ पाई, 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम 45, नम्बर 1-19, 19 नवम्बर 1970, कालम 389
91. 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला वॉल्यूम 10, नंबर 11-15, पहली दिसम्बर 1967, कालम 4289
92 'दि ट्रिब्यून', जुलाई 20, 1962
93. 'पैट्रियट', फरवरी 4, 1969 पृष्ठ 1.
94 'दि ट्रिब्यून', जुलाई 20, 1962
95 के० वी० राव 'पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी इन इण्डिया', दूसरा संस्करण 1965, पृष्ठ 68
96 'दि ट्रिब्यून', 20 जुलाई 1962
97 'दि स्टेट्समैन', 6 अप्रैल 1967, पृष्ठ 1
98 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', 17 मार्च 1970, पृष्ठ 1

4

मन्त्रियों की नियुक्ति तथा बरखास्तगी

नियुक्ति

अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा मुख्यमन्त्री के परामर्श पर की जाती है तथा वे राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहते हैं। इसी अनुच्छेद की धारा (2) के अनुसार यह मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रत्येक मन्त्री को पद का भार सम्भालने से पहले राज्यपाल द्वारा गोपनीयता तथा पद की शपथ दिलाई जाती है। यदि कोई मन्त्री नियुक्ति के समय विधान-सभा का सदस्य न हो तो उसे छः महीने की अवधि के अन्दर विधान-सभा का सदस्य बनना पड़ता है और यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो छः महीने की अवधि समाप्त होने पर उसे पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

इस अनुच्छेद से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा केवल मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर की जाती है अर्थात् राज्यपाल किसी भी व्यक्ति को मुख्यमन्त्री की सिफारिश के बिना मन्त्री नहीं बना सकता और यदि राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति को जो विधानमण्डल का सदस्य नहीं है, मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर मन्त्री नियुक्त कर दे तो वह या तो छः महीने में विधानमण्डल का सदस्य बन जाएगा या उस अवधि के समाप्त होने पर पद से त्यागपत्र दे देगा। परन्तु इस सम्बंध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि वह मन्त्री छः महीने की अवधि समाप्त होने पर एक बार त्यागपत्र दे दे तो क्या बिना विधानमण्डल का सदस्य बने उसे दोबारा तुरन्त या कुछ समय पश्चात् मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है? यह प्रश्न विन्देश्वरी प्रसाद के सम्बन्ध में बिहार में 1967 में उत्पन्न हुआ था और इस प्रश्न पर मुख्यमन्त्री की नियुक्ति से संबंधित अध्याय (2) में सविस्तार चर्चा की गई है।

अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति के संबंध में यह पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल उनकी नियुक्ति के संबंध में मुख्यमन्त्री को प्रभावित कर सकता है? जब राज्यपाल तथा सत्तारूढ़ दल भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों से संबंध रखते हों और विधान-सभा में बहुमत वाले दल का एक सर्वमान्य नेता हो तो उस समय साधारणतया राज्यपाल मन्त्रियों की नियुक्ति में मुख्यमन्त्री को प्रभावित नहीं कर सकता। परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी यह हो सकता है कि मनोनीत मुख्यमन्त्री स्वयं राज्यपाल से कुछ मन्त्रियों के

नामों का सुझाव देने का प्रस्ताव रखे। उदाहरणतया तमिलनाडु में 1967 में जब अन्नादुरई ने द्रविड़ मुनेत्र कड़गम् दल की सरकार बनाई थी उस समय उस ने मन्त्रियों की सूची वहां के राज्यपाल उज्जल सिंह को दिखाई थी तथा राज्यपाल ने जिन नामों का सुझाव दिया था उस सुझाव को भी मान लिया गया था।[1] यदि मनोनीत मुख्यमन्त्री तथा राज्यपाल एक ही राजनैतिक दल से सम्बन्ध रखते हों तो कहां तक यह मन्त्रियों की नियुक्ति में मुख्यमन्त्री को प्रभावित करेगा, यह उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करता है। यदि मुख्यमन्त्री के दिल में राज्यपाल का सम्मान है तो वह राज्यपाल द्वारा सुझाए गए नामों को मन्त्रियों की सूची में शामिल कर सकता है। वास्तव में स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् कुछ राज्यों में मुख्यमन्त्री राज्यपाल से परामर्श ले कर मन्त्रिमण्डल की सूची तैयार करते थे, और उन द्वारा सुझाए गए कुछ नामों को मन्त्रिमण्डल की सूची में शामिल कर लिया करते थे। मद्रास, बम्बई तथा असम के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीप्रकाश ने लिखा है कि असम तथा मद्रास में मुख्यमन्त्री प्रायः मन्त्रियों की नियुक्ति के सबंध में राज्यपाल से परामर्श किया करते थे और एक या दो व्यक्तियों को उन के कहने पर मन्त्री बनाया जाता था।[2] उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल विश्वनाथ दास के अनुसार उन के कहने पर उन के मुख्यमन्त्री ने भी कुछ व्यक्तियों को मंत्री बनाया था।[3]

यदि विधान-सभा में किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत नहीं है और यदि वहां पर विपक्ष की एक मिली-जुली सरकार बनती है तो भी राज्यपाल का मन्त्रियों की नियुक्ति में कोई प्रभाव नहीं होगा। ऐसी सरकार में तो मुख्यमन्त्री का भी मन्त्रियों के चयन में बहुत प्रभाव नहीं होता क्योंकि सरकार में सम्मिलित प्रत्येक दल अपने दल के मन्त्रियों का चयन स्वयं करता है। यदि चुनाव से पहले अनेक दल अपना एक संगठन न बनायें और चुनाव में किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत न हो तो उस समय राज्यपाल को राजनैतिक स्थिति का अनुमान लगाने का अवसर मिल जाएगा और ऐसा करते समय वह मन्त्रियों की नियुक्ति में कुछ प्रभाव अवश्य डाल सकता है क्योंकि यह किसी भी व्यक्ति को मन्त्रिमण्डल बनाने का निमन्त्रण देने से पहले यदि उस के सामने मन्त्रिमण्डल में लिए जाने वाले कुछ व्यक्तियों के नामों का सुझाव रखे तो संभावित मुख्यमन्त्री के लिए यह कठिन होगा कि वह राज्यपाल को इस बिना पर नाराज करे क्योंकि ऐसा करने का एक परिणाम यह हो सकता है कि राज्यपाल उसे मुख्यमन्त्री ही नियुक्त न करे। हालांकि राज्यपाल द्वारा ऐसा करना असाधारण कार्य होगा परन्तु यह असंभव नहीं है, विशेषकर इस लिए क्योंकि कुछ राज्यपाल सक्रिय राजनीति में भाग लेने का प्रयास करते रहे हैं।

यद्यपि मन्त्रियों की नियुक्ति में साधारणतया राज्यपाल का कोई हाथ नहीं होता क्योंकि उन की नियुक्ति मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर की जाती है परन्तु इस का अर्थ यह नहीं है कि मुख्यमन्त्री उन की नियुक्ति में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल अवश्य ही नकारात्मक ढंग से कार्य कर सकता है। उदाहरणतया यदि मुख्यमन्त्री किसी ऐसे व्यक्ति को अपने मन्त्रिमण्डल में लेना चाहे जो भ्रष्ट हो तो

उसे पद की शपथ दिलाने से पहले उसे कई बार सोचना पड़ेगा। और यदि वह ऐसा करने से इंकार कर दे तो वह असंवैधानिक भी नहीं होगा। बिहार के राज्यपाल आर० डी० भण्डारे ने रामराज सिंह तथा राघानन्दन झा को, जिन्होंने मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र देने से इन्कार कर दिया था, शपथ दिलाने से इसलिए इन्कार कर दिया था क्योंकि उन्होंने राज्यपाल की इसलिए आलोचना की थी कि उस ने मुख्यमन्त्री केदार पाण्डे को मन्त्रिमण्डल की पुन: रचना करने की आज्ञा दी थी। ऐसा करके मुख्यमन्त्री ने कुछ मन्त्रियों को अपने मन्त्रीमण्डल से निकाल दिया था। उन्हें केवल उसी समय उन के पद की शपथ दिलाई जब उन्होंने लिखित रूप में राज्यपाल से माफी मांगी।[5] लेकिन साधारणतया राज्यपाल केवल ऐसा तब ही कर सकता है जब राज्यपाल को यह विश्वास हो कि ऐसा करने से कोई संवैधानिक संकट नहीं होगा तथा उसे यह मालूम हो कि केन्द्रीय सरकार उन का समर्थन करेगी।

यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि किसी ऐसे व्यक्ति को पद की शपथ दिलाने से इन्कार करने में जो पद पर रहते हुए भ्रष्टाचारी सिद्ध हो गया हो तथा मुख्यमंत्री के साथ मतभेद के कारण बरखास्त किए गए भूतपूर्व मंत्री को पद की शपथ दिलाने में बहुत अन्तर है क्योंकि यह हो सकता है कि उस को भ्रष्टाचार के कारण नहीं अपितु अन्य कारणों से बरखास्त किया गया हो।[6] यह भी हो सकता है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में मुख्यमन्त्री को भी बरखास्त कर दिया जाए।[7] जब राज्यपाल इस प्रकार से बरखास्त हुए व्यक्तियों को दोबारा पद की शपथ दिलाता है तो इस से उस की अपनी शपथ का उल्लंघन नहीं होता।

परन्तु यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि राज्यपाल कहां तक अनुच्छेद 164 (3) के अधीन किसी ऐसे व्यक्ति को जो भ्रष्टाचारी न हो और जिसे मन्त्रिमण्डल में लेने की सिफारिश मुख्यमन्त्री ने की हो, उसे पद की शपथ दिलाने से इन्कार कर सकता है। यद्यपि, साधारणतया तो यह आशा की जाती है कि राज्यपाल ऐसा नहीं करेंगे लेकिन फिर भी कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य ही मिलते हैं जहां पर राज्यपालों ने ऐसा किया है। उदाहरणतया पंजाब में जब सन्त गुट के कुछ अकाली सदस्य गुरनाम सिंह गुट में जा मिले तो उस समय अकाली दल की संख्या 54 से घट कर 51 रह गई थी उस समय ऐसा समझा जाता है कि बादल एक या दो मंत्रियों को शपथ दिलाना चाहते थे लेकिन राज्यपाल डॉ० सी० पावते ने शपथ दिलाने से इंकार कर दिया था। जब डा० पावते राज्यपाल के पद से मुक्त हुए तो उन्होंने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा, कि "राज्यपाल को जनता की भलाई को ध्यान में रखते हुए स्वयं भी सोचना चाहिए। वह मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर प्रत्येक सदस्य को मन्त्री बनाने के लिए बाध्य नहीं है।[8]" लगभग इसी दृष्टिकोण की पुष्टि उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने भी की जब उन्होंने यह कहा कि उन्होंने "चन्द्रभानु गुप्त को मन्त्रिमण्डल की संख्या बढ़ाने की अनुमति इसलिए दे दी थी क्योंकि उस समय तक उन के पास लिखित रूप से यह सूचना नहीं थी कि मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा में बहुमत नहीं है।"[9] इनका

दूसरे शब्दो मे अर्थ यह है कि यदि उन्हे लिखित रूप से यह सूचना होगी कि मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा मे बहुमत नही है तो वह मुख्यमन्त्री को मन्त्रिमण्डल मे विस्तार करने की आज्ञा न देंगे । यह देखना अभी शेष है कि जब राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री पद की शपथ दिलाने से इन्कार कर देंगे जो कुख्यात प्रकार के 'आया राम', 'गया राम' होगे ।[10]

मन्त्रियो की संख्या

साधारणतया मन्त्रिमण्डल के आकार का निर्णय मुख्यमन्त्री ही करता है और अब तक मन्त्रिमण्डल के आकार के सबध मे देश मे कोई एक नीति भी नही है । यद्यपि कभी-कभी यह सुझाव अवश्य दिया जाता रहा है कि जिन राज्यो मे केवल विधान-सभा है वहा पर मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की सख्या 10% से अधिक नही होनी चाहिए और जहा पर द्विसदनात्मक विधान-मण्डल है वहा पर यह 11% से अधिक नही होनी चाहिए । लेकिन इस प्रकार की एक नीति न होने पर भी यदि राज्यपाल यह समझे कि मन्त्रिमण्डल मे एक उचित सीमा से अधिक विस्तार करने से उस का आकार इतना बडा हो जाएगा जो न केवल अनुचित ही मालूम पडेगा बल्कि राजनैतिक दृष्टि से वह एक प्रकार का भ्रष्टाचार भी होगा तो वे मुख्यमन्त्री की इस सबध मे की गई सिफारिश को रद्द करते हुए मन्त्रियो को उन के पद की शपथ दिलाने से इन्कार कर सकते हैं । हरियाणा के राज्यपाल बीरेन्द्र नारायण चक्रवर्ती ने राव बीरेन्द्र सिंह के मन्त्रिमण्डल को बरखास्त करने की सिफारिश करते हुए, राष्ट्रपति को लिखा था, कि "सरकार ने अपनी गद्दी को बचाने के लिए उचित सीमा से अधिक मन्त्रियो की नियुक्ति की है जो सवैधानिक अधिकार का दुरुपयोग है । मन्त्रियो तथा ससदीय सचिवो की इतनी अधिक सख्या अर्थात् एक बार सत्तारूढ दल के 41 सदस्यो मे से 23 और अब 40 सदस्यो मे से 22 किसी भी प्रकार के प्रशासनिक आवश्यकताओ को देखते हुए उचित नही है । यदि हम इस बात का ध्यान रखे कि सयुक्त दल मे जनसघ के 10 सदस्यो ने पद लेने से इन्कार कर दिया तो इस का अर्थ यह होगा कि दल के शेष 30 सदस्यो मे से 22 सदस्य पदो पर हैं और यह स्थिति एक बहुत बेहूदी तथा भद्दी है ।"[11]

अत मन्त्रिमण्डल के इतने बडे आकार को हरियाणा के राज्यपाल ने सवैधानिक अधिकार के दुरुपयोग के नाम से सम्बोधित किया है और ऐसा कहना अनुचित भी नही है । लेकिन यह आश्चर्यजनक बात है कि 1967 मे जब पजाब मे लछमन सिंह गिल ने मन्त्रिमण्डल बनाया तो उस की जनता पार्टी के 19 सदस्यो मे से 16 सदस्य मन्त्री थे (80%) और शेष 3 सदस्य भी इस लिए मन्त्री नही बन सके क्योकि वे कांग्रेस छोड कर जनता पार्टी मे गए थे और कांग्रेस उनका विरोध करती थी तथा कांग्रेस के समर्थन के बिना गिल का मन्त्रिमण्डल बना नही रह सकता था । इसका अभिप्राय यह है कि जनता पार्टी तथा रिपब्लिकन पार्टी के सारे वे सदस्य जो मन्त्री नियुक्त किए जा सकते थे मन्त्री बना दिए गए थे लेकिन फिर भी पजाब के राज्यपाल डी०सी पावटे के विचार मे यह सवैधानिक अधिकारो का दुरुपयोग नही था । इसी प्रकार

पश्चिमी बंगाल में जब नवम्बर 1967 में अजय मुकर्जी के मन्त्रिमण्डल को बरखास्त किया गया तो उस के पश्चात् डी० पी० घोष को मुख्यमन्त्री बनाया गया था। उन के 17 साथियों में से, जिन्होंने उन के साथ संयुक्त मोर्चा छोड़ा था, 10 को (59%) मन्त्री बना दिया गया था और वहां पर भी इसे संवैधानिक अधिकारों का दुरुपयोग नहीं समझा गया। अत: भिन्न-भिन्न राज्यपालों का, मन्त्रिमण्डल के आकार के प्रति दृष्टिकोण एक जैसा नहीं है और इस लिए लोकसभा में बोलते हुए सीजिया ने कहा, कि "क्या जो कुछ हरियाणा के सम्बन्ध में कहा गया है वह पंजाब पर लागू नहीं होता? इसलिए भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न सिद्धांतों को लागू किया जाता है।"[12] इस संबंध में यह भी पूछा जा सकता है कि यदि मन्त्रिमन्डल का बहुत बड़ा आकार संवैधानिक अधिकारों का दुरुपयोग है, तो राज्यपाल ऐसा करने की आज्ञा क्यों देते हैं और इस दुरुपयोग की अवहेलना उस समय क्यों की जाती है जब कांग्रेस (सत्तारूढ़) इस प्रकार के मन्त्रिमण्डलों का समर्थन करती है जैसा कि पंजाब में गिल मन्त्रिमण्डल के समय और पश्चिमी बंगाल में पी०सी० घोष के मन्त्रिमण्डल के समय में हुआ था।

मन्त्री की बरखास्तगी

मन्त्री नियुक्ति के पश्चात् राज्यपाल के प्रसाद प्रयन्त अपने पद पर बना रहता है। ब्रिटिश पद्धति के अनुसार, "प्रधानमन्त्री एक ऐसा सूर्य है जिसके चारों ओर सितारे घूमते रहते हैं। उसे यह निर्णय करने का अधिकार है कि वे सितारे (मन्त्री) कौन-कौन होंगे तथा वह उनके स्थानों में (विभागों) परिवर्तन कर सकता है तथा उन्हें उनके स्थान (पद) से हटा भी सकता है।"[13] इंग्लैंड में यदि प्रधानमन्त्री किसी मन्त्री को अयोग्य समझे या उसके मन्त्रिमन्डल में रहने से सारे मंत्रिमंडल को खतरा हो, तो वह उसे त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है।[14] लेकिन प्रश्न यह है कि हमारे देश में स्थिति क्या है ? पजाब उच्च न्यायालय के अनुसार "संविधान के अनुसार मन्त्री को बरखास्त करने का अधिकार राज्यपाल को है"।[15] साधारणतया हमारे देश में इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई मंत्री मुख्यमन्त्री के कहने पर त्यागपत्र नहीं देता तो वह उसे राज्यपाल द्वारा बरखास्त करने की सिफारिश कर सकता है। उदाहरणतया, 1961 में पंजाब में जब मुख्यमन्त्री सरदार प्रतापसिंह कैरों के कहने पर रावबीरेन्द्र सिंह ने त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया तो उस समय मुख्यमन्त्री के परामर्श पर राज्यपाल ने उसे बरखास्त कर दिया था।[16] इसी प्रकार 1964 में बम्बई में भी एक मन्त्री को बरखास्त किया गया था। 1972 में इसी प्रकार से हिमाचल में भी दौलतराम सांख्यान को[18] और 1974 में मानिगराम को मुख्यमन्त्री के परामर्श पर राज्यपाल ने बरखास्त कर दिया था। फरवरी 1973 में गुजरात में चिमन भाई पटेल की सिफारिश पर राज्यपाल ने चार मन्त्रियों को बरखास्त किया था। इसी प्रकार हरियाणा में बन्सीलाल के कहने पर श्रीमती चद्रावती को जून 1974 में बरखास्त कर दिया गया था। इस प्रकार से साधारणतया राज्यपाल मन्त्रियों को मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर बरखास्त करता है। लेकिन कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां

पर राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर मन्त्रियों को बरखास्त करने से इन्कार कर दिया। उदाहरणतया, उत्तर प्रदेश में तत्कालीन मुख्यमन्त्री चरण सिंह की सिफारिश पर वहाँ के राज्यपाल गोपाला रेड्डी ने मन्त्रियों को बरखास्त करने से इन्कार कर दिया था। चन्द्रभानु गुप्त के मन्त्रिमन्डल के पतन होने पर चरण सिंह ने अल्पमत सरकार बनाई थी और कांग्रेस (सत्तारूढ़) ने राज्यपाल को लिखित रूप में यह विश्वास दिलाया था कि वह चरण सिंह सरकार का उसमें शामिल हुए बिना समर्थन करेगी। लेकिन दो महीने पश्चात वह सरकार में शामिल हो गई और इस प्रकार कांग्रेस और भारतीय क्रांति दल की संयुक्त सरकार की स्थापना हुई। लेकिन कुछ समय पश्चात दोनों दलों में मतभेद हो गया जिसके परिणामस्वरूप चरण सिंह ने कांग्रेस दल के मन्त्रियों से त्यागपत्र देने को कहा और उन मन्त्रियों ने मुख्यमन्त्री के इस सुझाव को रद्द कर दिया।[19] उसके पश्चात् मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से यह सिफारिश की कि वह उनके विभाग छीनकर उसे दे दें तथा मन्त्रियों को बरखास्त कर दें।[20] राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर उनके विभाग तो उसे दे दिए परन्तु मन्त्रियों को बरखास्त नहीं किया और उन्हें बिना विभाग के मन्त्री बने रहने दिया।[21] राज्यपाल ने न केवल उन्हें बरखास्त करने से इन्कार कर दिया बल्कि मुख्यमन्त्री को त्यागपत्र देने के लिए कहा। जब मुख्यमन्त्री ने त्यागपत्र देने से इन्कार किया तो राज्यपाल ने राष्ट्रपति से यह सिफारिश की कि संविधान के अनुच्छेद 356 के अधीन मन्त्रिमण्डल को बरखास्त करके वहाँ पर राष्ट्रपति-शासन लागू कर दिया जाये।[22] राष्ट्रपति ने उसकी सिफारिश पर वैसा ही कर दिया।

जब मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल से कुछ मन्त्रियों को बरखास्त करने की सिफारिश की तो साधारणतया राज्यपाल को मुख्यमन्त्री की सिफारिश को मानना चाहिए था। लेकिन राज्यपाल ने उस सिफारिश को न मानने के निम्नलिखित कारण बताए

(1) यदि वह सिफारिश अधिकारों के दुरुपयोग के आधार पर होती तो वह उन्हें मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर बरखास्त कर देता।[4]

(2) मिली जुली सरकार के मुख्यमन्त्री को मन्त्रियों के हटाने या मन्त्रिमण्डल की दोबारा रचना करने के संबंध में एक दल के बहुमत वाले मुख्यमन्त्री के समान नहीं समझा जा सकता।[23]

(3) चरण सिंह को खण्डरात की बुनियाद पर नया महल बनाने की आज्ञा नहीं दी जा सकती और सरकार का दोबारा गठन करने के लिये मुख्यमन्त्री का अपना त्यागपत्र देना चाहिए था जो कि एक पुरानी प्रथा है।[16]

जहाँ तक पहले तर्क का सम्बन्ध है वह निराधार है और कोई भी संवैधानिक विशेषज्ञ इससे सहमत नहीं होगा। सर आइवर जैनिंग्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कैबिनेट गवर्नमैन्ट' में कहा है कि प्रधानमन्त्री को अपने मन्त्रिमन्डल में परिवर्तन करने का अधिकार मन्त्रियों की अयोग्यता के आधार पर ही नहीं है बल्कि वह राजनैतिक

मतभेद होने पर भी ऐसा कर सकता है।[27] सर विन्स्टन चर्चिल ने कहा था कि "सरकार बनाने तथा मन्त्रियों के त्यागपत्र का निर्णय करने का अधिकार यह सिद्ध करता है कि उसे मन्त्रियों की उन्नति तथा बरखास्तगी का भी अधिकार है। इसी लिये यह कहा जाता है कि प्रधानमन्त्री अपने मन्त्रियों को हटाने में तानाशाही ढंग से कार्य कर सकता है।"[28] पी० के० देव ने लोकसभा में बोलते हुये यह उचित ही कहा था कि "मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन करने का अधिकार मुख्यमन्त्री का है। संविधान के अनुच्छेद 164 के अधीन मुख्यमन्त्री को मन्त्रियों की नियुक्ति का जो अधिकार दिया गया है उसका तात्पर्य यह भी है कि उसे मन्त्रियों के बरखास्त करने के लिए राज्यपाल को सिफारिश करने का अधिकार है और इस सिफारिश पर भी राज्यपाल वैसे ही बाध्य है जैसे उन्हें नियुक्त करने की सिफारिश से बाध्य होता है।"[29]

दूसरे, राज्यपाल ने मिली-जुली सरकार के मुख्यमन्त्री तथा विधान-सभा में एक दल के बहुमत वाले मुख्यमन्त्री में अन्तर बताया है, जिसका कोई संवैधानिक आधार नहीं है। जहां तक मन्त्रियों की नियुक्ति या उनके विभागों के वितरण का सम्बन्ध है, एक दल के मुख्यमन्त्री या मिली-जुली सरकार के मुख्यमन्त्री में कोई अन्तर नहीं होता। यह हो सकता है कि कुछ दलों में मिली-जुली सरकार बनाने के सम्बन्ध में समझौता हो, लेकिन राज्यपाल का उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। मुख्यमन्त्री के त्यागपत्र, उसकी हार या उसकी बरखास्तगी का प्रभाव दोनों प्रकार की सरकारों पर एक जैसा ही होता है। जब तक मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत है तब तक मुख्यमन्त्री एक मिली-जुली सरकार का हो या एक ऐसे दल का हो जिसका विधान-सभा में बहुमत है, उसका राज्यपाल के साथ समान सम्बन्ध होता है। जब मन्त्रि-मण्डल का आकार बहुत बड़ा न हो उस समय मिली-जुली सरकार का मुख्यमन्त्री यदि किसी व्यक्ति को अपने मन्त्रिमण्डल में लेने की सिफारिश करता है तो राज्यपाल साधारणतया उसे शपथ दिलाने से इन्कार नहीं कर सकता। इसी प्रकार राज्यपाल को उसे वह विभाग भी देना पड़ेगा जो मुख्यमन्त्री कहेगा। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ तक राज्यपाल तथा मुख्यमन्त्री का सम्बन्ध है, बहुमत दल के मुख्यमन्त्री तथा मिली-जुली सरकार के मुख्यमन्त्री में कोई भी अन्तर नहीं है। अतः जब तक मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत है, तब तक मिली-जुली सरकार के मुख्यमन्त्री तथा एक दल के मुख्यमन्त्री में कोई अन्तर नहीं। आचार्य जे० बी० कृपलानी ने ठीक ही कहा है कि उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने मुख्यमन्त्रियों की जो श्रेणियां बनाई हैं उनका कोई आधार नहीं है।

यह आश्चर्यजनक बात है कि भूतपूर्व विधि-मन्त्री अशोक सेन ने उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के पक्ष में बोलते हुए कहा कि "मंत्रिमण्डल एक सामूहिक उत्तरदायित्व वाली इकाई है और यह सामूहिक ढंग से ही कार्य कर सकता है। लेकिन जब कांग्रेस (सत्तारूढ़) तथा भारतीय क्रांति दल का विच्छेद हो गया तो उस समय शक्ति एक छोटे से गुट के पास रह गई......राज्यपाल के लिए यह आवश्यक नहीं था

कि वह उस गुट के कहने पर चलता। इसलिये उसने अपनी सूझबूझ से काम लिया और अटार्नी जनरल से परामर्श किया।"[31] राज्यपाल को चरण सिंह के कहने पर कार्य करना चाहिए था या नहीं, इसका निर्णय इस आधार पर नहीं करना चाहिए था कि चरण सिंह एक गुट के नेता हैं, बल्कि वह इस आधार पर करना चाहिए था कि उनका विधान-सभा में बहुमत है या नहीं। जब अन्य राजनैतिक दलों ने चरण सिंह के समर्थन के लिए लिख कर दे दिया था तो उससे उनका विधान-सभा में बहुमत हो गया था और फिर राज्यपाल या कोई अन्य व्यक्ति यह कैसे कह सकता था कि वे एक छोटे से गुट के नेता है। चूंकि मुख्यमन्त्री का विधान-सभा मे बहुमत था, अत राज्यपाल को यह चाहिए था कि वह उनकी सिफारिश पर उन मन्त्रियो को बरखास्त कर देता। यहाँ पर यह चर्चा करनी भी आवश्यक है कि मुख्यमन्त्री अपने पद पर उस समय तक रहता है जब तक कि उसका विधान-सभा मे बहुमत है, न कि उस समय तक जब तक कोई विशेष दल या मन्त्री परिषद् उसका समर्थन करती है।

इसके अतिरिक्त यह भी आश्चर्यजनक बात है कि चरण सिंह के कहने पर मन्त्रियों से उनके विभाग तो छीन लिये गये परन्तु उनके कहने पर उन मन्त्रियो को बरखास्त नही किया गया। यह मजेदार बात है कि चरण सिंह ने 24 अक्तूबर, 1970 को कांग्रेसी मन्त्रियों से त्यागपत्र देने के लिए कहा था और उसी दिन सायंकाल कांग्रेस के नेता कमलापति त्रिपाठी ने राज्यपाल को पत्र द्वारा यह सूचित किया कि उनका दल चरण सिंह मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस ले रहा है। लेकिन फिर भी 27 अक्तूबर तक राज्यपाल चरण सिंह को मुख्यमन्त्री मानते रहे क्योंकि 27 अक्तूबर को ही राज्यपाल ने चरण सिंह के कहने पर उन मन्त्रियो के विभाग छीन लिए थे। जब राज्यपाल ने इस सम्बन्ध मे मुख्यमन्त्री की सिफारिश मान ली थी तो फिर उनकी बरखास्तगी के बारे मे उनकी सिफारिश क्यों नहीं मानी गई। भूतपूर्व विधि मन्त्री पी० गोविन्दा मेनन ने द्वारिकाप्रसाद मिश्र वाले मामले मे मध्यप्रदेश के राज्यपाल के० सी० रेड्डी के समर्थन मे बोलते हुए कहा था कि "मिश्र उस समय तक मुख्यमन्त्री हैं जब तक यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उनका विधान-सभा मे बहुमत नहीं है। इसलिए राज्यपाल ने उनके परामर्श को मानकर उचित कार्य किया है।"[32] क्या यह तर्क चरण सिंह के मामले मे उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी पर लागू नहीं होता था ?

राज्यपाल का यह अन्तिम तर्क भी नहीं माना जा सकता कि चरण सिंह को पुराने खण्डरात पर नया महल बनाने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। इस सिद्धांत को मानने का तात्पर्य यह होगा कि भविष्य मे राज्यपाल इस बात का निर्णय किया करेंगे कि मिली-जुली सरकार मे कौन से राजनैतिक दल शामिल हों और कौन से दलो को शामिल न होने दिया जाये।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि हालांकि राज्यपाल को चरण सिंह को त्याग-

पत्र देने के लिए नहीं कहना चाहिए था लेकिन जब उनके कहने पर राज्यपाल ने मन्त्रियों को बरखास्त करने से इंकार कर दिया था तो उस समय उन्हें अपना त्यागपत्र देकर सरकार का पुनर्गठन करना चाहिए था ।[33]

संदर्भ

1. 'जर्नल ऑफ सोसायटी फार स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्ट', वॉल्यूम् 4, नम्बर 3 तथा 4, जुलाई दिसम्बर 1971, पृष्ठ 354.
2. श्रीप्रकाश, 'स्टेट गवनर्स इन इण्डिया', 1966, पृष्ठ 22.
3. 'जर्नल ऑफ सोसाइटी फार स्टडी ऑफ गवर्नमेंट', वॉल्यूम् 4, नम्बर 3-4, जुलाई-दिसम्बर 1971, पृष्ठ 354.
4. जब सरदार प्रतापसिंह कैरों पंजाब के तथा हरेकृष्ण मेहताब एवं बिरेन मित्रा उड़ीसा के मुख्य-मन्त्री थे, तो उन के विरुद्ध जांच आयोग नियुक्त किये गये थे और उन आयोगों ने यह सिद्ध कर दिया था कि वे भ्रष्ट हैं। क्या ऐसे व्यक्तियों को पद की शपथ दिला कर वह अपनी शपथ को भंग नहीं करेंगे ? यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि केन्द्र में केशव देव मालवीय को मन्त्री बनाया गया है। वे पहले भी केन्द्र में मन्त्री थे और उस समय उन के विरुद्ध सिराजुद्दीन कम्पनी के मामले में आयोग नियुक्त किया गया था। उस आयोग ने उन्हें दोषी ठहराया था। जनसंघ ने उन्हें मन्त्रिमण्डल से निकालने की मांग की है।
5. 'दि ट्रिब्यून', मई 31, 1973, पृष्ठ 1.
6. पंजाब में राव वीरेन्द्र सिंह को इसलिए राज्यपाल ने बरखास्त कर दिया था क्योंकि उन्होंने 1961 में मुख्यमन्त्री के कहने पर त्यागपत्र नहीं दिया था, परन्तु वही राव वीरेन्द्र सिंह 1967 में हरियाणा के मुख्यमन्त्री बने।
7. पश्चिमी बंगाल में अजय मुकर्जी के मन्त्रिमण्डल को राज्यपाल ने नवम्बर 1967 में इस लिए बरखास्त कर दिया था क्योंकि उसने राज्यपाल के कहने पर भी विधान-सभा का अधिवेशन नहीं बुलाया था। लेकिन जब 1968 में मध्यावधि चुनाव हुए तो अजय मुकर्जी को उसी राज्यपाल ने दोबारा मुख्यमन्त्री नियुक्त किया।
8. 'दि ट्रिब्यून', जुलाई 2, 1970, पृष्ठ 1.
9. 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 30, 1969, पृष्ठ 1.
10. हरियाणा में राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करते समय, वहां के राज्यपाल बीरेन्द्र नारायण चक्रवर्ती ने राष्ट्रपति को लिखा था कि "हीरानन्द आर्य ने पांच दिन मन्त्री रहने के पश्चात जिस प्रकार से दल छोड़ा है, वह एक प्रकार से संविधान का मजाक है।" क्या राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री के पद की शपथ दिलाकर संविधान का मजाक उड़ाना चाहेंगे ? क्या ऐसा करने से उनकी अपनी शपथ का उल्लंघन नहीं होगा ?
11. 'दि ट्रिब्यून', नवम्बर 22, 1967, पृष्ठ 3.
12. 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी शृंखला; वॉल्यूम् 10, नम्बर 11-15, दिसम्बर 1, 1967 कॉलम 4286-87.
13. सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश जे० एल० कपूर, 'नेशनल हेराल्ड', जुलाई 20, 1970, पृष्ठ 5.
14. वही; जुलाई 21, 1970 पृष्ठ 5.
15. तारासिंह बनाम डायरेक्टर कन्सोलीडेशन आफ होल्डिंग्स, 'ए० आई० आर०', 1958

पनाव 304

16 'दि ट्रिब्यून', अगस्त 17, 1961

17. के० वी० राव 'पार्लियामेण्टरी डेमोक्रेसी इन इण्डिया', दूसरा संस्करण, 1965 पृष्ठ 74

18 'दि स्टेट्समैन', फरवरी 11, 1972, पृष्ठ 1

19 'लोक सभा डिबेट्स' वाल्यूम 45, नम्बर 1 10, नवम्बर 19, 1970, कॉलम 281-82

20 वही।

21 वही।

22 वही, कॉलम 298

23 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', अक्तूबर 3, 1970, पृष्ठ 1

24 'लोक सभा डिबेट्स' वाल्यूम 45, नम्बर 1-10, नवम्बर 19, 1970, कॉलम 346

25 वही, कॉलम 343

26 वही, कॉलम 416

27 वही; कॉलम 346

28 सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश जे० एल० कपूर 'नेशनल हैराल्ड', जुलाई 20, 1970, पृष्ठ 5

29 'लोक सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 45 नम्बर 1 10, नवम्बर 19, 1970, कॉलम 321-22

30 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 20, 1970 पृष्ठ 9

31 वही।

32 'लोक सभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम् 7, नम्बर 41-45, जुलाई 20, 1967, कॉलम 13435

33 पंजाब में भीमसेन सच्चर ने श्रीराम शर्मा को और हरियाणा में राव बीरेन्द्र सिंह ने चांदराम तथा मनीराम गोदारा को मन्त्रिमण्डल से हटाने के लिए ऐसा ही किया था। 'दि ट्रिब्यून', नवम्बर 22, 1967, पृष्ठ 3

5

राज्यपाल तथा मन्त्रिमण्डल का परामर्श

कार्यकारी शक्तियों के प्रयोग का ढंग

संविधान के अनुच्छेद 154 (1) के अनुसार, "राज्य की कार्यकारी शक्तियाँ राज्यपाल के पास होंगी और संविधान के अनुसार वह उनका प्रयोग या तो प्रत्यक्ष रूप से स्वयं करेगा या अपने अधीन अफसरों के माध्यम से करेगा।" इसी अनुच्छेद की धारा (2) में कहा गया है कि इस अनुच्छेद द्वारा वे कार्य करने की शक्ति राज्यपाल को नहीं दी जाती जो वर्तमान कानूनों द्वारा उन अधिकारियों को दी गई हैं जो उसके अधीन हैं और न ही यह अनुच्छेद संसद तथा विधानपालिका पर कोई ऐसा प्रतिबन्ध लगाता है जिसके कारण वह राज्यपाल के अधीन किसी अन्य अधिकारी को विधि द्वारा कार्य न दें।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 163 में कहा गया है कि सिवाय उन कार्यों को छोड़कर जिनमें संविधान के अनुसार राज्यपाल को अपने विवेक का प्रयोग करना पड़ता है, उसको परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिमण्डल होगा जिसका नेता मुख्यमन्त्री होगा। यदि किसी विषय पर यह प्रश्न उठे कि क्या उस विषय पर राज्यपाल को अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए या नहीं तो उस बारे में राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा और उसकी वैधानिकता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जाएगी कि उस विषय पर राज्यपाल को अपने विवेक का प्रयोग नहीं करना चाहिए था। मन्त्री जो मन्त्रणा देते हैं उसके बारे में भी न्यायालय में कोई छानबीन नहीं हो सकती।

लिखित संविधानों में "कार्यकारी शक्तियाँ कार्यपालिका को या तो स्पष्ट रूप से दी जाती हैं या वे अन्तर्निहित तथा सहायक होती हैं। इसमें वे सारी शक्तियाँ आ जाती हैं जिनकी संविधान के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यकता होती है। इसका तात्पर्य केवल कानूनों को लागू करने से ही नहीं है।"[1]

अनुच्छेद 162 के अनुसार, "राज्य की कार्यकारी शक्ति के अधीन वे सारे विषय आ जाते हैं जिनके संबंध में विधानपालिका को कानून बनाने का अधिकार है...।" इन कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग राज्यपाल या तो प्रत्यक्ष रूप से स्वयं करेगा या अपने अधीन अफसरों के माध्यम से करेगा। परन्तु एक प्रश्न यह उठता है कि राज्यपाल के अधीन "अफसर" शब्द का जो प्रयोग किया गया है, क्या मन्त्री भी

राज्यपाल के अधीन एक "अफसर" है या नहीं ? 'तारा सिंह बनाम डायरेक्टर ऑफ कन्सोलीडेशन ऑफ होल्डिंग्स' मुकद्दमे में पंजाब उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बी० नारायणा ने यह निर्णय दिया कि "इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि मन्त्री राज्यपाल के अधीन अफसर होता है। राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का प्रमुख होता है और वह संविधान के अनुच्छेद 166 (3) के अनुसार अनेक मन्त्रियों का विभाग सौंपता है। वह मुख्यमन्त्री के कहने पर अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है और वे मन्त्री उसके प्रसाद पर्यन्त पद पर रहते हैं। अतः राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह किसी भी समय किसी भी मन्त्री को बरखास्त कर दे। इन परिस्थितियों में निःसन्देह मन्त्री एक ऐसा 'अफसर' है जो राज्यपाल के अधीन है। यह सच है कि अनुच्छेद 164 (2) के अधीन मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते विधानपालिका द्वारा निश्चित किए जाते हैं। यह भी सच है कि मन्त्रिमण्डल विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। परन्तु इन परिस्थितियों के होते हुए भी मन्त्री राज्यपाल के अधीन होते हैं क्योंकि उन्हें नियुक्त तथा बरखास्त करने की शक्ति राज्यपाल के पास होती है। 1935 के गवर्नमैण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार सम्राट बनाम शिवनाथ बनर्जी 'ए० आई० आर०' 1945, प्रीवी काउनसिल 56 (ग), में प्रीवी काउन्सिल ने भी इसी दृष्टिकोण की पुष्टि की थी और चूंकि 1935 के ऐक्ट की भाषा को ज्यों का त्यों हमारे संविधान में ले लिया गया है अतः यहाँ पर भी इस भाषा का वही अर्थ है। इस संबन्ध में गवर्नमैण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट 1935 तथा हमारे वर्तमान संविधान में कोई विशेष अन्तर नहीं है।"[2] यहाँ पर यह चर्चा भी की जा सकती है कि 'मन्त्री' शब्द में 'मुख्यमन्त्री'[3] 'राज्यमन्त्री' तथा 'उपमन्त्री'[4] भी आ जाते हैं। इसलिए राज्यपाल अपनी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग स्वयं या अपने अधीन अफसरों अर्थात् मन्त्रियों के माध्यम से कर सकता है। यहां पर यह चर्चा करनी उपयुक्त होगी कि संविधान का जो प्रारूप तैयार किया गया था उसके अनुच्छेद 144 की धारा (4) में यह व्यवस्था की गई थी कि उन कार्यों के अतिरिक्त जहां पर उसने अपने विवेक का प्रयोग करना है, अन्य सब कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग राज्यपाल मन्त्रियों के परामर्श से करेगा। परन्तु बाद में इन हिदायतों को संविधान से निकाल दिया गया और इसका प्रस्ताव रखते हुए टी० टी० कृष्णामचारी ने कहा कि "चौथी अनुसूचि में हमने राष्ट्रपति तथा राज्यपालों के उनके मन्त्रियों के साथ संबंधों का उल्लेख किया था। परन्तु अब यह अनुभव किया गया है कि इन विषयों के बारे में संविधान में सविस्तार लिखने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा होगा कि हम उनको प्रथाओं के आधार पर रहने दें। इसलिए हमने यह निर्णय किया है कि हम अनुसूची (3) (बी) तथा अनुसूची (4) को जिसे संविधान के प्रारूप में शामिल किया गया है संविधान से निकाल दें क्योंकि वे अनावश्यक हैं। इन हिदायतों के स्थान पर यदि प्रथाओं का विकास हो तो वह अधिक अच्छा होगा।"[5]

इन हिदायतों के दस्तावेज का विरोध करते हुए बी० आर० अम्बेडकर ने कहा,

कि हिदायतों के दस्तावेज के संबध में दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। ब्रिटिश संविधान में ब्रिटिश उपनिवेशों की सरकारों के लिए साधारणतया हिदायतों का यह परिपत्र इसलिए शामिल किया जाता था ताकि उन उपनिवेशों के राज्यों के अध्यक्षों को ये हिदायतें दी जा सकें कि किस प्रकार से उन्हें अपनी उन शक्तियों का प्रयोग करना है जिनमें उन्हें अपने विवेक से काम लेना है। हिदायतों का दस्तावेज जो राज्यपाल या वाइसराय को दिया जाता था वह प्रभावकारी इसलिए होता था क्योंकि वे सैक्रेटरी ऑफ स्टेट के अधीन कार्य करते थे। यदि वह किसी विषय पर निरन्तर उस दस्तावेज में की गई हिदायतों को नहीं मानते थे तो सैक्रेटरी ऑफ स्टेट उन्हें उनके पद से हटा सकता था और उनके स्थान पर अन्य व्यक्तियों की नियुक्ति करके उनका पालन करने के लिए कह सकता था। हमारे संविधान में कोई ऐसा पदाधिकारी नहीं है जो राज्यपाल को उन हिदायतों पर चलने के लिए कह सके।

दूसरे, हमारे संविधान के अनुसार राज्यपाल को ऐसी बहुत थोड़ी शक्तियां दी गई हैं जहां पर वह अपने विवेक का प्रयोग कर सके। वास्तविकता में तो उसके पास विवेक वाली शक्तियां हैं ही नहीं। उसे मन्त्रियों के चयन के संबंध में मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा को मानना पड़ता है। राज्य के कार्यकारी तथा वैधानिक कार्यों में उसे मन्त्रियों के कहने पर चलना पड़ता है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल के पास विवेकी शक्तियां नहीं हैं और संविधान के अनुसार ऐसा कोई पदाधिकारी भी नहीं है जो उन हिदायतों पर अमल करने के लिए कह सके। इसलिए उनका कोई लाभ नहीं और न ही उनसे कोई उद्देश्य सिद्ध होता है।[6]

इसलिए संविधान के प्रारूप से हिदायतों के इस दस्तावेज के निकाल दिए जाने के पश्चात् यदि हम अनुच्छेद 154 (1) का गहराई से अध्ययन करें तो उससे ऐसा प्रतीत होगा कि राज्यपाल अपने विवेक के अनुसार यह निर्णय करता है कि वह अपनी कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से करे या मन्त्रियों के माध्यम से करें। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि अनुच्छेद 154 की धारा (2) में यह स्पष्टतया कहा गया है कि "यह अनुच्छेद संसद या राज्य की विधानपालिका को कानून के अनुसार राज्यपाल के अधीन पदाधिकारियों को कार्य सौंपने से नहीं रोकता।" यदि राज्यपाल अपनी कुछ कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से करने का निर्णय करे तो अनुच्छेद 154 की धारा (2) के अधीन विधानपालिका राज्यपाल को उसके कार्यकारी कार्यों से वंचित कर सकती है और उन्हें राज्यपाल के अधीन अन्य पदाधिकारियों को सौंप सकती है। परन्तु ऐसा केवल उन कार्यकारी कार्यों के सम्बन्ध में किया जा सकता है जिनके बारे में राज्य की विधानपालिका को कानून बनाने का अधिकार है।

ऐसे कार्य जहां राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की सलाह को रद्द कर सकता है

जो कार्य विशेष रूप से संविधान द्वारा राज्यपाल को सौंपे गये हैं उन्हें विधानपालिका अन्य अफसरों को नहीं सौंप सकती क्योंकि वे राज्यपाल की विशेष

संवैधानिक शक्तियां है और राज्यपाल उनके बारे में अपने विवेक या व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता है। ये संवैधानिक शक्तियां दूसरे व्यक्तियों को नहीं दी जा सकतीं और अनुच्छेद 163 (1) तथा 166 (3) में यह स्पष्टतया कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि कार्यकारी शक्तियों के अतिरिक्त, राज्यपाल के पास अन्य संवैधानिक शक्तियां भी हैं जो तीन प्रकार की हैं। कुछ शक्तियां तो ऐसी है जिनका प्रयोग राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर नहीं अपितु अन्य व्यक्तियों या एजेन्सियों की सलाह से करता है। उदाहरणतया, अनुच्छेद 192 के अधीन यदि किसी विधानपालिका के सदस्य की सदस्यता को इस बिना पर चुनौती दी जाए कि वे अनुच्छेद 191 की धारा (1) के अधीन सदस्य नहीं रह सकता तो इस बात का निर्णय राज्यपाल करेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा। परन्तु वह अपना निर्णय करने से पहले चुनाव आयोग से परामर्श करेगा और चुनाव आयोग के मतानुसार निर्णय करेगा इसी प्रकार से अनुच्छेद 187 की धारा (3) के अधीन, जब तक विधानपालिका सचिवालय के कर्मचारियों की सेवाओं से सम्बन्धित कानून नहीं बनाती, "राज्यपाल विधान-सभा के अध्यक्ष तथा विधान परिषद् के चेयरमैन से मन्त्रणा करने के पश्चात् उनकी भर्ती तथा सेवा की शर्तों के सबध में नियम बनाता है।" इसी प्रकार अनुच्छेद 233 के अधीन राज्यपाल उच्च न्यायालय से सलाह मशविरा करके जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त न्यायिक सेवाओं की भर्ती, वह उस द्वारा बनाए हुए नियमों के अनुसार, लोक सेवा आयोग तथा उच्च न्यायालय से मन्त्रणा करने के पश्चात् करता है।

दूसरी कुछेक संवैधानिक शक्तियां ऐसी हैं जिनका प्रयोग राज्यपाल अपने विवेक द्वारा करता है। यह शक्तियां दो प्रकार की है अर्थात् कुछ शक्तियां तो स्पष्ट रूप से राज्यपाल को विशेषतया दी गई है और कुछ शक्तियां ऐसी हैं जिनमें वह साधारणतया अपने विवेक का प्रयोग करता है। अनुच्छेद 239 (2), 356, 371 (2), 371 ए (1) (बी) (सी), (ई) (2) (डी), तथा (एफ) में भी राज्यपाल के विशेष कर्तव्यों की चर्चा की गई है। इसी प्रकार से संविधान की अनुसूची नं० 6 में पैरा 9 (2) तथा पैरा 18 (2) तथा (3) में भी राज्यपाल की उन विशेष शक्तियों की चर्चा की गई है जिनके बारे में वह अपने विवेक का प्रयोग करता है।

अनुच्छेद 239 (2)

संविधान के भाग चार में जो कुछ लिखा गया है उस का कोई भी ध्यान न रखते हुए राष्ट्रपति उस राज्य के राज्यपाल को, जिसकी सीमाएं केन्द्रीय प्रशासित प्रदेश से मिलती है, उसका प्रशासक नियुक्त कर सकता है और जहाँ पर राज्यपाल को इस प्रकार से प्रशासक नियुक्त किया जायेगा वह अपने कार्य प्रशासक के रूप में, मन्त्रियों से पूछे बिना करेगा।

अनुच्छेद 356, 371 (2)

इस संविधान में जो कुछ लिखा गया है उसका कोई भी ध्यान न रखते

2 (एफ) "इस धारा में जो कुछ कहा गया है उसको ध्यान में न रखते हुए त्यूनसांग जिले से सम्बन्धित सब विषयों के बारे में राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करते हुए निर्णय करेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा।"

अनुसूची नं 6 में पैरा 9 (2)

"यदि जिला परिषद् को दी जाने वाली रायल्टी के संबंध में कोई झगड़ा हो तो उसका निर्णय राज्यपाल द्वारा किया जाएगा और राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करते हुए यह निर्णय करेगा कि वह रायल्टी कितनी हो और उसका निर्णय इस संबंध में अन्तिम होगा।"

18 (2) इस पैराग्राफ के उप पैराग्राफ एक के अधीन तालिका (बी) में दिए गए कबायली क्षेत्र के संबंध में जब तक विज्ञप्ति जारी नहीं कर दी जाती तब तक उन क्षेत्रों का प्रबन्ध राष्ट्रपति आसाम के राज्यपाल के माध्यम से करेगा और वह राष्ट्रपति का इस संबंध में एजेण्ट होगा और वह क्षेत्र एक प्रकार से अनुच्छेद 240 के अधीन केन्द्र-शासित-क्षेत्र के समान होगा।

(3) इस पैराग्राफ में उपपैराग्राफ 2 के अधीन कार्य करते समय राज्यपाल राष्ट्रपति का एजेण्ट होगा और वह अपने विवेक का प्रयोग करेगा।

इन विशेष स्वविवेक शक्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य सामान्य शक्तियां ऐसी हैं जहां पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राज्यपाल उनका प्रयोग करते समय अपने विवेक का प्रयोग करेगा और उनके सम्बन्ध में पहले ही यह न्यायिक निर्णय करेगा। उदाहरणतया, मुख्यमन्त्री की नियुक्ति[9] तथा बरखास्तगी[9] अन्य मन्त्रियों की बरखास्तगी,[10] विधान-सभा को भंग करने[11], विधायकों की अनुमति[12] राष्ट्रपति के विचार के लिए बिल भेजने,[13] अध्यादेश जारी करने,[14] विधान-सभा के सदस्य मनोनीत करने,[15] के संबंध में राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि इनके बारे में राज्यपाल या तो व्यक्तिगत रूप में निर्णय कर सकता है या वह इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल की सिफारिश के बिना कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 310 के अधीन भी राज्यपाल अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करता है और उत्तर प्रदेश सरकार बनाम बाबूराम उपाध्याय, 'ए० आई० आर०' 1961, सुप्रीमकोर्ट 751 में यह निर्णय किया गया कि अनुच्छेद 310 के अधीन राज्यपाल जिन शक्तियों का प्रयोग करते हैं वे शक्तियां उन कार्यकारी शक्तियों से भिन्न हैं, जो उन्हें अनुच्छेद 154 में दी गई हैं।[16] यहां तक कि विधान सभा का सत्र बुलाने तथा उसका सत्रावसान[17] करने में भी राज्यपाल मुख्यमन्त्री का परामर्श मानने से इन्कार कर सकते हैं और ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ पर राज्य के मुख्यमन्त्रियों को एक निश्चित तिथि से पूर्व ही विधान-सभा का अधिवेशन बुलाने के लिए विवश किया गया।[18] ये वे शक्तियां हैं जिनका प्रयोग वह अपने विवेक द्वारा करता है और इन विषयों के बारे में राज्यपाल अपने विशेष संवैधानिक कार्यों में सम्बन्धित शक्तियों का प्रयोग करता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह इन विषयों के सम्बन्ध में अपने विवेक का प्रयोग करे। यदि वह इन शक्तियों का प्रयोग

मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर करना है तो वह अनुचित या असंवैधानिक नहीं होगा। कलकत्ता उच्च न्यायालय मे यह बहस की गई थी कि राज्यपाल को अपने विशेष संवैधानिक कार्यों के सम्बंध मे अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिये, परन्तु न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि जब तक स्पष्ट रूप से संविधान यह नहीं कहता कि उसे ऐसा करना चाहिए तब तक राज्यपाल को ऐसा करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता।[19] साधारणतया ऊपर वर्णित शक्तियों का प्रयोग वह मन्त्रिमण्डल के कहने पर करता है, लेकिन अगर राज्यपाल इन विषयों के संबंध में अपने विवेक का प्रयोग करे तो संविधान मे ऐसा कोई अनुच्छेद नही जो उसे ऐसा करने से रोकता हो। लेकिन राज्यपाल इन शक्तियों को मन्त्रिमण्डल को नहीं सौंप सकता क्योंकि "जिन कार्यों मे राज्यपाल ने अपने विवेक का प्रयोग करना होता है, वे कार्य राज्यपाल द्वारा ही किए जाने चाहिएं।"[20]

इससे यह सिद्ध होता है कि राज्यपाल के पास अनेक विवेकीय शक्तियां है और अम्बेडकर के इस कथन से सहमत होना कठिन है कि उसके पास विवेकीय शक्तियां नहीं है, और अनुच्छेद 163 की धारा (2) इस दृष्टिकोण का समर्थन करती है। इस धारा में कहा गया है कि "संविधान के अधीन राज्यपाल को जो विवेकीय शक्तियां दी गई है उनके विषय मे यदि कोई प्रश्न उठे तो राज्यपाल का इस बारे में निर्णय अन्तिम होगा और जो कुछ राज्यपाल ने किया है उसे इस बिना पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उसे अपने विवेक का प्रयोग नहीं करना चाहिए था।" वास्तव में हृदयनाथ कुंजरू यह चाहते थे कि राज्यपाल के पास कोई भी विवेकीय शक्तियां नही होनी चाहिएं, और उन्होंने संविधान सभा में एक प्रस्ताव भी पेश किया था कि संविधान के प्रारूप के अनुच्छेद 143 (1) में राज्यपाल को जो विवेकीय शक्तियां दी गई है उन्हे समाप्त कर दिया जाए।[21] इस प्रस्ताव पर बोलते हुए अम्बेडकर ने राज्यपाल को दी गई विवेकीय शक्तियों का समर्थन किया और कहा कि "राज्यपाल को विवेकीय शक्तियां दी जाएं या न दी जाएं यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है...और मैं पहले इसी प्रश्न पर बोलना चाहता हूं क्योंकि यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वाद-विवाद मे यह कहा गया है कि राज्यपाल को विवेकीय शक्तियां देना उत्तरदायी सरकार के सिद्धांतों के विरुद्ध है। यह भी कहा गया है कि राज्यपाल को विवेकीय शक्तियां देने का अभिप्राय यह है कि हम 1935 के ऐक्ट की नकल कर रहे है जो प्रजातन्त्र के विरुद्ध था। जहां तक मेरा संबंध है, मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्यपाल को विवेकीय शक्तियां देना प्रजातन्त्र के सिद्धांतों के विरुद्ध नहीं है। मैं इस विषय पर बाल की खाल तो नहीं उतारना चाहता लेकिन सदन की संतुष्टि के लिए मैं कैनेडा तथा आस्ट्रेलिया के संविधानों के अनुच्छेदों की चर्चा कर सकता हूं। इस सदन का कोई भी सदस्य यह नहीं कह सकता कि कैनेडा की सरकार पूर्ण उत्तरदायी सरकार नहीं है और न ही कोई यह कह सकता है कि आस्ट्रेलिया की सरकार उत्तरदायी नहीं है।"[22] इसी प्रकार अल्लादीकृष्णा स्वामी अय्यर ने कहा था कि

अनुच्छेद 143 मे केवल इतना कहा गया है, कि "उन कार्यों के अतिरिक्त जिनमे
सविधान के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग
करेगा। जब तक सविधान मे ऐसे अनुच्छेद हैं जिनमे यह कहा गया है कि राज्यपाल
अपने विवेक का प्रयोग करेगा और कुछ परिस्थितियो मे वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श
को न मान कर भी राष्ट्रपति के विचार के लिए कुछ विषयो को उसके पास भेज सकता
है, तब तक यह अनुच्छेद बिल्कुल ठीक है।"[3] इससे यह सिद्ध होता है कि राज्यपाल
के पास विवेकीय शक्तियाँ हैं और चूकि सविधान मे ऐसा कोई अनुच्छेद नही है जो
उसे मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानने पर बाध्य करे, अत वह प्रत्येक विषय पर
मन्त्रिमण्डल की सलाह मानने पर बाध्य नही है। उसके ऐसा करने पर सविधान के
कुछ विशेषज्ञ यह कह सकते हैं कि इससे सविधान की भावना को ठेस पहुँचेगी।
सविधान की भावना के सबध मे सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा है कि "यह सिद्धात
निश्चित है कि उस समय सविधान की भावना के आधार पर निर्णय नही किए जा
सकते जब सविधान के अनुच्छेद बिल्कुल स्पष्ट हो। विधानपालिका को दी गई
शक्तिया जब तक सविधान द्वारा स्पष्ट रूप से सीमित नही कर दी जाती तब तक उन्हे
केवल आवश्यकता के आधार पर ऐसा नही समझा जा सकता और न ही उन्हे सविधान
के भाव के आधार पर सीमित किया जा सकता है। इस सम्बध मे दुर्ग्राह्य भाव को
मार्गदर्शक नही माना जा सकता। सविधान के भाव को सविधान के शब्दो पर वरीयता
नही दी जा सकती।"[24] यह एक आश्चर्यजनक बात है कि सविधान के कुछ अनुच्छेदो के
बारे मे प्रारूप समिति के सदस्यो ने उनका अर्थ स्पष्ट करने के लिए बहुत ध्यान दिया
लेकिन सविधान के कुछ महत्वपूर्ण अनुच्छेदो को जानबूझ कर अस्पष्ट छोड दिया
गया। उदाहरणतया, राज्यपाल के निवास स्थान के प्रश्न पर बहस करते हुए हरी-
विष्णु कामथ ने कहा था, कि "मैं इस बात से चकित हू कि हमारे सविधान मे
राज्यपाल के निवास-स्थान जैसी अनावश्यक बातो को क्यो शामिल किया जा रहा
है यदि हम अपने सविधान मे इसकी चर्चा न करे तो उससे हमारे सविधान मे कोई
त्रुटि नही आएगी। इसमे कोई सन्देह नही कि राज्यपाल के पास सरकारी निवास-
स्थान होगा। हम यह सोच भी नही सकते कि उसके पास सरकारी निवास स्थान नही
होगा। क्या आप यह नही जानते कि मुख्यमन्त्री के पास भी सरकारी निवास-स्थान
होगा। क्या हमने उसकी सविधान मे चर्चा की है? मुझे यह मालूम नही कि यह
किसी सविधान से नकल की गई है या नही, लेकिन अमरीका के सविधान मे राष्ट्रपति
तथा राज्यपालो के सरकारी निवास स्थानो की चर्चा नही की गई है। मुझे यह मालूम
नही कि अम्बेडकर तथा प्रारूप समिति के सदस्यो को यह प्रेरणा किस सविधान मे मिली
है।"[25] इसका उत्तर देते हुए अम्बेडकर ने कहा कि मैं कामथ से यह पूछना चाहूगा
कि क्या राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के पास सरकारी निवास-स्थान होगा या नही और
"यदि सविधान मे इनकी चर्चा कर दी जाए तो क्या यह अनुचित होगा?"[26]
इसी प्रकार जब अनुच्छेद 53 की धारा (1) पर, जिसमे यह कहा गया है,

कि "यूनियन की कार्यकारी शक्तियां राष्ट्रपति के पास होंगी और वह उनका प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से अपने अधीन पदाधिकारियों के माध्यम से संविधान के अनुसार करेगा," संविधान सभा में वाद-विवाद हो रहा था तो उस समय कुछ सदस्यों ने कहा कि इस अनुच्छेद में "उसके अधीन पदाधिकारियों के माध्यम" वाक्यांश की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह बात तो साफ ही है कि राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग पदाधिकारियों के माध्यम से ही करेगा। इसका उत्तर देते हुए अल्लादीकृष्णा स्वामी अय्यर ने कहा, कि "जो बात निहितार्थ है उसे स्पष्ट करना अनुचित नहीं है।"[27] इससे यह सिद्ध होता है कि कभी-कभी तो प्रारूप समिति के सदस्य कुछ अनुच्छेदों के निहितार्थ को स्पष्ट करने के लिए बहुत सावधान होते थे लेकिन वे इस व्याख्या को स्पष्टतया लिखने के लिए तैयार नहीं थे कि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा। यह आश्चर्यजनक बात है कि इतने महत्त्वपूर्ण विषय के बारे में उन्होंने यह निर्णय किया कि वह प्रथाओं पर आधारित होना चाहिए।

कभी-कभी यह उदाहरण दिया जाता है कि इंग्लैंड में यह प्रथा है कि वहां की महारानी मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर कार्य करती है, और हमारे देश में भी यह प्रथा होनी चाहिए। लेकिन ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि भारतवर्ष इंग्लैंड नहीं है क्योंकि दोनों देशों की संवैधानिक नैतिकता में दिन और रात का अन्तर है। इस वास्तविकता को स्वीकार करते हुए अम्बेडकर ने भी यह माना था कि भारतवर्ष में संवैधानिक नैतिकता का अभाव है और यहां पर प्रजातन्त्र तो एक दिखावा मात्र है क्योंकि यहां का वातावरण वास्तव में अप्रजातन्त्रीय है।[28] और इसीलिए वह विधान-सभाओं पर भी विश्वास करने को तैयार नहीं थे।[29] जब इस देश की राजनैतिक स्थिति ऐसी है तो संविधान में स्पष्ट रूप से व्यवस्था किए बिना यह कैसे माना जा सकता है कि राज्यपाल प्रत्येक विषय पर मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर कार्य करेगा।

इसके अतिरिक्त ब्रिटिश संविधान की कुछ प्रथाओं की चर्चा हमारे संविधान में लिखित रूप से कर दी गई है। उदाहरणतया, के० एम० मुन्शी के अनुसार "अनुच्छेद 75 (3), 75 (5), 77 तथा 78 में उन प्रथाओं का जो इंग्लैंड में प्रचलित हैं, विशेष रूप से वर्णन किया गया है। अनुच्छेद 109 (2) तथा 110 में जो व्यवस्था वित्त विधेयक के बारे में की गई है वह भी इंग्लैंड की प्रथाओं पर आधारित व्यवस्था की नकल है। अनुच्छेद 105 (2) में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि हमारे देश में भी संसद सदस्यों तथा संसद समितियों के वही विशेषाधिकार होंगे जो इंग्लैंड में हाउस ऑफ कामन्स के सदस्यों के हैं।"[30] जब इन प्रथाओं की संविधान में लिखित रूप से चर्चा की गई है तो फिर यह व्याख्या भी लिखित रूप से क्यों नहीं की गई कि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा।

तीसरे व्यवहार में भी राज्यपाल ब्रिटिश संविधान की प्रथाओं का पालन नहीं करते। उदाहरणतया, इंग्लैंड में सत्र बुलाने, सत्रावसान करने तथा हाउस ऑफ कामन्स को भंग करने के सम्बन्ध में महारानी मन्त्रिमण्डल का परामर्श मानने के लिए

साधारणतया बाध्य है, लेकिन हमारे देश मे ऐसा नही है। हमारे देश मे राज्यपाल
विधान-सभा का सत्र एक निश्चित तिथि से पहले बुलाने के लिए मुख्यमन्त्री को
विवश कर सकते हैं और यदि मुख्यमन्त्री उनके कहने पर सत्र बुलाने मे इन्कार कर
दे तो वे उन्हे बरखास्त कर सकते है, जैसे पश्चिमी बगाल मे धर्मवीर ने किया था।
वह मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर विधान-सभा का सत्रावसान करने या उसे भग करने
से भी इन्कार कर सकता है। राज्यपाल मुख्यमन्त्री के कहने के बावजूद 'राज्यपाल के
अभिभाषण' के वाक्यांशो को पढने मे इन्कार कर सकता है।[31] ऐसे भी उदाहरण
मिलते है जहा पर राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर मन्त्रियो को बरखास्त
करने से इन्कार करके विधान-सभा के सत्र से दो दिन पहले मुख्यमन्त्री को ही
बरखास्त कर दिया था, हालाँकि मुख्यमन्त्री तुरन्त विधान-सभा का सत्र बुलाने के लिए
तैयार था।[32] इससे यह सिद्ध होता है कि व्यवहार मे ब्रिटिश प्रथाओ का पालन नही
किया जाता और इसलिए हम इस परिणाम पर पहुचे हैं कि मन्त्रिमण्डल के परामर्श
को मानने के लिए राज्यपाल बाध्य नही है।

इसके अतिरिक्त राज्यपाल इसलिए भी मन्त्रिमण्डल के परामर्श को हमेशा मानने
के लिए बाध्य नही है क्योंकि कभी-कभी उसके मानने से उसकी शपथ का उल्लघन हो
सकता है। उदाहरणतया, मुख्यमन्त्री यदि राज्यपाल को यह सलाह दे कि वह चुनाव
के पश्चात् विधान-सभा के प्रथम सत्र मे भाषण न दे तो इस सलाह को राज्यपाल कैसे
मान सकता है, क्योंकि कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार चुनाव के पश्चात्
तथा प्रत्येक वर्ष का पहला सत्र राज्यपाल के अभिभाषण से ही प्रारभ होता है और
यह भाषण देना राज्यपाल का अनिवार्य सवैधानिक कर्त्तव्य है।[33] जब तक यह भाषण
नही दिया जाता तब तक सत्र वैधानिक रूप से आरम्भ नही हो सकता।[34] "सुधाकर
बनाम उडीसा विधान-सभा के अध्यक्ष, ए आई आर, 1952, उडीसा 234 मे उडीसा
उच्च न्यायालय ने भी यही निर्णय दिया है। यदि कार्यवाही के लिए विधान-सभा की
बैठक वैधानिक रूप से नही हुई है तो उस बैठक मे कोई कार्यवाही नही की जा सकती
और वैधानिक रूप से इसकी बैठक होने से पहले जो बैठक होगी वे सब अवैधानिक
होगी।"[35] इसी प्रकार से राज्यपाल के अभिभाषण मे जो मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार
किया हुआ हो, कुछ अश ऐसे हो सकते है जिन्हें राज्यपाल इसलिए नही पढ सकता क्योंकि
ऐसा करने से उसकी शपथ का उल्लघन हो सकता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि
राज्यपाल प्रत्येक विषय पर मन्त्रिमण्डल का परामर्श मानने के लिए बाध्य नही है।

लेकिन यह स्थिति केवल सिद्धान्त में है। ऊपरिलिखित विषयो पर राज्यपाल
कहा तक अपने विवेक का प्रयोग कर सकेगा यह बहुत हद तक विधान-सभा की
रचना पर निर्भर करता है। यदि विधान-सभा मे किसी एक राजनैतिक दल का
बहुमत हो और उस दल का एक नेता हो तो उन परिस्थितियो मे अधिकतर राज्यपाल
अपने मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर कार्य करेगा और उन विषयो के अतिरिक्त जिनमें
राज्यपाल को स्पष्टतया विवेकीय शक्तियाँ दी गई हैं, यदि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल

के परामर्श पर कार्य करता है तो वह असंवैधानिक नहीं होगा।[30] यदि विधान-सभा में किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत नहीं है और एक अस्थिर मिली-जुली सरकार पद पर है तो राज्यपाल कुछ विषयों में अपना व्यक्तिगत निर्णय कर सकता है।

संदर्भ

1. मोती लाल बनाम उत्तर प्रदेश सरकार, 'आल इण्डिया रिपोर्टर', 1951, इलाहाबाद 257.
2. 'ए. आई. आर.', 1958 पंजाब, पृष्ठ 304.
3. हरशरण वर्मा बनाम चन्द्रभानु गुप्त, 'ए. आई. आर.', इलाहाबाद 301.
4. ए. आई. आर.', 1968, बम्बई 219.
5. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 10, कॉलम 114.
6. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 10, कालम 115.
7. राव बीरेन्द्रसिंह बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया, 'ए. आई. आर.', 1968 पंजाब, 446.
8. मुख्यमन्त्री की नियुक्ति से संबंधित अध्याय देखिए।
9. कलकत्ता उच्च न्यायालय यह निर्णय दे चुका है।
10. उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने मुख्यमन्त्री चरण सिंह की सिफारिश पर कुछ मन्त्रियों को बरखास्त करने से इन्कार कर दिया था।
11. अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां पर मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर राज्यपाल ने विधान-सभा को भंग करने से इन्कार कर दिया। विधान-सभा भंग करने से संबंधित अध्याय देखिए।
12. "कानून बनाने में राज्यपाल का भाग" नामक अध्याय देखिए।
13. अनुच्छेद 200 के दूसरे उपबन्ध (Proviso) के अनुसार।
14. 'राव बीरेन्द्रसिंह बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया' ए. आई. आर.', पंजाब, पृष्ठ 446.
15. ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहां राज्यपालों ने मन्त्रिमण्डल की सिफारिश के बिना विधान परिषद के सदस्यों को मनोनीत किया है, उदाहरणतया मद्रास के राज्यपाल श्रीप्रकाश ने मुख्य-मन्त्री की सलाह के बिना चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को विधान-परिषद् का सदस्य मनोनीत किया था। इस संबंध में विस्तृत विवरण के लिए "राज्यपाल का कानून बनाने में भाग' नामक अध्याय देखिए।
16. राव बीरेन्द्रसिंह बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया, 'ए. आई. आर.', 1968, पंजाब 446,
17. 'जरनल ऑफ सोसाइटी फॉर स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेंट्स', वॉल्यूम 5, जनवरी-मार्च 1972, नं. 1, पृष्ठ 68-69; विस्तृत वर्णन के लिए "सम्मान की शक्तियां" नामक अध्याय देखिए।
18. पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने ऐसा किया था। विस्तृत वर्णन के लिए "विधान-सभा का अधिवेशन बुलाने से संबंधित राज्यपाल की शक्तियां" नामक अध्याय देखिए। यहां पर यह भी चर्चा की जा सकती है कि मैसूर उच्च न्यायालय ने यह निर्णय किया है कि विधान-सभा का सत्रावसान करने तथा सत्र बुलाने की शक्तियां पूर्णतया राज्यपाल के पास हैं।

    "एम. सिद्धावीरप्पा तथा अन्य बनाम स्टेट ऑफ मैसूर", 'ए. आई. आर.', 1971, मैसूर 200
19. बिमल चन्द्र बनाम मुकर्जी, 'ए. आई. आर.', 1952, कलकत्ता 801.
20. 'ए. आई. आर.'. 1967, राजस्थान 220.
21. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 8, पृष्ठ 492.

22 वही, पृष्ठ 500
23 वही, पृष्ठ 495
24 स्टेट ऑफ बिहार बनाम कामेश्वरसिंह, 'ए आई आर', 1952, सुप्रीम कोर्ट।
25 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 8, पृष्ठ 476
26 वही।
27 वही, वॉल्यूम 10, पृष्ठ 357
28 वही, वॉल्यूम 8, पृष्ठ 38
29 वही, वॉल्यूम 7, पृष्ठ 38
30 अनुच्छेद 194 (3)
31 पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किए गए राज्यपाल के अभिभाषण के कुछ वाक्यांश पढ़ने से इन्कार कर दिया था। 'पैट्रियट' मार्च 7, 1969, पृष्ठ 1
32 उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री गोपाल रेड्डी ने मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर मन्त्रियों को बरखास्त करने से इन्कार कर दिया और फिर स्वयं मुख्यमन्त्री को बरखास्त कर दिया था। 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', अक्तूबर 3, 1970, पृष्ठ 1
33 सैयद अब्दुल मनसूर हबीब उल्ला बनाम पश्चिमी बंगाल की विधान-सभा का अध्यक्ष, 'ए आई आर,' 1966, कलकत्ता, 366
34 वही।
35 वही।
36 बिमलचन्द्र बनाम डॉ एच सी. मुकर्जी, 'ए आई आर,' 1952, कलकत्ता, 80

6

राज्यपाल तथा विधानपालिका की बनावट

ब्रिटिश क्राउन के समान हमारे देश में भी राज्यपाल विधानपालिका का अंग है। जहां पर विधानपालिका द्विसदनात्मक है वहां पर इसमें राज्यपाल, विधान-सभा तथा विधान परिषद् शामिल होते हैं और जहां पर एक ही सदन है वहां पर इसमें राज्यपाल तथा विधान-सभा शामिल है।[1]

नामांकन का अधिकार

अनुच्छेद 171 (1) (ई) के अनुसार विधान परिषद् के 1/6 सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। वे सदस्य जिन्हें राज्यपाल मनोनीत करता है वे ऐसे व्यक्ति होने चाहिएं जिन्होंने साहित्य, विज्ञान, सहकारी आंदोलन या समाजसेवा के क्षेत्र में कार्य किया है।[2]

नामांकन की अर्हताएं

यदि हम अनुच्छेद 171 (5) में दी गई अर्हताओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करें तो हमें यह मालूम होगा कि उस अनुच्छेद में दी गई अर्हताएं बहुत स्पष्ट नहीं हैं और जब एक साथ राज्यपाल एक से अधिक व्यक्तियों का नामांकन करता है तो उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों को नामजद करे। वह एक ही श्रेणी के एक से अधिक व्यक्तियों को नामजद कर सकता है।[3] इसके अतिरिक्त उस द्वारा नामांकित को इस बिना पर भी चुनौती नहीं दी जा सकती कि वे अनुच्छेद 171 में दी गई अर्हताएं पूरी नहीं करते।[4] बिमलचन्द्र बनाम एच० सी० मुकर्जी (पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल) में यह प्रश्न उठाया गया था कि नौ व्यक्तियों में से जिन्हें राज्यपाल ने मनोनीत किया है, कोई भी अनुच्छेद 171 (5) में दी गई अर्हताओं को पूरा नहीं करता। लेकिन न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि "इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय राज्यपाल का ही होता है और न्यायालय राज्यपाल के निर्णय के स्थान पर अपना निर्णय या मत लागू नहीं कर सकता।"[5] परन्तु इस सम्बंध में यह बतलाना भी आवश्यक है कि इस प्रश्न पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इसके उल्ट निर्णय दिया है। हरशरण वर्मा बनाम चन्द्रभानु गुप्त में यह प्रश्न उठाया गया था कि "अनुच्छेद 171 (5) के अधीन मुख्यमन्त्री ने अपने आप को स्वयं नामजद करवा लिया हालांकि साहित्य, विज्ञान, सहकारी आंदोलन तथा नामा-

जिक सेवा के क्षेत्रो मे उनका कोई विशेष ज्ञान नही था ।" इसके अतिरिक्त इस याचिका मे यह भी कहा गया था कि इस अनुच्छेद की धारा (5) केवल उन व्यक्तियो पर लागू होती है जो चुनाव नही लडते और जिन्हे राज्यपाल ऊपर दी गई अर्हताओ के कारण सार्वजनिक हित को ध्यान मे रखते हुए विधानपालिका का सदस्य नामजद करते हैं। लेकिन इस अनुच्छेद का प्रयोग चोर दरवाजे से एक ऐसे व्यक्ति को विधानपालिका मे लाने के लिए नही किया जा सकता जो एक बार से अधिक चुनाव मे हार चुका हो। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि "ऊपर दिए गए कार्यक्षेत्र मे यदि किसी ने व्यावहारिक रूप से कार्य किया हो तो भी उसे विधान परिषद् का सदस्य नामजद किया जा सकता है और जिस व्यक्ति ने राज्य की सरकार तथा राजनीति मे कई वर्षों तक सक्रिय भाग लिया हो उसके बारे मे यह कहा जा सकता है कि उसे समाज सेवा का व्यावहारिक अनुभव है और इसी लिए उसमे विधान परिषद् का सदस्य नामांकित किए जाने की अर्हता है।"[6] इस याचिका मे इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह निर्णय किया है कि नामजद सदस्य मे वे अर्हताए है या नही जो सविधान मे दी गई हैं।

जब राज्यपाल अनुच्छेद 171 (3) (ई) के अनुसार किसी व्यक्ति को विधान परिषद् का सदस्य नामजद करता है तो राज्यपाल या नामांकित व्यक्ति से नामाकन किए जाने का औचित्य नही पूछा जा सकता। कलकत्ता उच्च न्यायालय ने इस सम्बध मे यह निर्णय दिया है कि 'अनुच्छेद 361 के अनुसार राज्यपाल किसी भी न्यायालय के सामने उत्तरदायी नही है। इसके परिणामस्वरूप नामाकन की वैधता या अवैधता की छानबीन न्यायालय नही कर सकता। चूकि राज्यपाल से नामाकन का औचित्य बतलाने के लिए नही कहा जा सकता, इसलिए वह इन नामाकनो से सम्बन्धित तथ्यों को बतलाने के लिए बाध्य नही है। नामाकित व्यक्ति को भी उसके नामाकन का औचित्य बतलाने के लिए नही कहा जा सकता क्योंकि उसे यह मालूम नही होता कि उसे क्यो नामांकित किया गया है। सविधान के अनुच्छेद 163 (3) के अनुसार मन्त्रियो ने राज्यपाल को जो मन्त्रणा दी है उसकी भी न्यायालय छानबीन नही कर सकता।"[7]

नामाकन के सम्बन्ध मे यह भी पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल नामाकन मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर करता है या इस सबध मे वह अपने विवेक का भी प्रयोग कर सकता है ? इस प्रश्न पर दो प्रकार के मत हैं जो एक दूसरे के विरुद्ध हैं। भूतपूर्व अटार्नी जनरल सी० के० दफ्तरी के अनुसार 'राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करके नामाकन नही कर सकता। राज्यपाल ऐसा करते समय अपनी कार्यकारी शक्तियो का प्रयोग करता है, इसलिए यह कार्य वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श से करता है।"[8] लेकिन दूसरी विचारधारा के अनुसार "अनुच्छेद 171 (3) (ई) के अनुसार राज्यपाल जिन शक्तियो का प्रयोग करता है वे शक्तियाँ राज्य की कार्यकारी शक्तियो मे नही आती और सविधान के इन प्रावधानो के अधीन राज्यपाल अपनी विशेष

संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करता है। इसलिए अनुच्छेद 171 के अधीन वह अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है।"[9] यदि हम इस प्रश्न पर सावधानी से विचार करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि भूतपूर्व अटार्नी जनरल ने जो विचार प्रकट किए हैं उनसे सहमत होना बहुत कठिन है। जिस प्रकार से अध्यादेश जारी करने की शक्ति एक संवैधानिक शक्ति है[10] और जैसे यह अधिकार सरकार को नहीं दिया जा सकता, इसी प्रकार से नामांकन करने का अधिकार राज्यपाल का संवैधानिक अधिकार है। यह अधिकार राज्यपाल को भाग चार के अध्याय तीन द्वारा दिया गया है जिस में सत्र बुलाने, सत्रावसान करने और विधान-सभा भंग करने के संवैधानिक अधिकारों का वर्णन है। राज्यपाल का यह अधिकार कार्यकारी अधिकार नहीं है। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि राज्य की कार्यकारी शक्तियां केवल उन विषयों पर लागू होती हैं जिनके बारे में राज्य की विधान-सभा का कानून बनाने का अधिकार है।[11] चूंकि राज्य की विधानपालिका को नामांकन के सम्बन्ध में कानून बनाने का कोई अधिकार नही है, इसलिए राज्यपाल का यह अधिकार राज्य की कार्यकारी शक्तियों के क्षेत्र में नहीं आता, इसलिए यह अधिकार राज्यपाल का विवेकीय अधिकार है। लेकिन वह अपने विवेक का प्रयोग करने के स्थान पर, इस सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल की सलाह को माने तो उसके लिए ऐसा करना असंवैधानिक नहीं होगा। उदाहरणतया, पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने विज्ञप्ति न० 1577 ए० आर० 4-4-195 के अनुसार विधान परिषद् के 9 सदस्यों को अनुच्छेद 171 की धारा (3) के अनुसार मनोनीत किया, लेकिन उसने अपने सार्वजनिक भाषण में कहा कि "उसे यह मालूम नहीं कि उसके पास नामांकन के अधिकार भी हैं।"[12] इस मुकद्दमे में यह तर्क पेश किया गया था कि अनुच्छेद 171 की धारा (5) के अनुसार नामांकन करते समय राज्यपाल को अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए और राज्यपाल के कुछ सार्वजनिक भाषणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसे तो यह भी पता नहीं कि उसके पास नामांकन के अधिकार हैं, इसलिए नामांकन करते समय उसने अपने विवेक का प्रयोग नहीं किया। मलिक ने अनुच्छेद 154, 161, 192 तथा 213 का हवाला दिया जिनमें राज्यपाल को कुछ शक्तियां दी गई हैं। उसने अनुच्छेद 166 का भी हवाला दिया है। मलिक का यह कहना है कि "धारा (3) के अनुसार कोई नियम नहीं बनाए गए इसलिए अनुच्छेद 171 के अनुसार राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की सलाह पर कार्य नहीं कर सकता।"[13]

राज्यपाल नामांकन करते समय अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है, इस दृष्टिकोण की पुष्टि मद्रास उच्च न्यायालय ने भी की है। उदाहरणतया, 1952 के चुनाव के पश्चात् मद्रास के राज्यपाल श्रीप्रकाश ने मुख्यमन्त्री के परामर्श के बिना, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य समेत चार व्यक्तियों को विधान परिषद् के लिए नामांकित किया। इन नामांकनों को मद्रास उच्च न्यायालय में इस बिना पर चुनौती दी गई थी कि अनुच्छेद 173 (3) (ई), (5) के अनुसार राज्यपाल नामांकन केवल मन्त्रि-

मण्डल की सिफारिश पर कर सकता है। लेकिन उच्च न्यायालय ने इस तर्क को मानने से इन्कार कर दिया।[14] लेकिन कलकत्ता उच्च न्यायालय इस दृष्टिकोण से सहमत नही है। विमलचन्द्र बनाम डा० एच० सी० मुकर्जी मे उसने यह निर्णय दिया कि "अनुच्छेद 163 से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन विषयो के अतिरिक्त जिनमे राज्यपाल को अपने विवेक का प्रयोग करना पड़ता है, वह मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर काम करता है। लेकिन अनुच्छेद 171 मे यह कही नही कहा गया कि वह अपने विवेक का इस्तेमाल करने के लिए बाध्य है। 1935 के गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट मे "विवेक" तथा 'व्यक्तिगत निर्णय" शब्दो का अनेक बार प्रयोग किया गया था।[15] गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट 1935 के सैक्शन 50, 51, 52 (3), 55, 56 57, 58, 228 का उदाहरण दिया जा सकता है। जब तक किसी अनुच्छेद मे स्पष्टतया यह न कहा गया हो कि राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करेगा, उस समय तक निश्चय ही उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। अनुच्छेद के आधार पर उसे ऐसा करने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। अनुच्छेद 163 से स्पष्ट है कि उन विषयो के अतिरिक्त जिनमे राज्यपाल ने अपने विवेक का इस्तेमाल करना भी है वह मन्त्रियो की सलाह से काय करता है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि नामांकन करते समय भी उसने मन्त्रिमण्डल की सलाह से काम किया है।" पटना उच्च न्यायालय का भी यही दृष्टिकोण है।[16]

इसका अर्थ यह है कि इस अधिकार का प्रयोग करते समय यदि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर कार्य करे तो वह सवैधानिक होगा। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि इस अधिकार का प्रयोग सदा मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर किया जाना चाहिए या इसका प्रयोग सदा मन्त्रिमण्डल की सलाह से किया गया है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जहा पर इस अधिकार का प्रयोग मन्त्रिमण्डल के परामर्श के बिना किया गया है। उदाहरणतया, 1952 मे मद्रास के राज्यपाल श्रीप्रकाश ने मुख्यमन्त्री की सिफारिश के बिना विधान परिषद् मे चार व्यक्तियो का नामांकन किया। अपने इस निर्णय के पक्ष मे बलते हुए उसने कहा कि "प्रथा के अनुसार तो यह नामांकन उसे मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर करने चाहिए थे लेकिन तत्कालीन मुख्यमन्त्री इस संबध मे कोई सिफारिश करने को तैयार नही था, इसलिए ऐसा मुझे स्वय करना पड़ा।"[17] इसी प्रकार से 1957 के चुनाव के पश्चात् केरल मे राज्यपाल ने विधान सभा मे एक एंग्लोइण्डियन को मन्त्रिमण्डल की सिफारिश के बिना नामजद किया था।[18] उत्तर प्रदेश मे भी वहा के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने राष्ट्रपति शासन के समय चार कांग्रेसियो को विधान परिषद् का सदस्य नामजद किया था।[19]

इससे यह सिद्ध होता है कि इस संबध मे राज्यपाल के पास विवेकीय अधिकार हैं और यदि वह अपने विवेक या निर्णय का प्रयोग करे तो सवैधानिक दृष्टि से यह वैध होगा। फिर भी साधारणतया यह आशा की जाती है कि इस सम्बन्ध मे यह मन्त्रिमण्डल की सलाह से कार्य करेगा। लेकिन ऐसा करते समय अपने पद से त्याग-पत्र देने वाले मुख्यमन्त्री की नकारात्मक सिफारिश को मानने के लिए वह बाध्य

नहीं है। उदाहरणतया, बिहार में महामाया प्रसाद सिन्हा ने मुख्यमन्त्री का पद छोड़ते समय यह सिफारिश की थी कि "राज्यपाल द्वारा बिन्देश्वरी प्रसाद को विधान परिषद् का सदस्य नामजद नहीं करना चाहिए क्योंकि उस के पास अनुच्छेद 171 में दी गई अर्हताओं में से कोई भी अर्हता नहीं है।" लेकिन राज्यपाल ने इस सिफारिश की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया।[20] इस सम्बन्ध में यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि यदि मुख्यमन्त्री नामांकन के लिए स्वयं अपने नाम की सिफारिश करे तो क्या राज्यपाल उसे माने या न माने ? उदाहरणतया, उत्तर प्रदेश में जब संयुक्त विधायक दल की सरकार थी तो उस समय संयुक्त विधायक दल के कुछ सदस्य यह चाहते थे कि मुख्यमन्त्री त्रिभुवन नारायण सिंह को अपने आप को विधान परिषद् का सदस्य नामज़द करने की सिफारिश करनी चाहिए क्योंकि वे ऐसा अनुभव करते थे कि नये नेता के चुनाव के कारण ऐसे हालात पैदा हो सकते हैं जिन में विधान-सभा को भंग करना पड़े।[21] जब कमलापति त्रिपाठी को इस का पता चला तो उन्होंने राज्यपाल को एक पत्र लिखा जिस में इस का विरोध किया गया था।[22] इस में कोई भी सन्देह नहीं कि यदि कोई मुख्यमन्त्री ऐसा करता है तो उस का यह पग बहुत ही अनुचित है लेकिन संवैधानिक दृष्टि से असंवैधानिक नहीं है और हमें ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहां पर ऐसा किया गया है। उदाहरणतया, 23 जनवरी, 1961 को उत्तर प्रदेश में ही चन्द्रभानु गुप्त ने अपने आप को विधान परिषद् में अपनी ही सिफारिश पर नामज़द करवाया था।[23] यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि चन्द्रभानु गुप्त ने 1957 और 1958 में दो बार चुनाव लड़ा था और दोनों बार वे पराजित हो गए थे।[24]

साधारणतया तो यह आशा की जाती है कि जो नेता चुनाव में हार जाये उसे विधान परिषद् का सदस्य बनाने के लिए इस अनुच्छेद का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने इस संबंध में निर्णय देते हुये कहा कि "इन दो धाराओं का जो उद्देश्य है, उसे मालूम करना कठिन नहीं है। प्रत्येक राज्य में अनेक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने अनेक क्षेत्रों में ख्याति प्राप्त की है और उन के मूल्यवान अनुभव का विधान-सभा में लाभ उठाया जा सकता है, लेकिन समय के अभाव के कारण तथा उन की चुनाव में रुचि न होने के कारण वे चुनाव नहीं लड़ना चाहते। यह सार्वजनिक हित में नहीं है कि उन की शक्ति राजनैतिक चुनावों में नष्ट कर दी जाये। उदाहरणतया राष्ट्रपति किसी प्रसिद्ध वैज्ञानिक को विधानपालिका का सदस्य नामजद कर सकता है ताकि अणुशक्ति के उत्पादन से संबंधित कानून बनाने से पहले उन की जानकारी का लाभ उठाया जा सके। अनेक अन्य ऐसे उदाहरण उन व्यक्तियों के दिये जा सकते हैं जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला तथा सामाजिकशास्त्रों का विशेष ज्ञान है। अनुच्छेद 171 की धारा (5) का यह उद्देश्य था कि ऐसे व्यक्तियों को, बिना चुनाव सार्वजनिक हित के लिए, विधानपालिका का सदस्य बनाया जा सके। इस का उद्देश्य यह नहीं है कि एक पराजित मन्त्री को नामजदगी के चोर दरवाज़े से विधान-

पालिका का सदस्य बनाया जाय या बहुमत दल इस का प्रयोग विधानपालिका का अपनी संख्या बढ़ाने के लिए करे।[25] लेकिन आगे चल कर न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि यदि सत्तारूढ़ दल ऐसा करता है और राज्यपाल ऐसा करने के लिए तैयार है तो वह अनुचित होते हुए भी अवैध नहीं होगा और न्यायालय उस में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकते।[26]

विधान परिषद् के सदस्य नामजद करने के अतिरिक्त "संविधान के अनुच्छेद 170 का ध्यान न रखते हुए राज्यपाल यदि यह समझे कि एंग्लोइण्डियन जाति का विधान-सभा में प्रतिनिधित्व कम है तो वह उस जाति के उतने व्यक्तियों को जिन को वह उचित समझे, विधान-सभा के सदस्य नामज़द कर सकता है।[27]

नामांकन का समय

नामज़दगी के सम्बन्ध में यह भी पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल अनुच्छेद 171 की धारा (3) की उपधारा (ए) से (डी) तक जो श्रेणियां दी गई हैं उन श्रेणियों के सदस्यों की चुनाव की पश्चात् ही नामज़दगी कर सकता है या उस से पहले भी? यह प्रश्न बिमलचन्द्र बनाम डाक्टर एच० सी० मुखर्जी के मुकद्दमे में कलकत्ता उच्च न्यायालय के सामने उठाया गया था और इस सम्बन्ध में यह कहा गया था कि "राज्यपाल चुनाव समाप्त हो जाने से पहले अनुच्छेद 171 के अनुसार नामजद नहीं कर सकता, और अनुच्छेद 171की धारा (3) की उपधारा (ए) से (डी) तक हवाला देते हुए कहा कि इस अनुच्छेद की व्यवस्था से यह सिद्ध होता है कि इस उपधारा (ए) से (डी) में जो श्रेणियां दी गई हैं उन श्रेणियों के व्यक्तियों के चुनाव के पश्चात् ही राज्यपाल नामजदगी कर सकता है ताकि नामज़दगी करते समय वह इस बात का ध्यान रख सके कि किस श्रेणी के व्यक्ति चुनाव में नहीं आए हैं। यदि साहित्य या विज्ञान के बहुत ही कम या बहुत ही अधिक सदस्य निर्वाचित हुए हों तो नामजदगी करते समय राज्यपाल उन की कमी या बढ़ोतरी कर सकता है।"[28] लेकिन इस सम्बन्ध में निर्णय देते हुए न्यायधीश बोस ने कहा 'इस अनुच्छेद के पढने से मुझे ऐसा लगता है कि इस में यह कहीं नहीं कहा गया कि राज्य-पाल चुनाव समाप्त होने से पहले नामज़दगी कर सकता है। व्याख्या का यह सिद्धांत निश्चित है कि संविधान के अनुच्छेदों की व्याख्या संकुचित दृष्टिकोण से नहीं करनी चाहिये। चूंकि राज्यपाल की शक्तियों पर इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगाने का कोई आधार नहीं है, इस लिए मैं ऐसी व्याख्या करने के लिए तैयार नहीं हूं।"[29]

सदस्यों की अनर्हता

विधानपालिका में अपना स्थान ग्रहण करने से पहले प्रत्येक सदस्य को राज्यपाल या उस द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के सामने पद की शपथ लेनी पड़ती है।[30] शपथ लेने के पश्चात् यदि किसी सदस्य के बारे में यह प्रश्न उठे कि वह अनुच्छेद 191 में दी गई अयोग्यता के कारण विधानपालिका का सदस्य नहीं रह सकता तो उस प्रश्न का निर्णय राज्यपाल द्वारा किया जायेगा और उस का निर्णय अन्तिम होगा। लेकिन

ऐसा करने से पहले वह चुनाव आयोग से परामर्श करेगा और चुनाव आयोग द्वारा दी गई सलाह के अनुसार निर्णय करेगा।[31] जब पंजाब विधान-सभा के सदस्य हजारा सिंह गिल को दो वर्ष की सजा हुई तो उस समय विधान-सभा अध्यक्ष के सामने यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या वह अनुच्छेद 191 के अनुसार विधान-सभा का सदस्य रह सकता है ? अध्यक्ष ने यह मामला राज्यपाल को भेज दिया और उस ने चुनाव आयोग से सलाह ले कर उस की विधान-सभा की सदस्यता समाप्त कर दी।[32]

चुनाव आयोग से सलाह करने की व्यवस्था संविधान निर्माताओं ने इस लिए की ताकि राज्यपाल को इस सम्बन्ध में असीमित शक्तियां न मिलें, जिन का वह कुछ अवसरों पर दुरुपयोग कर सके। टी० टी० कृष्णामचारी ने अनुच्छेद 167 (ए) पर बोलते हुए, जो वर्तमान संविधान का अनुच्छेद 192 है, कहा कि, "राज्यपाल को स्वयं या मन्त्रियों की सलाह से दुरुपयोग करने से रोकने के लिए दूसरी धारा में राज्यपाल का यह कर्त्तव्य निश्चित कर दिया गया है कि वह तथा उसके सलाहकार चुनाव आयुक्त की सलाह ले सके।"[33] लेकिन इस संबंध में यह प्रश्न उठता है कि अनुच्छेद 192 (2) राज्यपाल द्वारा इस शक्ति के दुरुपयोग को कहां तक रोक सकता है। जहां तक इस अनुच्छेद में जो वाक्यांश "उस का निर्णय अन्तिम होगा" का संबंध है, इससे कोई भ्रम नहीं होना चाहिये। क्योंकि अनुच्छेद 192 की धारा (1) उसी अनुच्छेद की धारा (2) से नियन्त्रित है और राज्यपाल का केवल वही निर्णय अन्तिम है जो वह चुनाव आयोग के मतानुसार देता है। यदि उस का निर्णय चुनाव आयोग के मतानुसार नहीं है तो वह अन्तिम नहीं होगा और उसे न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।[34] धारा (2) में जो Shall शब्द है उस से भी यह सिद्ध होता है कि राज्यपाल के लिए चुनाव आयोग का परामर्श लेना अनिवार्य है। ब्रन्दला वनाम चुनाव आयोग, 'ए०आई०आर०', 1965, सर्वोच्च न्यायालय 1892 में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 192(2) के अनुसार राज्यपाल का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है कि वह चुनाव आयोग से परामर्श करे और उस के मतानुसार निर्णय करे।[35]

चुनाव आयोग के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्यपाल को इस सम्बन्ध में मत देने से पहले उस सदस्य को अपनी स्थिति बतलाने का अवसर दे जिस की सदस्यता को चुनौती दी गई है। जब चुनाव आयोग उसे अवसर दे देता है और राज्यपाल चुनाव आयोग के मतानुसार निर्णय देता है तो फिर वह निर्णय अन्तिम होगा और उसे न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।[36]

यदि हम अनुच्छेद 192 की धारा (1) तथा (2) का गहराई से अध्ययन करें तो हम इस परिणाम पर पहुंचेंगे कि ये दोनों धाराएं परस्पर विरोधी हैं। उदाहरणतया, धारा (1) में यह कहा गया है कि राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा जब कि धारा (2) में यह कहा गया कि उसे चुनाव आयोग के मतानुसार निर्णय करना पड़ेगा। संविधान सभा में काजी सैयद करीमुद्दीन ने इस परस्पर विरोध की ओर ध्यान आकर्षित किया था। उन्होंने संविधान के प्रारूप के अनुच्छेद 167 (ग) की धारा (2)

पर (जो कि वर्तमान संविधान का अनुच्छेद 192 है) बोलते हुए कहा कि 'धारा (2) में तो यह कहा गया है कि किसी ऐसे प्रश्न का निर्णय करने से पहले राज्यपाल चुनाव आयोग की सलाह लेगा और उसके मतानुसार निर्णय करेगा। इस धारा (2) के अनुसार राज्यपाल की स्थिति डाकघर जैसी है। एक तरफ तो यह कहा जा रहा है कि राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा और फिर दूसरी सांस में ही यह कहा जा रहा है कि राज्यपाल चुनाव आयुक्त के मतानुसार निर्णय करेगा। यदि ऐसा है तो फिर यह व्यवस्था क्यों नहीं कर दी जाती कि चुनाव आयोग का निर्णय अन्तिम होगा और इस की घोषणा भी चुनाव आयुक्त ही करेगा।[3]

लेकिन डा० अम्बेडकर इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन के मतानुसार "राज्यपाल को यह निर्णय करने का अधिकार इस लिए दिया गया है क्योंकि सामान्य नियम यह है कि अनर्हता का निर्णय जिस के कारण स्थान खाली हो, उस अधिकारी द्वारा किया जाना चाहिए जिसे उस स्थान का चुनाव कराने का अधिकार है। इस में कोई भी सन्देह नहीं कि नये संविधान में यह चुनाव कराने का अधिकार राज्यपाल को दिया गया है। यही कारण है कि अनर्हता के परिणामस्वरूप खाली स्थान की घोषणा करने का अधिकार राज्यपाल को ही दिया गया है।"[39] अनुच्छेद 167 की धारा (2) का समर्थन करते हुए अम्बेडकर ने आगे चल कर यह भी कहा कि "अनुच्छेद 167 की धारा (ए) से (डी) तक दी गई अनर्हताओं के बारे में चुनाव आयुक्त राज्यपाल को सलाह नहीं दे सकता क्योंकि वे विषय ऐसे हैं जो चुनाव आयोग के क्षेत्र से बाहर है। उदाहरणतया, किसी व्यक्ति के पास लाभ वाला पद है या नहीं, किसी व्यक्ति का दिमाग ठीक है या नहीं, और क्या न्यायालय ने उस के बारे में ऐसी घोषणा की है या नहीं, किसी सदस्य का दिवाला निकल गया है या नहीं या कोई सदस्य किसी विदेशी शक्ति के साथ मिला हुआ है या नहीं ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो चुनाव आयोग के क्षेत्राधिकार से बाहर है। इसलिये इन प्रश्नों पर वह राज्यपाल को कोई उत्तर नहीं दे सकता। लेकिन जब आप उप-धारा (ई) पर आते हैं तो यह एक ऐसा विषय है जो चुनाव आयोग के क्षेत्राधिकार में आता है क्योंकि इस में उन अनर्हताओं की चर्चा की गई है जो भ्रष्टाचार के आधार पर हो सकती है जिस का निर्णय चुनाव आयोग द्वारा किया जाता है।"[30]

लेकिन अम्बेडकर का तर्क बहुत ठीक नहीं है क्योंकि एक ओर तो यह कहते हैं कि "चुनाव आयोग, अनुच्छेद 192 की धारा (ए) से (डी) में जो अनर्हताएं हैं उनके बारे में निर्णय नहीं कर सकता।' लेकिन दूसरी तरफ अनुच्छेद 193 के अधीन इन अनर्हताओं के बारे में भी राज्यपाल चुनाव आयोग के परामर्श पर निर्णय कर सकता है। इस कथन से यह अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि अम्बेडकर यह चाहते थे कि चुनाव आयोग की सलाह केवल उन अनर्हताओं के बारे में ली जाये जो अनुच्छेद 192 की धारा (ई) के अधीन आती हैं और इस सम्बन्ध में उस ने एक संशोधन भी पेश किया था। वह संशोधन यह था कि 'पिछले अनुच्छेद की धारा (1) की उप-धारा

(ई) के अधीन कोई निर्णय देने से पहले राज्यपाल चुनाव आयोग की सलाह लेगा और उनके मतानुसार निर्णय देगा।"[40] लेकिन संविधान के अन्तिम प्रारूप में इस संशोधन को वापस ले लिया गया और यह अनुच्छेद वर्तमान रूप में पास कर दिया गया।[41] इस अनुच्छेद के बारे में इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि इस अनुच्छेद का सम्बन्ध चुनाव के पश्चात् होने वाली अनहर्ताओं तक सीमित है। चुनाव से पहले यदि किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई अनहर्ता थी तो उस का निर्णय राज्यपाल नहीं कर सकता।

सदस्यों को शपथ दिलाना

इस के अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 188 के अधीन विधान-सभा तथा विधान-परिषद् के प्रत्येक सदस्य को अपना स्थान लेने से पहले राज्यपाल के सामने या उन के द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के सामने शपथ लेनी पड़ती है। चूंकि यह राज्यपाल का संवैधानिक कर्त्तव्य है, इसलिए वह इस कर्त्तव्य को पूरा करने से इन्कार नहीं कर सकता। जिस प्रकार से अनुच्छेद 176 के अधीन "राज्यपाल अभिभाषण से इन्कार नहीं कर सकता उसी प्रकार से वह इस संवैधानिक कर्त्तव्य को पूरा करने से इन्कार नहीं कर सकता।"[42] इसी प्रकार से अनुच्छेद 188 के अधीन भी स्थिति वैसी ही है। यदि राज्यपाल इस कार्य के लिए अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को नियुक्त करे तो वे भी शपथ दिलाने से इन्कार नहीं कर सकते।

जब राज्यपाल के स्थान पर अध्यक्ष शपथ दिलाता है तो उस समय वह संविधान के अनुच्छेद 212 (2) के अधीन उसे जो विशेषाधिकार दिए गए हैं, उनका दावा कर सकता। यदि वह शपथ दिलाने से इन्कार करे जैसा कि थकामा के साथ तिरुवांकुर कोचीन के अध्यक्ष ने किया था तो उस समय न्यायालय हस्तक्षेप कर सकता है। उस मामले में यह तर्क पेश किया गया था कि शपथ दिलाना सदन की कार्यवाही है और इसलिए न्यायालय उस में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। अनुच्छेद 188 तथा 189 "सदन की कार्यवाही" नामक शीर्षक में दिये गए हैं। लेकिन न्यायालय ने इन तर्कों को नहीं माना और उसने निर्णय दिया कि "अनुच्छेद 188 में यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक सदस्य राजप्रमुख के सामने या उस द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के सामने शपथ लेगा। इसलिए शपथ लेना अनुच्छेद 212 के अधीन सदन की कार्यवाही नहीं है, हालांकि यह सदस्यों को विधान-सभा में बैठने की आज्ञा देता है। इसलिए यह एक ऐसी शर्त है जो सदस्यों को विधान-सभा में बैठने से पहले पूरी करनी पड़ती है।"[43] इस लिए न्यायालय ने अध्यक्ष को शपथ दिलाने का आदेश दिया।[44]

संदर्भ

1. अनुच्छेद, 168.
2. अनुच्छेद, 171 (5).

3 विद्यासागर सिंह बनाम वल्लभ सहाय, 'ए आइ आर ,' 1965, पटना, 321
4 वही।
5 बिमल चन्द्र बनाम डा एच सी मुकर्जी 'ए आइ आर ,' 1952, कलकत्ता, 802
6 हरशरण वर्मा बनाम चन्द्रभानु गुप्त 'ए आइ आर ,' 1962, इलाहाबाद, 301
7 बिमल चन्द्र बनाम एच सी मुकर्जी, राज्यपाल पश्चिमी बंगाल, 'ए आइ आर ,' 1952, कलकत्ता, 803
8. विद्यासागर बनाम कृष्ण वल्लभ सहाय, 'ए आइ आर ,' 1965, पटना, 321.
9 वही।
10 देवेन्द्र बनाम आन्ध्र प्रदेश लोकसेवा आयोग, 'ए आइ आर ' 1967, आन्ध्र प्रदेश, 362
11 अनुच्छेद 162
12 बिमल चन्द्र बनाम एच सी मुकर्जी राज्यपाल पश्चिमी बंगाल 'ए आइ आर ,' 1952 कलकत्ता, 801
13 वही।
14 'ए आइ आर ', 1953, मद्रास, 95
15 बिमलचन्द्र बनाम एच सी मुकर्जी 'ए आइ आर ,' 1952, कलकत्ता 801
16 विद्यासागर बनाम कृष्णावल्लभ सहाय, 'ए आइ आर ,' 1965, पटना, 321
17 'स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया', 1966 पृष्ठ 42
18 'दि ट्रिब्यून', अ बाला छावनी, मार्च 10 1967
19 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', जुलाई 5, 1968, पृष्ठ 9
20 'दि ट्रिब्यून', जनवरी 29, 1968, पृष्ठ 1
21 दि हिन्दुस्तान टाइम्स', मार्च 22, 1971, पृष्ठ 11
22 वही।
23 हरशरण वर्मा बनाम चन्द्रभानु गुप्त, 'ए आइ आर ', 1962, इलाहाबाद 301
24 वही।
25 वही।
26 वही।
27. अनुच्छेद 333
28 बिमल चन्द्र बनाम एच सी मुकर्जी, राज्यपाल पश्चिमी बंगाल 'ए आइ आर ', 1952 कलकत्ता 1802
29 वही।
30 अनुच्छेद, 188
31 अनुच्छेद, 192 (2)
32 'दि ट्रिब्यून', नवम्बर 1, 1963
33 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 8, पृष्ठ 862
34 डी० डी० बासु, 'कमेन्टरी ऑन दि कान्स्टिट्यूशन आफ इण्डिया , पाचवा सस्करण, वॉल्यूम 2, पृष्ठ 577-78
35 आर सरीवामकर बनाम चुनाव आयोग, 'ए आइ आर ', 1968, मद्रास 235
36 मद्रास उच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार "संविधान के अनुच्छेद 191 (1) के अनुसार अनर्हता के प्रश्न का निर्णय करने का अधिकार पूर्णतया राज्यपाल को दिया गया है और किसी भी न्यायालय को समादेश के आधार पर उसमें हस्तक्षेप का अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त

वर्तमान सदस्य को चुनाव आयोग द्वारा की जाने वाली जांच पड़ताल में अपनी अनर्हता से संबंधित स्पष्टीकरण देने का अधिकार है। जब यह अवसर देने के पश्चात् चुनाव आयोग अनर्हता से संबंधित प्रश्न पर अपना मत राज्यपाल को दे देता है और इस मतानुसार जब राज्यपाल अपना निर्णय कर दे तो उसके पश्चात् इस आधार पर अपील नहीं हो सकती कि ठीक प्रकार से स्थिति स्पष्ट करने के लिए उसे अवसर नहीं दिया गया। 'ए. आई. आर.', 1965, सर्वोच्च न्यायालय 961 तथा 'ए. आई. आर.,' 1965, सर्वोच्च न्यायालय 1892 पर अमल किया गया।"

पी. सरोवासंकर बनाम चुनाव आयोग इण्डिया, 'ए. आई. आर.', 1968, मद्रास 235.

37. 'संविधान सभा डिबेट्स', वाल्यूम् 8, पृष्ठ 862.
38. वही; पृष्ठ 866.
39. वही।
40. वही।
41. संविधान के (32वें) संशोधन बिल 1973 के अनुसार अनुच्छेद 103 तथा 192 के पश्चात् एक उपबन्ध (Proviso) जोड़ा जा रहा है जिसके अनुसार दल छोड़ने में संबंधित अनर्हताओं का निर्णय करने का अधिकार राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को दिया जा रहा है। 'दि ट्रिब्यून', जून 22, 1973, पृष्ठ 4.
42. सैयद अब्दुल बनाम पश्चिमी बंगाल विधान-सभा, 'ए. आई. आर.', 1966, कलकत्ता 370.
43. थंकामा बनाम अध्यक्ष तिरुवांकुर- कोचीन विधान-सभा, 'ए. आई. आर.', 1952, तिरुवांकुर-कोचीन, 169.
44. वही।

7

विधानपालिका का सत्र बुलाने का अधिकार

अनुच्छेद 174 (1) के अनुसार "राज्यपाल समय-समय पर राज्य की विधान-पालिका का सत्र ऐसे समय और ऐसे स्थान पर बुलायेगा जिसे वह उचित समझता हो लेकिन एक सत्र की अन्तिम बैठक और अगले सत्र की प्रथम बैठक के मध्य छ महीने से अधिक समय नही होगा।"[1] लेकिन क्या इस का अर्थ यह है कि एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा अगले सत्र की प्रथम बैठक में कभी भी छ महीने से अधिक समय नही हो सकता। यह ऐसा नहीं है क्योंकि कभी-कभी छ महीने के अन्दर सत्र बुलाना असम्भव हो सकता है जैसे उस समय जब राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अनुसार विधान-सभा भंग या निलम्बित कर दे या अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन उसे भंग किये जाने के पश्चात् वहां पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया हो जैसा कि 1971 में पंजाब में हुआ था।[2] यदि विधान सभा को अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन भंग किया जाए और साधारण या कामचलाऊ सरकार पद पर हो[3] तो उस समय चुनाव छ महीने के अन्दर कराने होंगे ताकि पिछले सत्र की अन्तिम बैठक और अगले सत्र की प्रथम बैठक के बीच छ महीने से अधिक समय न हो। यह इसलिए करना पड़ेगा क्योंकि विधान-सभा की बैठक बुलाए बिना बजट पास नहीं किया जा सकता, और जब तक बजट पास नहीं होता कामचलाऊ सरकार पद पर नहीं रह सकती।[4] जब उड़ीसा में 1961 में राज्यपाल ने अध्यादेश द्वारा बजट पास किया तो भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने राज्यपाल को सूचित किया कि वह ऐसा नहीं कर सकते। चूंकि गृह मंत्रालय के मतानुसार अध्यादेश द्वारा बजट पास नहीं किया जा सकता, इस लिये यदि विधान-सभा अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन भंग की जाये और कामचलाऊ सरकार पद पर हो तो चुनाव छ महीने की अवधि में कराने पड़ेंगे ताकि विधान सभा का सत्र अनुच्छेद 174 (1) के अनुसार बुलाया जा सके और पिछले सत्र की अन्तिम बैठक और अगले सत्र की प्रथम बैठक में छ महीने से अधिक समय न हो। यही कारण था कि चुनाव आयोग ने आंध्र, असम, हिमाचल प्रदेश, जम्मू तथा काश्मीर, महाराष्ट्र, राजस्थान तथा गोआ, दमण और दीव एवं दिल्ली को मार्च 1972 में होने वाले चुनावों से पहले सत्र बुलाने को कहा ताकि भंग की गई विधान-सभा की अन्तिम बैठक और नव-निर्वाचित विधान-सभा की प्रथम बैठक के बीच छ महीने से अधिक

समय न हो।[5] इसीलिए हिमाचल प्रदेश में विधान-सभा को भंग करने से पहले एक दिन का सत्र बुलाया गया था।[6]

अनुच्छेद 174 (2) में जो छः महीने की अवधि की चर्चा की गई है उसके बारे में एक और भी प्रश्न उठता है, और वह यह कि यदि विधान-सभा के पिछले सत्र की अन्तिम बैठक होने के पश्चात्, अनुच्छेद 356 के अधीन एक या दो महीने के लिए निलंबित करने के पश्चात् उसे बहाल कर दिया जाये तो क्या यह एक या दो महीने का समय जिस में विधान-सभा निलंबित रही थी, इस छः महीने की अवधि में शामिल किया जायेगा या नहीं ? यह समस्या उत्तर प्रदेश में हमारे सामने पहली बार प्रस्तुत हुई। उत्तर प्रदेश विधान-सभा का सत्र 15 मई 1973, को हुआ था और इस का अगला सत्र 15 नवम्बर 1973, को होना था। इस समय के बीच कुछ महीने तक राष्ट्रपति शासन रहा और विधान-सभा निलंबित रही। 8 नवम्बर 1973, को राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया और हेमवती नन्दन बहुगुणा को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया गया। लेकिन उन्होंने विधान-सभा का सत्र 15 नवम्बर को नहीं बुलाया। जब मधु लिमये ने यह मामला लोकसभा में उठाया तो विधि मन्त्री एच०आर० गोखले ने उत्तर दिया कि छः महीने के समय में वह समय शामिल नहीं किया जायेगा जब विधान-सभा निलंबित थी।[7] लेकिन इस विचार से सहमत होना कठिन है। क्योंकि उस समय जब विधान-सभा निलंबित रही हो, को हम विधान-सभा का जो पाँच वर्ष का कार्यकाल है उस में शामिल करते हैं तो फिर उसे इस छः महीने के समय में शामिल क्यों नहीं किया जायेगा यह बात समझ में नहीं आती। यदि विधान-सभा छः महीने से अधिक समय तक निलंबित रहे तो वह बात कुछ और है। यदि वह छः महीने से कम समय के लिए निलंबित रहे और बहाल होने के पश्चात् सत्र बुलाने का समय हो तो सत्र अवश्य ही बुलाया जाना चाहिए और ऐसा न करना संविधान का उल्लंघन है। यदि बहाल होने के पश्चात् इतना समय न हो कि उस तिथि तक सत्र बुलाया जा सके तो वह एक अन्य बात है। साधारणतया यह भी नहीं होना चाहिए क्योंकि जो व्यक्ति अनुच्छेद 356 के अधीन शक्तियों का प्रयोग करता है उसे उन शक्तियों का प्रयोग ऐसे ढंग से करना चाहिए कि उस में संविधान का उल्लंघन नहीं अपितु पालन हो। अर्थात् विधान-सभा को बहाल करते समय अगले सत्र की तिथि को ध्यान में रखना चाहिये और विधान-सभा को उस समय बहाल नहीं किया जाना चाहिये जब छः महीने समाप्त होने में इतना थोड़ा समय रह जाये कि उसके समाप्त होने से पहले सत्र बुलाया ही न जा सके।

विधान-सभा का सत्र बुलाने के सम्बन्ध में यह भी पूछा जा सकता है कि जहां पर द्विसदनात्मक विधान-पालिका है वहां पर दोनों सदनों का सत्र एक साथ बुलाया जाये या उन्हें भिन्न-भिन्न तिथियों को भी बुलाया जा सकता है ? ऐसा लगता है कि राज्यपाल यदि चाहें तो उन का सत्र भिन्न-भिन्न तिथियों को बुला सकता है क्योंकि

अनुच्छेद 174 (1) के अनुसार वह उन का सत्र "समय-समय पर बुला सकता है और अनुच्छेद 175 (1) के अधीन वह "विधानपालिका के किसी भी सदन में या इकट्ठे दोनों सदनों के सामने भाषण दे सकता है।" इस के अतिरिक्त अनुच्छेद 213 (2) में यह स्पष्ट कहा गया है कि दोनों सदनों को भिन्न-भिन्न तिथियों पर बुला सकता है।[8] लेकिन इन अनुच्छेदों के होते हुये भी वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि अनुच्छेद 176 (1) में यह कहा गया है कि जहां पर विधान-परिषद् है, वहां पर विधान-सभा के आम चुनाव के पश्चात प्रथम सत्र में राज्यपाल दोनों सदनों की इकट्ठी बैठक में भाषण देगा। इस का अर्थ यह है कि चुनाव के पश्चात् प्रथम सत्र तथा प्रत्येक वर्ष का प्रथम सत्र इकट्ठा बुलाया जायेगा क्योंकि उसी स्थिति में वह दोनों सदनों में एक साथ भाषण दे सकेगा। लेकिन जहां तक इन सत्रों को छोड़ कर अन्य सत्रों का सम्बन्ध है कलकत्ता,[9] उड़ीसा,[10] तथा मैसूर[11] उच्च न्यायालयों के अनुसार राज्यपाल के अभिभाषण के बिना सत्र आरम्भ नहीं हो सकता, इसलिए राज्यपाल के पास दोनों सदनों का इकट्ठा सत्र बुलाने के अतिरिक्त और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। क्योंकि जिन प्रान्तों में द्विसदनात्मक विधानपालिकायें हैं वहां पर विधानपालिका के दोनों सदनों के सामने पृथक पृथक् अभिभाषण देने की संविधान में कोई व्यवस्था नहीं है।

मुख्यमन्त्री की सलाह पर सत्र बुलाना

साधारणतया राज्यपाल विधानपालिका का सत्र मुख्यमन्त्री की सलाह पर बुलाता है। लेकिन राज्यपाल उस समय क्या करे जब पश्चिमी बंगाल,[12] बिहार,[13] हरियाणा,[14] पंजाब,[15] मध्यप्रदेश,[16] तथा उत्तर प्रदेश[17] की तरह के दल बदल हो जायें या आपसी झगड़ों के कारण मिली-जुली सरकार में फूट पड़ जाए। यह या तो उस समय हो सकता है जब मिली-जुली सरकार में शामिल कोई दल सरकार को छोड़ दे जैसा कि 1970 में पंजाब में जनसंघ[18] ने, जनवरी 1971 में उड़ीसा में जन-कांग्रेस ने और 1972 में उत्कल कांग्रेस[19] ने किया। यह उस समय भी हो सकता है जब सरकार में शामिल कोई दल सरकार में से अपना समर्थन वापस तो ले लेकिन उस दल के मन्त्री त्यागपत्र देने से इन्कार कर दें जैसा कि उत्तर प्रदेश में कांग्रेस (सत्तारूढ़) ने चरण सिंह के साथ किया था।[20] उस समय राज्यपाल के सामने समस्या यह होती है कि वह क्या करे। क्या वह,

(i) मुख्यमन्त्री को विधान-सभा का तुरन्त सत्र बुलाने के लिए कहे ताकि उस के बहुमत की परीक्षा की जा सके,
(ii) कुछ समय के लिए इस प्रकार से दल छोड़ने की ओर कोई भी ध्यान न दे,
(iii) मुख्यमन्त्री से त्यागपत्र देने के लिए कहे,
(iv) मुख्यमन्त्री को उस की स्थिति दृढ़ बनाने के लिये समय देने के लिए विधान-सभा का सत्रावसान कर दे,

(v) विधान-सभा को अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन भंग कर दे या अनुच्छेद 356 के अधीन उसे भंग करने की सिफारिश कर दे, ताकि दोबारा चुनाव हो सके। 1967 में पश्चिमी बंगाल में धर्मवीर[21] ने और 1970 में डी० सी० पावते[22] ने पंजाब में पहले वैकल्प को अपनाया था। न्यायाधीश मेहरसिंह ने अगस्त 1967 में जब हरियाणा के राज्यपाल का काम सम्भाले हुए थे,[23] तथा हरियाणा के ही राज्यपाल बीरेन्द्रनारायण चक्रवर्ती ने नवम्बर 1967[24] में तथा उस के पश्चात् दिसम्बर 1968[25] में बिहार में, सितम्बर 1967 में अनन्थास्यिानम अय्यंगर[26] ने तथा उसके पश्चात् उनके उत्तराधिकारी डी० के० बरुआ ने भी जुलाई 1971 में ऐसा ही किया।[27] उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने 1969 में जब चन्द्रभानु गुप्त मुख्यमन्त्री थे तो दूसरा रास्ता अपनाया[28] था, लेकिन 1970 मे जब चरण सिंह मुख्यमन्त्री पद पर आसीन थे तब तीसरा वैकल्प अपनाया।[29] मध्यप्रदेश के राज्यपाल के० सी० रेड्डी ने जुलाई 1967[30] में, तथा जम्मू व काश्मीर के राज्यपाल भगवान सहाय ने मार्च 1970[31] मे चौथे वैकल्प को अपनाया, अर्थात् विधान-सभा का सत्रावसान कर दिया। पंजाब में डी० सी० पावते ने जून[32] 1971 मे, उड़ीसा में बी० डी० जेटी ने मार्च 1973[33] में अन्तिम वैकल्प अपनाया। इस से यह सिद्ध होता है कि जब भी शासक दल से या मिली जुली सरकार से दल बदल हुए, भिन्न-भिन्न राज्यपालों ने भिन्न-भिन्न राज्यों में, और कई बार तो उसी राज्यपाल ने उसी राज्य में भिन्न-भिन्न वैकल्प अपनाए जो न केवल असंगत ही थे बल्कि परस्पर विरोधी भी थे।[34] जहां पर पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल विधान-सभा का सत्र एक निश्चित तिथि से पहले चाहते थे पंजाब के राज्यपाल उस तिथि के लिए झगड़ा करने को तैयार नहीं थे। हरियाणा के राज्यपाल ने दल बदल को नजरअंदाज किया, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने दल बदल की ओर उस समय कोई ध्यान नहीं दिया जब चन्द्रभानु गुप्त मुख्यमन्त्री थे। लेकिन जब चरण सिंह मुख्यमन्त्री थे तब वे उन के बारे में बहुत ही सावधान थे। मध्यप्रदेश तथा जम्मू व काश्मीर के राज्यपालों ने तो मुख्यमन्त्री की सहायता करने के लिए बजट सत्र का भी सत्रावसान कर दिया था।

क्या राज्यपाल को दल बदलने की ओर ध्यान देना चाहिए या नहीं इस संबंध में विधि मन्त्रालय का यह विचार है कि "सरकार तथा विपक्ष का शक्ति परीक्षण केवल विधान-सभा में ही हो सकता है इस लिए राज्यपाल को विपक्ष द्वारा परेड के माध्यम से किये गए उन की शक्ति के दिखावे की ओर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए।"[35] के० सन्थानम का भी यही विचार है कि "राज्यपाल को दलों की संख्या में जो

दिन-प्रतिदिन परिवर्तन होता है, उस की तरफ ध्यान नहीं देना चाहिये। जब राज्य-पाल एक बार मन्त्रिमंडल की नियुक्ति कर देता है तो फिर उस के पश्चात् यह काय विधान-सभा का है कि वह यह निर्णय करे कि विधान-सभा में उस का कि बहुमत है या नहीं। जब तक अविश्वास के प्रस्ताव या बजट को रद्द करके विधान-सभा मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ नहीं कर देती तब तक प्रथा या कानून अल्पसंख्यक मन्त्रिमण्डल को भी पद पर रहने से नहीं रोकता।"[36] लेकिन गृह मन्त्रालय का इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण भिन्न है। इन के अनुसार "राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह यह हमेशा देखे कि मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत है या नहीं। यदि किसी समय इस बारे में सन्देह हो तो उसे इस ओर ध्यान देना चाहिये।"[37]

पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री के बरखास्त किये जाने के पश्चात् इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुये यशवन्तराव चह्वान ने कहा कि कार्यपालिका और विधानपालिका का एक बहुत ही नाजुक सन्तुलन होता है और राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि कार्यपालिका विधानपालिका के प्रति सामूहिक रूप में उत्तरदायी रहे। रैफ्री के रूप में उस का यह कर्त्तव्य है कि वह कार्यपालिका को विधानपालिका के समक्ष जा कर शक्ति परीक्षण के लिए कहे।[38] उस समय मोरारजी देसाई ने इस दृष्टिकोण का और भी बढ-चढ कर समर्थन किया और कहा कि राज्यपाल उस मुख्यमन्त्री को डेढ महीने तक पद पर कैसे रहने दे सकता था जिस का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा? यदि वे ऐसा करते तो वे राज्यपाल रहने योग्य नहीं थे, और यह मुख्यमन्त्री के हाथों संविधान की हत्या होती।[39] यदि वास्तविक स्थिति यह है तो उन राज्यपालों को पद से तुरन्त हटा दिया जाना चाहिये था जिन्होंने चार महीने या उससे भी अधिक समय तक मुख्यमन्त्री को उस का बहुमत न होते हुये पद पर रहने दिया। बिहार में अनन्थासियानम अय्यंगर ने और उत्तर प्रदेश में बी० गोपाला रेड्डी ने ऐसा किया था। कांग्रेस का विभाजन होने के पश्चात् चन्द्रभानु गुप्त का विधान-सभा में बहुमत नहीं था लेकिन फिर भी उन्हें चार महीने से अधिक समय तक मुख्य-मन्त्री बना रहने दिया गया।

इस सम्बन्ध में यह चर्चा भी आवश्यक है कि यदि दल बदल की ओर राज्यपाल ध्यान न दें तो विपक्ष राष्ट्रपति को याचिका देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकता। राज्यपाल को मनमाने ढंग से कार्य करने से रोकने के लिए और मुख्यमन्त्री को विधान-सभा में शक्ति परीक्षण से भागने से रोकने के लिए नाथपई ने लोकसभा में यह विधेयक पेश किया कि "यदि विधान-सभा या संसद के 50% से अधिक सदस्य लिखित रूप से सत्र बुलाने की मांग करें तो विधान सभा तथा लोकसभा के अध्यक्षों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे 15 दिन के अन्दर अन्दर सत्र बुलाएं।"[40] इस प्रकार के संशोधन की संविधान में आवश्यकता है। सीताराम जयपुरिया ने भी इसी प्रकार का विधेयक राज्य-सभा में पेश किया था।[41] अध्यक्षों के सम्मेलन ने भी लगभग इसी प्रकार की सिफारिश की थी।[42]

मुख्यमंत्री के परामर्श के बिना सत्र बुलाना

इस में कोई सन्देह नहीं कि प्रतिद्वन्दी दलों के शक्ति परीक्षण के लिए विधान-सभा का मंच उचित स्थान है और 8 अप्रैल 1968, को अध्यक्षों का जो सम्मेलन हुआ था उस की भी यही सिफारिश थी।[43] राज्यपालों की समिति ने भी लगभग यही सिफारिश करते हुये कहा कि "मन्त्रिमण्डल में विश्वास का निर्णय साधारणतया विधान-सभा के मतदान द्वारा होना चाहिए।"[44] जब दल बदल के कारण या मिली जुली सरकार मे कुछ दलो द्वारा समर्थन वापस लिए जाने के कारण मुख्यमन्त्री का विधान-सभा मे बहुमत सन्देहजनक हो जाये और यदि मुख्यमंत्री स्वयं राज्यपाल को सत्र बुलाने का परामर्श दे दे या त्यागपत्र दे दे, जैसा कि उड़ीसा मे उत्कल कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस लिए जाने के पश्चात् विश्वनाथ दास ने किया था,[45] तब कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती। यदि राज्यपाल के कहने पर मुख्यमंत्री विधान-सभा का सत्र बुलाने के लिए तैयार हो जाए तब भी कोई पेचीदगी उत्पन्न नहीं होती जैसा कि 1971 में पंजाब के मुख्यमन्त्री प्रकाश सिंह बादल ने किया था। समस्या उस समय खड़ी होती है जब अनुच्छेद 174 (1) का लाभ उठा कर, जिस में यह व्यवस्था की गई है कि दो सत्रों के बीच छः महीने से अधिक समय नहीं होगा, मुख्यमंत्री विधान-सभा में सन्देहजनक बहुमत होते हुए राज्यपाल द्वारा बार-बार परामर्श दिये जाने पर भी विधान-सभा का सत्र बुलाने से इंकार कर दे जैसा कि पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री अजय मुकर्जी ने 1967 में किया था।[46] उस समय यह प्रश्न पैदा होगा कि क्या राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श के बिना सत्र बुला सकता है या नहीं? इस प्रश्न पर प्रसिद्ध विधिवेत्ताओं, राजनीतिज्ञों, संसद तथा विधान-सभा सदस्यों, गृह मंत्रालय तथा विधि मन्त्रालय और राज्यपालों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। विधि मन्त्रालय का यह विचार है कि मुख्यमन्त्री का बहुमत जानने के लिए मुख्यमन्त्री के परामर्श के बिना राज्यपाल विधान-सभा का सत्र नहीं बुला सकता।[47] नवम्बर 1967, में हुये राज्यपाल-सम्मेलन में भी कई राज्यपालों ने यही विचार प्रकट किया था।[48] जब चन्द्रभानु गुप्त का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा था तो उस समय विपक्ष की सत्र बुलाने की मांग को रद्द करते समय उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने कहा कि "विधान-सभा का सत्र न बुलाने के लिए अनेक दलों के व्यक्ति उन की आलोचना कर रहे हैं लेकिन वे केवल संविधान के अनुसार कार्य कर रहे हैं। गुप्त मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा में बहुमत है या नहीं, इस प्रश्न का निर्णय सदन के मंच पर ही किया जा सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि राज्यपाल जनता के प्रतिनिधियों की शक्तियों को कम नहीं कर सकता।[49]

लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष संजीवा रेड्डी ने इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा कि "संविधान द्वारा सत्र की तिथि निश्चित करने का अधिकार तो मुख्यमन्त्री को दिया गया है। मुख्यमन्त्री का यह पूर्ण अधिकार है। राज्यपाल किसी अन्य तिथि के बारे में सुझाव तो दे सकता है परन्तु इस सम्बन्ध में निर्णय करने का अन्तिम अधिकार तो मुख्यमन्त्री का है।"[50]

राज्यपाल की इस सम्बन्ध में जो शक्तियां हैं, उन के बारे में सारे देश में वादविवाद हुआ है, इस लिये यह आवश्यक है कि इस प्रश्न पर निष्पक्ष तथा विस्तृत रूप में सोचा जाये। इस उद्देश्य के लिए संविधान के अनुच्छेद 174 (1) का, संविधान सभा में दी गई पृष्ठभूमि के साथ सावधानी से अध्ययन करना पड़ेगा। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्यपाल प्रत्येक सदन को समय समय पर किसी ऐसे स्थान पर बुला सकता है जिसे वह उचित समझे लेकिन पिछले सत्र की अन्तिम बैठक और अगले सत्र की प्रथम बैठक के बीच छः महीने से अधिक समय नहीं होगा। यह अनुच्छेद 85 (1) की नकल है जिस में राष्ट्रपति को संसद का सत्र बुलाने का अधिकार दिया गया है। इसलिये इस सम्बन्ध में राज्यपाल के वही अधिकार है जो राष्ट्रपति के हैं।

यदि संविधान सभा में हुए वादविवाद का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो उस से यह प्रतीत होगा कि संसद का सत्र बुलाना राष्ट्रपति का कर्त्तव्य है और इस संदर्भ में प्रधानमन्त्री का अधिकार कम है। संविधान सभा में कुछ सदस्यों ने यह संदेह प्रकट किया था कि यदि प्रधानमन्त्री के कहने पर भी राष्ट्रपति सत्र न बुलाए तो फिर क्या होगा। इसलिए प्रो० के० टी० शाह संविधान में यह व्यवस्था करना चाहते थे कि "यदि किसी समय राष्ट्रपति तीन महीने तक संविधान के अनुसार सत्र न बुलायें तो संसद के दोनों सदनों के अध्यक्ष सत्र बुलायेंगे।"[51] इस संशोधन का विरोध करते हुए बी० आर० अम्बेडकर ने कहा कि "यदि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यों का पालन करने से इन्कार कर दे तो वह संविधान का उल्लंघन होगा और उसके लिए हम उन पर अभियोग चला कर उन्हें पद से हटा सकते हैं।"[52] अम्बेडकर के उत्तर से सिद्ध होता है कि संसद तथा विधानपालिकाओं का सत्र बुलाना राष्ट्रपति तथा राज्यपालों का कर्त्तव्य है। साधारणतया राज्यपाल विधान-सभा का सत्र मुख्यमन्त्री के परामर्श पर बुलाते हैं, क्योंकि उस का विधान-सभा में बहुमत हो। लेकिन जब विधान-सभा में मुख्यमन्त्री का बहुमत सन्देहजनक हो और मुख्यमन्त्री विधान-सभा का सत्र बुलाने के लिए तैयार न हो तो राज्यपाल को मुख्यमन्त्री के परामर्श के बिना भी सत्र बुलाने का अधिकार है। के० सन्थानम,[53] एल० एम० सिंहवी,[54] प्रशासनिक सुधार आयोग[55] तथा सी० के० दफ्तरी[56] का भी यही विचार है।

इसलिये इस विचार को स्वीकार करना कठिन है कि मुख्यमन्त्री के परामर्श के बिना सत्र बुलाया ही नहीं जा सकता। हमारे भूतपूर्व उपराष्ट्रपति जी० एस० पाठक ने, जब वे मैसूर के राज्यपाल थे कहा था कि मुख्यमन्त्री की सिफारिश के बिना भी राज्यपाल सत्र बुला सकता है।[57]

यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है कि पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने मन्त्रि-मण्डल को उस समय बरखास्त कर दिया था जब उसने उनके विधान-सभा के सत्र बुलाने के सुझाव को नहीं माना था। लेकिन यह अधिक बेहतर होता कि वे मन्त्रि-मण्डल को बरखास्त करने के स्थान पर स्वयं विधान-सभा का सत्र बुलाते क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 174 (1) द्वारा स्पष्टतया यह अधिकार राज्यपाल को

दिया गया है और इस तर्क का कोई आधार नहीं कि राज्यपाल को ऐसा केवल मन्त्रि-मण्डल के कहने पर इसलिए करना चाहिये क्योंकि वह सत्र की कार्यसूचि तैयार करता है।[58] विपक्ष द्वारा दिया गया अविश्वास के प्रस्ताव का नोटिस भी तो कार्यवाही का विषय हो सकता है।

राष्ट्रपति तथा राज्यपालों को संविधान द्वारा कुछ शक्तियां दी गई हैं। वे उन शक्तियों को किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकते। डी० डी० बसु ने कहा है कि "अनुच्छेद 53 (1) द्वारा सारी कार्यकारी शक्तियां राष्ट्रपति को दी गई है। फिर भी अनुच्छेद 53 (1) और अनुच्छेद 123, 124, 217, 268, 279, 309, 310, 311 (2) (सी) 338, 340, 344, 356, 360 द्वारा जो शक्तियां दी गई हैं उन में अन्तर है, क्योंकि ये शक्तियां विशेष रूप से राष्ट्रपति को दी गई हैं और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार राष्ट्रपति इन शक्तियों को किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकता। वह स्वयं उन का प्रयोग करेगा।"[59]

चूंकि अनुच्छेद 85 (1) भी उसी श्रेणी का अनुच्छेद है जिस के अधीन राष्ट्रपति संसद का सत्र बुलाता है और अनुच्छेद 174 (1) इस की प्रतिलिपी है। इसलिए हम यह कहते है कि इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल कम से कम कुछ विशेष अवसरों पर तो अवश्य ही स्वतत्र रूप से कर सकता है। इस दृष्टिकोण की पुष्टि इस बात से भी होती है कि यह शक्ति संविधान के उसी अनुच्छेद द्वारा दी गई है जिस द्वारा सत्रावसान तथा विधान-सभा भंग करने की शक्ति दी गई है। विधान-सभा को भंग करने की शक्ति के बारे में विधि मंत्रालय तथा गृह मंत्रालय दोनों ही यह मानते हैं कि यह राज्यपाल की विवेकीय शक्ति है।[60] सत्रावसान के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय किया कि अनुच्छेद 174 (2) जो राज्यपाल को सत्रावसान की शक्ति देता है उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।[61] मैसूर उच्च न्यायालय के अनुसार "विधान-सभा के सत्रावसान की शक्ति पूर्णतः राज्यपाल को दी गई है और राज्यपाल को ही सत्र बुलाने की शक्ति दी गई है।"[62]

इसलिए गृह मन्त्रालय या विधि मन्त्रालय के विचार को मानना बड़ा कठिन है, विशेषकर इसलिए क्योंकि ये दोनों मन्त्रालय इस अनुच्छेद की भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न व्याख्या देते रहे हैं।

उदाहरणतया, जब मध्यप्रदेश में द्वारिका प्रसाद मिश्र की सिफारिश पर सत्रावसान किया गया तो उस समय गृह-मंत्री ने कहा कि "एक पराजित मन्त्री को भी विधान-सभा भंग करवाने का अधिकार है और राज्यपाल उस की सिफारिश मानने के लिए बाध्य है।"[63] पत्रकारों से बात करते समय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भी कहा कि "चाहे मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत हो या न हो, मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर विधान-सभा भंग करना राज्यपाल का संवैधानिक कर्त्तव्य है।"[64] लेकिन जब पंजाब के मुख्यमन्त्री गुरनाम सिंह ने त्यागपत्र दिया और विधान-सभा भंग करने की सिफारिश[65] की तो राज्यपाल ने सिफारिश मानने से इन्कार कर दिया।[66]

यह आश्चर्यजनक घटना है कि इस बार केन्द्रीय सरकार के विधि विशेषज्ञों ने यह सलाह दी कि राज्यपाल विधान सभा भंग करने की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है।[67] इस से कम से कम एक बात तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाती है कि विधि मंत्रालय या गृह मंत्रालय जो सलाह देते हैं वह बहुत निष्पक्ष नहीं होती और कभी भी गृह मंत्रालय यह कह सकता है कि राज्यपाल को स्वयं सत्र बुलाने के अधिकार हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि गृह मंत्रालय, विधि मंत्रालय एवं अनेक राजनैतिक दलों के नेताओं तथा राज्यपालों ने इस सम्बन्ध में विरोधी विचार प्रकट किये हैं और यह स्थिति उस समय तक स्पष्ट नहीं होगी जब तक इस विषय पर सर्वोच्च न्यायालय की सलाह नहीं ले ली जाती। नवम्बर 1967 में पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री ने केन्द्रीय सरकार को यह परामर्श दिया था। इस सम्बन्ध में स्थिति उस समय भी स्पष्ट हो सकती है जब कोई राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करके विधान-सभा का सत्र बुलाये[68] और उसे न्यायालय में चुनौती दी जाये। लेकिन कोई राज्यपाल ऐसा करे तो उस पर संविधान की भावना (Spirit) के उल्लंघन का दोष लगाया जा सकता है। उन लोगों की सन्तुष्टी के लिए सर्वोच्च न्यायालय के निम्नलिखित निर्णय को उद्धृत किया जा सकता है

> संविधान की भावना के आधार पर दिया हुआ तर्क बहुत अच्छा लगता है क्योंकि यह बहुत ही शक्तिशाली ढंग से जज्बात को अपील करता है, लेकिन न्यायालय संविधान की भावना संविधान की भाषा से निकालते हैं, जिसे संविधान की स्पिरिट कहते हैं। यदि संविधान की भाषा उस दृष्टिकोण का समर्थन नहीं करती तो उस पर नहीं चला जा सकता।[69]

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस प्रकार से संविधान की व्याख्या किये जाने के कारण 'पश्चिमी बंगाल इम्यूनिटि कम्पनी लिमिटिड' बनाम बिहार राज्य (1955), में जिस में डा० अम्बेडकर एक पक्ष के वकील थे, उसने सर्वोच्च न्यायालय के सामने कुछ अनुच्छेदों का अर्थ बतलाने का प्रयास किया। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने जहां पर संविधान के अनुच्छेदों की भाषा स्पष्ट है, वहां अन्य स्रोतों से सहायता लेने से इन्कार कर दिया।[70]

सन्दर्भ

1. उत्तर प्रदेश में विधानपालिका का सत्र 15 मई, 1973 को बुलाया गया था और अनुच्छेद 154 के अनुसार अगला सत्र 15 नवम्बर 1973 को होना था, लेकिन कमलापति त्रिपाठी के त्यागपत्र के पश्चात् वहां पर 13 जून 1973, को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया तथा विधान-सभा को निलम्बित कर दिया गया। राष्ट्रपति शासन 7 नवम्बर 1973 तक लागू रहा और 8 नवम्बर 1973 को हेमवतीनन्दन बहुगुणा को मुख्यमन्त्री बनाया गया, लेकिन फिर भी विधानपालिका का सत्र 15 नवम्बर को नहीं बुलाया गया। जब यह प्रश्न लोकसभा में उठाया गया तो विधि मन्त्री गोखले ने कहा कि छः महीने की अवधि में वह समय शामिल नहीं किया

जाता जब विधान-सभा निलम्बित थी।

'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', दिसम्बर 13, 1973, पृष्ठ 4.

2. पंजाब के राज्यपाल श्री डी० सी० पावते ने तत्कालीन मुख्यमन्त्री प्रकाशसिंह बादल के कहने पर 13 जून, 1971 को विधान-सभा को भंग कर दिया था और उसके पश्चात् उसने यह सिफारिश की कि पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाए। उसकी सिफारिश पर 15 जून, 1971 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया था। 'दि ट्रिब्यून', जून 16, 1971.

3. (क) 21 जनवरी, 1972 को विधान-सभा भंग करने के पश्चात् हरियाणा के राज्यपाल बीरेन्द्रनारायण चक्रवर्ती ने कहा कि "वर्तमान मुख्यमन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल पद पर रहेगा। इसे कामचलाऊ सरकार के नाम से सम्बोधित करना ठीक नहीं होगा। संविधान में कामचलाऊ सरकार की कोई व्याख्या नहीं है। साधारणतया हम इस नाम से उस सरकार को सम्बोधित करते हैं जो त्यागपत्र देने के पश्चात अन्य प्रबन्ध किए जाने तक काम चलाती रहे। जहां तक वर्तमान सरकार का सम्बन्ध है किसी भी मन्त्री ने त्यागपत्र नहीं दिया था।"

'दि ट्रिब्यून', जनवरी 1, 1972, पृष्ठ 1.

(ख) तमिलनाडु में भी मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दिये बिना, 4 जनवरी 1971 को विधान-सभा भंग करा दी थी।

'दि स्टेट्समैन', जनवरी 5, 1971, पृष्ठ 1.

(ग) केरल में अच्युत मेनन ने अपना त्यागपत्र दिये बिना 25 जून, 1970 को विधान-सभा भंग करवाई थी। मन्त्रिमंडल 4 अगस्त, 1970 तक पद पर रहा और फिर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

'दि ट्रिब्यून', 26 जून, 1970, पृष्ठ 1.

4. पश्चिमी बंगाल में अजय मुकर्जी ने 25 जून, 1971, को अपना त्यागपत्र दिये बिना विधान-सभा भंग करवाई थी। लेकिन बजट सत्र 26 जून 1971, को आरम्भ होना था, इसलिए बजट पास नहीं हुआ था। अतः उन्हें 27 जून, 1971, को अपने मन्त्रिमण्डल का त्यागपत्र देना पड़ा।

'टाईम्स ऑफ इण्डिया', जून 28, 1971, पृष्ठ 1,

5. 'दि स्टेट्समैन', जनवरी 19, 1972, पृष्ठ 1.
6. 'दि ट्रिब्यून', मार्च 8, 1972, पृष्ठ 3.
7. 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', दिसम्बर 13, 1973 पृष्ठ 4.
8. इस अनुच्छेद में कहा गया है कि "जिस विधानपालिका में विधानपरिषद् है वहां पर यदि दोनों सदनों को भिन्न-भिन्न तिथियों को बुलाया जाये तो छः महीने की अवधि, उस समय से गिनी जायेगी जिस तिथि को उस सदन की बैठक समाप्त हुई हो, जिसकी बैठक बाद में हुई थी।"
9. सैयद अब्दुल, बनाम पश्चिमी बंगाल विधान-सभा, 'ए. आई. आर.', 1956, कलकत्ता, 369.
10. सर्वाकार, बनाम उड़ीसा विधान-सभा, 'ए. आई. आर.', 1952, उड़ीसा, 234.
11. एच. वीरासप्पा, बनाम मैसूर राज्य, 'ए. आई. आर.', 1971, मैसूर, 201.
12. 2 नवम्बर, 1967 को जब संयुक्त मोर्चे के 17 सदस्यों ने पी. सी. घोष के नेतृत्व में, संविद को छोड़ दिया तो उस समय अजय मुकर्जी की सरकार की संख्या विधान-सभा में 136 रह गई थी, जबकि वहां विधान-सभा के सदस्यों की कुल संख्या 280 थी। 'पेट्रिअट', नवम्बर 23, 1967, पृष्ठ 4.

13 विन्देश्वरी प्रसाद ने जो महामाया प्रसाद सिन्हा के मन्त्रिमण्डल में एक वरिष्ठ मन्त्री थे, मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया और एक नए दल की स्थापना की जिसका नाम सोशित दल रखा। उस दल में 20-30 तक सदस्य थे और कांग्रेस के समर्थन के कारण उनके समर्थकों की संख्या 310 सदस्यों वाले सदन में 185 हो गई थी। 'दि स्टेट्समैन', अगस्त 29, 1967, पृष्ठ 1

14 (क) जब देवीलाल ने अपने छः समर्थकों के साथ संयुक्त मोर्चा छोड़ा तो उस समय राव वीरेन्द्र सिंह की सरकार का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा था। 'पेट्रियट', अगस्त 8, 1967, पृष्ठ 1

(ख) जब भगवत दयाल शर्मा ने अपने 13 समर्थकों के साथ कांग्रेस को छोड़ा तो उस समय कांग्रेस दल की संख्या, जिसका नेतृत्व बंसीलाल कर रहे थे, 81 सदस्यों वाले सदन में 35 रह गई थी। 'पेट्रियट', दिसम्बर 10, 1969, पृष्ठ 1

15 जब शिक्षा मन्त्री लच्छमनसिंह गिल ने अपने 16 समर्थकों के साथ अकाली दल छोड़ा तो उस समय 104 सदस्यों वाले सदन में संयुक्त मोर्चे की संख्या 57 से घट कर 41 रह गई थी। 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 23, 1967, पृष्ठ 1,

16 जब गोविन्द नारायण सिंह ने अपने 37 समर्थकों के साथ कांग्रेस को छोड़ा तो द्वारिकाप्रसाद की सरकार का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा। 'दि स्टेट्समैन', जुलाई 21, 1967, पृष्ठ 1

17. जब 1968 में कांग्रेस का विभाजन हुआ तो उस समय काफी बड़ी संख्या में कांग्रेस के कुछ सदस्यों ने चन्द्रभान गुप्त के विरुद्ध बगावत कर दी, जिसके परिणामस्वरूप विधान-सभा में उनके मन्त्रिमण्डल का बहुमत नहीं रहा।

18 पंजाब में अकाली और जनसंघ की मिली-जुली सरकार थी, लेकिन 30 जून 1970, को जनसंघ ने मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस ले लिया जिसके परिणामस्वरूप मन्त्रिमण्डल का विधान सभा में बहुमत नहीं रहा।

19 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', जून 10, 1972, पृष्ठ 1

20 वही, अक्तूबर 3, 1970, पृष्ठ 1

21. जब 2 नवम्बर, 1967 को पी० सी० घोष के नेतृत्व में 17 विधायकों ने संयुक्त मोर्चे को छोड़ा तो राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री से विधान-सभा का सत्र बुलाने के लिए कहा (दि स्टेट्समैन', नवम्बर 7, 1967, पृष्ठ 1)। पहले तो मुख्यमन्त्री सत्र बुलाने के लिए तैयार नहीं थे लेकिन जब राज्यपाल ने उन्हें दोबारा कहा तो वे 18 दिसम्बर 1967, को सत्र बुलाने के लिये तैयार हो गये (दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नवम्बर 11, 1967)। लेकिन राज्यपाल ने यह जिद की कि सत्र 30 नवम्बर 1967, से पहले बुलाया जाना चाहिए (दि टाइम्स आफ इण्डिया नवम्बर 17, 1967, पृष्ठ 1)। जब मुख्यमन्त्री ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया तो राज्यपाल ने अजय मुकर्जी सरकार को बरखास्त करके पी० सी० घोष को 21 नवम्बर 1967, को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया (दि स्टेट्समैन, नवम्बर 22, 1967, पृष्ठ 1)।

22 1970 में पंजाब में अकाली दल और जनसंघ की मिली-जुली सरकार थी। 30 जून 1970 को जनसंघ ने मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस ले लिया और 3 अकाली सदस्य भी गुरनाम सिंह के साथ जा मिले। इस प्रकार 104 सदस्यों वाले सदन में प्रकाश सिंह बादल के समर्थकों की संख्या 54 से घट कर 51 रह गई। उस समय राज्यपाल ने प्रकाशसिंह बादल

अधीन, विधान-सभा को भंग कर दिया (दि टाइम्स ऑफ इण्डिया 14 जून 1971)। उसके पश्चात 15 जून 1971 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। ('दि ट्रिब्यून', जून 16, 1971, पृष्ठ 12)

33 जब 20 कांग्रेसी विधायक, कांग्रेस छोड़ कर प्रगति विधायक दल में शामिल हो गये तो उस समय नन्दिनी सतपथी सरकार का विधान सभा में बहुमत समाप्त हो गया था। उस समय विधान-सभा का सत्र हो रहा था और राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री के परामर्श पर मार्च 1, 1973 को सत्रावसान कर दिया (दि स्टेट्समैन, मार्च 2, 1973)। उसके पश्चात् 3 मार्च 1973 को उसने विधान-सभा भंग करा दी। 'दि ट्रिब्यून', मार्च 4, 1973, पृष्ठ 1

34 उत्तर प्रदेश के राज्यपाल गोपाला रेड्डी ने ऐसा किया था।

35 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', नवम्बर 12, 1967, पृष्ठ 1

36 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 11, 1967, पृष्ठ 8

37 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', नवम्बर 17, 1967, पृष्ठ 1.

38 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वाल्यूम् 10, नम्बर 11-15, दिसम्बर 4 1967 कॉलम 4556

39 वही, वॉल्यूम् 9, नम्बर 6-10, नवम्बर 23, 1967, कॉलम 2330

40 वही, वाल्यूम् 45, नम्बर 1-10, नवम्बर 19, 1970, कॉलम 390

41 'दि ट्रिब्यून' मार्च 13, 1969 पृष्ठ 5

42 यदि विधान सभा के सदस्यों का बहुमत मुख्यमन्त्री को लिख कर यह कह दे कि उनका उसमें विश्वास नहीं रहा तो मुख्यमन्त्री को एक सप्ताह के अन्दर विधान सभा का सत्र बुलाने का निर्णय करना चाहिये और उस सम्बन्ध में राज्यपाल को परामर्श देना चाहिये।
'दि स्टेट्समैन', दिसम्बर 12, 1969, पृष्ठ 9

43 "मुख्यमन्त्री का विधान सभा में बहुमत है या नहीं इस प्रश्न का निर्णय हमेशा विधान-सभा मञ्च पर किया जायेगा।"
लोक-सभा डिबेट्स, चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम 23, नम्बर 21-25, कॉलम 225, दिसम्बर 10, 1968

44 'जरनल आफ सोसाइटी फार स्टडी आफ स्टेट गवर्नमैन्ट्स', वॉल्यूम् 5, जनवरी-मार्च 1972, पृष्ठ 65 66

45 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', जून 10, 1972, पृष्ठ 1

46 'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया', नवम्बर 16, 1967, पृष्ठ 1

47 वही, नवम्बर 12, 1967 पृष्ठ 1

48 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 11, 1967, पृष्ठ 1

49 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', जनवरी 10, 1970, पृष्ठ 5

50 'दि सन्डे स्टैंडर्ड', अप्रैल 7, 1968, पृष्ठ 2

51. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 8, पृष्ठ 99

52 वही, पृष्ठ 106

53. "मैं यह समझता हूँ कि यदि मुख्यमन्त्री अपने संवैधानिक कर्त्तव्यों का पालन करने से इन्कार करे तो राज्यपाल को स्वयं भी सत्र बुलाने का अधिकार है। संक्षेप में राज्यपाल संविधान का रक्षक है न कि दलगत हितों का।"
'दि स्टेट्समैन', 11 नवम्बर 1967, पृष्ठ 8.
54. जब कभी भी मुख्यमन्त्री या मन्त्रिमण्डल के विधान-सभा में बहुमत पर सन्देह हो तो राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करके स्थिति की जानकारी कर सकता है। मुख्यमन्त्री तथा मन्त्रिमण्डल के साथ मतभेद का ध्यान न रखते हुए राज्यपाल को सत्र बुलाने का अधिकार है और वह इस विषय को एक ऐसा विषय समझ सकता है जिसमें उसे अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिये।
'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 11, 1967, पृष्ठ 8.
55. (क) जब राज्यपाल को यह विश्वास हो जाये कि मन्त्रिमण्डल का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा तो उस समय उसे विधान-सभा का सत्र बुलाकर इस पर निर्णय करना चाहिये। यदि मुख्यमन्त्री सत्र बुलाने से इन्कार कर दे तो वह स्वयं भी सत्र बुला सकता है ताकि विधान-सभा में मुख्यमन्त्री के बहुमत की परीक्षा हो जाये।
'लोकसभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 45, नम्बर 1-10, नवम्बर 19,1970, कालम 317-18.
(ख) प्रशासनिक सुधार आयोग ने यह सिफारिश की है कि यदि विधान-सभा के 40% सदस्य राज्यपाल से लिखित रूप में सत्र बुलाने की मांग करें तो उसे यह अधिकार होना चाहिये कि वह मन्त्रिमंडल की सिफारिश के बिना भी सत्र बुला सके।
'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', जून 29, 1968, पृष्ठ 14.
56. 'पेट्रिअट', जुलाई 16, 1968, पृष्ठ 1.
57. 'पेट्रिअट', नवम्बर 11, 1967, पृष्ठ 1.
58. राज्यपाल समिति ने यह कहा था। 'जरनल ऑफ सोसाइटी फॉर दि स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्ट', वॉल्यूम् 5, जनवरी-मार्च 1972, नम्बर 1, पृष्ठ 68-69.
59. डी० डी० बसु, 'कमेन्ट्री ऑन दि कानस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया', पांचवां संस्करण, वॉल्यूम् 2, पृष्ठ 369.
60. 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 23, 1967, पृष्ठ 12.
61. पंजाब राज्य बनाम सत्यपाल, 'ए० आई० आर०', 1969, सर्वोच्च न्यायालय 203.
62. सिद्धारामय्या तथा अन्य बनाम मैसूर राज्य, 'ए० आई० आर०', 1971, मैसूर 1971, 200,
63. 'दि ट्रिब्यून'. नवम्बर 26, 1967, पृष्ठ 8.
64. 'दि पेट्रिअट', नवम्बर 25, 1967, पृष्ठ 2.
65. 'दि ट्रिब्यून', नवम्बर 26, 1967, पृष्ठ 8.
66. वहीं; पृष्ठ 1.
67. 'दि स्टेट्समैन', 23 नवम्बर 1967, पृष्ठ 12.
68. जब चन्द्रभानु गुप्त का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा तो उस समय बी० गोपाला रेड्डी को विधान-सभा का सत्र बुलाने के लिये कहा गया था। उस समय उन्होंने कहा कि 'यदि उसने

मुख्यमन्त्री को विधान-सभा का सत्र बुलाने के लिये विवश किया और यदि अध्यक्ष तथा मन्त्री उसमें उपस्थित न हुए तो क्या होगा ? ('दि स्टेट्समैन', दिसम्बर 2, 1969, पृष्ठ 9)। इसका उत्तर है मन्त्रिमण्डल की बरखास्तगी।

69 केशवन माधवन मेनन बनाम बम्बई राज्य, 'ए० आई० आर०', 1951, सर्वोच्च न्यायालय, 129

70 कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य, ए० आई० आर०', 1952, सर्वोच्च न्यायालय, 309,

8

सत्रावसान का अधिकार

मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर सत्रावसान

विधानपालिका का सत्र बुलाने के अतिरिक्त राज्यपाल के पास उसे सत्रावसान करने का भी अधिकार है।[1] लेकिन इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि क्या वह इस अधिकार का प्रयोग सदा मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर ही करता है या कुछ परिस्थितियों में वह अपने व्यक्तिगत निर्णय द्वारा इस अधिकार का प्रयोग कर सकता है ? इस प्रश्न पर दो प्रकार के मत हैं पहली विचारधारा के लोगों के अनुसार राज्यपाल को इस अधिकार का प्रयोग सदा मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर करना चाहिये, लेकिन दूसरी विचारधारा के अनुसार कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल इस सम्बन्ध में अपने व्यक्तिगत निर्णय का भी प्रयोग कर सकता है। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल के० सी० रेड्डी, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी,[3] यशवन्त राव चह्वाण,[4] गोविन्दा मेनन[5] तथा अशोक सेन[6] के अनुसार राज्यपाल इस अधिकार का प्रयोग केवल मन्त्रिमण्डल की सिफारिश के अनुसार ही कर सकता है। मद्रास उच्च न्यायालय का भी यही दृष्टिकोण है।[7] लेकिन एन० जी० रंगा,[8] एन. सी० चटर्जी,[9] नाथ पाई,[10] आचार्य कृप्लानी,[11] सी० के० दफतरी[12] इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। भारतवर्ष के भूतपूर्व अटार्नी जनरल सी० के० दफतरी के अनुसार, "राज्यपाल के विधान-सभा का सत्र बुलाने और सत्रावसान के अधिकार असीमित हैं।"[13]

चूंकि सार्वजनिक राजनैतिक जीवन तथा संवैधानिक विधि के क्षेत्र में प्रसिद्ध व्यक्तियों ने इस प्रश्न पर परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये हैं इस लिए यह आवश्यक है कि इस प्रश्न पर ठंडे दिमाग तथा सावधानी से विचार किया जाये। जब मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत है तो उस समय साधारणतया इस अधिकार का प्रयोग मुख्यमन्त्री की ही सिफारिश पर किया जाता है। लेकिन मुख्यमन्त्री स्वयं अपने या अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर बहस को रोकने के लिए यदि राज्यपाल को सत्रावसान की सिफारिश करे तो उस समय राज्यपाल के सामने यह समस्या उत्पन्न होगी कि क्या वह उस सिफारिश को माने या न माने। उदाहरणतया, 1967 में मध्यप्रदेश में जब गोविन्द नारायण सिंह तथा उन के 37 समर्थकों ने कांग्रेस छोड़ी तो

उस समय बजट सत्र चल रहा था और उनके ऐसा करने के परिणामस्वरूप द्वारिका प्रसाद मिश्र की सरकार का विधान सभा में बहुमत समाप्त हो गया था। उस समय राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री द्वारिका प्रसाद मिश्र के कहने पर विधान-सभा का सत्रावसान कर दिया था।[14]

इसी प्रकार उत्तर प्रदेश में जब अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर बहस होने वाली थी तब भी मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर राज्यपाल ने सत्रावसान कर दिया।[15] इसी प्रकार की घटना पंजाब में हुई थी। अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर 5 अप्रैल 1968 को बहस होनी थी लेकिन मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर 2 अप्रैल 1968 को सत्रावसान कर दिया गया।[16] फरवरी 1970 में हरियाणा में भी यही किया गया था। मन्त्रिमंडल के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर बहस होने से पहले ही विधान-सभा का सत्रावसान कर दिया गया।[17] इसके अतिरिक्त जम्मू व काश्मीर में जब 62 विधायकों में से 35 विधायकों ने सादिक मन्त्रिमंडल से बजट सत्र के दिनों में, समर्थन वापस ले लिया तो उस समय 3 मार्च 1970 को विधान-सभा का सत्रावसान कर दिया गया ताकि सादिक मन्त्रिमंडल को अपदस्थ होने से बचाया जा सके।[18]

जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो, उस समय कहां तक राज्यपाल के लिये संवैधानिक दृष्टि से मुख्यमन्त्री की सत्रावसान की सिफारिश का मानना उचित होगा? मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल के० सी० रेड्डी ने अपने पक्ष में तर्क पेश करते हुए कहा कि "उसे यह विश्वास है कि संविधान के अनुसार उस मुख्यमन्त्री की सलाह माननी चाहिए। इंग्लैंड तथा कई और प्रजातन्त्रों में ऐसी प्रथा है।"[19] यशवन्त राव चह्वाण ने इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा कि "जब 36 विधायकों ने कांग्रेस पार्टी छोड़ी तो उस के पश्चात् यह सूचना मिली कि कई सदस्यों को डराया तथा धमकाया गया है। दल छोड़ने वाले दो विधायकों ने कहा कि उन्हें मजबूर करके उन के हस्ताक्षर करवाये गए हैं। आपसी तनाव तथा असाधारण स्थिति होने के कारण मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल से सत्रावसान की सिफारिश की। मुख्यमन्त्री के पत्र पर पूरा सोच विचार करने और परिस्थितियों का ध्यान में रखते हुए उचित संसदीय प्रक्रिया के अनुसार संसदीय प्रजातन्त्र के हित के लिए विधान-सभा के सत्र का कुछ समय के लिए राज्यपाल ने सत्रावसान किया है।"[20] उस ने आगे चल कर यह भी कहा कि "संवैधानिक मामले पर हमें दलगत हितों से ऊपर उठकर कार्य करना चाहिये। संविधान की व्याख्या, जब कांग्रेस दल की सरकार हो तो एक ढंग से और जब विपक्ष की सरकार हो तो दूसरे ढंग से नहीं की जा सकती। चाहे कांग्रेस की सरकार हो या विपक्ष की दोनों परिस्थितियों में एक ही सिद्धान्त लागू करना पड़ेगा—तीन अनुच्छेदों को छोड़ कर राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख हैं। मैंने महाराष्ट्र के प्रसिद्ध एडवोकेट जनरल सीरवाई की पुस्तक के अन्तिम संस्करण का हवाला दिया है। उसमें कहा गया है कि केवल इन अनुच्छेदों के अधीन राज्यपाल राष्ट्रपति के एजेंट के रूप में कार्य करता है। वे अनुच्छेद हैं 200, 239 (2) तथा 356। इन अनुच्छेदों को छोड़ कर राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख के रूप में काम करता है। हमें इस स्थिति को मानना

पड़ेगा, और जब हम एक बार इस संवैधानिक स्थिति को मान लें तो फिर प्रश्न यह उठेगा कि क्या मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल को जो परामर्श दिया वह देना चाहिये था या वह कोई और भी परामर्श दे सकता था ? इस प्रश्न पर हमें सिद्धांत के रूप में बहस करनी चाहिए—मैं उस से सहमत होता हूं या नहीं यह एक दूसरी बात है। जब मुख्यमन्त्री ने एक बार सिफारिश कर दी चाहे मुख्यमन्त्री मिश्रा हों या अजय बाबू —तो उसके पश्चात् राज्यपाल के लिए उसे मानना अनिवार्य था।"[21] उस के लिए उसे मानना उचित था क्योंकि "उसके पास दूसरा और विकल्पक नहीं था"।[22] भारत सरकार के भूतपूर्व विधि मन्त्री पी० गोविन्दा मेनन ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा कि "संविधान के अनुसार कुछ विषय ऐसे हैं जिन के बारे में राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है लेकिन यह विषय (सत्रावसान) ऐसा है जिस पर राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह से कार्य करता है और राज्यपाल ने गृहमन्त्री को कहा भी यही है।"[23] उसने यह भी कहा कि 'द्वारिका प्रसाद मिश्र उस समय तक मुख्यमन्त्री है जब तक यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उन का विधान-सभा मे बहुमत नहीं है। इसलिए राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री की सिफारिश को ठीक ही माना है।"[24]

अशोक सेन ने के० सी० रेड्डी के समर्थन मे बोलते हुए कहा कि "यदि राज्यों की स्वायत्तता को बनाये रखना है और राज्यपाल ने एक संवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करना है तो उस के लिए यह आवश्यक है कि राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह पर, जब तक उसे अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा नहीं हटा दिया जाता कार्य करे। जब राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री की सलाह पर कार्य करना है तो फिर हम यह कहने वाले कौन होते हैं कि उसे ऐसा नहीं करना चाहिये.. ......यदि बजट पास करना है, यदि विधान-सभा ने कार्य करना है तो बजट सत्र के बीच में इस प्रकार का दल बदल ठीक नहीं है। और यदि मुख्यमन्त्री यह महसूस करे कि बजट को पास करने के लिए और सत्र की कार्यवाही ठीक चलाने के लिए उसे कुछ दिन चाहियें..........तो वह यह कर सकता है।"[25] उत्तर प्रदेश के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने भी जो कुछ उसने किया था उस का समर्थन करते हुए राष्ट्रपति को लिखा था कि "विधान-सभा का सत्र बुलाने तथा उस का सत्रावसान करने के विषय पर राज्यपाल सरकार की सलाह से कार्य करता है और उसने भी यही किया है।"[26]

लेकिन इस सिद्धान्त को पूर्णतया नहीं माना जा सकता कि सत्रावसान के विषय पर राज्यपाल को सदा मन्त्रिमण्डल की सलाह से कार्य करना चाहिए। विधान-सभा का सत्र बुलाने के सम्बन्ध में राज्यपालों की समिति ने एक तर्क यह दिया था कि "राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल के परामर्श को इसलिए मानना पड़ता है क्योंकि वह सत्र की कार्यवाही का मसौदा तैयार करता है।"[27] लेकिन जब सत्र हो रहा हो उस समय सत्रावसान के लिए तो यह तर्क नहीं दिया जा सकता। स्वयं राज्यपालों की समिति ने यह सिफारिश की है कि "साधारणतया तो सत्रावसान मन्त्रिमण्डल के परामर्श पर ही किया जाना चाहिए (पृष्ठ 53)। लेकिन यदि मुख्यमन्त्री उस समय सत्रावसान की सलाह

दे जब मन्त्रिमंडल के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर बहस होने वाली हो तो राज्यपाल को पहले तो यह मालूम करना चाहिये कि क्या अविश्वास का प्रस्ताव असार तो नहीं है, और यदि उसे यह विश्वास हो जाये कि वह असार नहीं है और विपक्ष सरकार को एक चुनौती दे रहा है तो उस समय राज्यपाल को सरकार से शक्ति-परीक्षण करने के लिए कहना चाहिए।[29] इस से यह सिद्ध होता है कि सत्रावसान के सम्बन्ध मे राज्यपाल विशेष परिस्थितियो मे अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। मैसूर उच्च न्यायालय का भी यही दृष्टिकोण है।[9] सर्वोच्च न्यायालय का भी यही मत है। पंजाब राज्य बनाम सत्यपाल मे उस ने निर्णय देते हुए कहा कि "अनुच्छेद 174 (2), (3) द्वारा राज्यपाल को सत्रावसान करने की शक्तियाँ दी गई हैं और उन शक्तियों को किसी भी प्रकार से सीमित नही किया गया है।"[30]

इसलिये सदन के मंच पर मन्त्रिमंडल को पराजय से बचाने के लिये सत्रावसान करना अनुचित होगा,[31] क्योंकि राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह यह देखे कि मन्त्रिमंडल का विधान सभा मे बहुमत है या नहीं। पश्चिमी बंगाल मे राज्यपाल ने जब अजय मुकर्जी को बरखास्त किया उस समय लोकसभा मे बोलते हुए *यशवन्त राव* चह्वाण ने कहा था कि राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकार को विधानपालिका के सामने जाने को कहे। वहां पर स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गई थी जिसमे राज्यपाल के *लिये विवेक का प्रयोग करना आवश्यक हो गया था क्योंकि* कुछ *विधायकों* ने राज्यपाल को यह सूचना दी थी और लिख कर भी दिया था कि वे सरकार का समर्थन नही करते। इसलिए राज्यपाल को यह मालूम था कि मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत नही है।[32]

लेकिन यह आश्चर्यजनक बात है कि मध्यप्रदेश तथा जम्मू और कश्मीर के राज्यपालो ने विधानपालिका और कार्यपालिका को आमने-सामने लाने के स्थान पर इसका बिल्कुल उल्ट किया अर्थात् उन्होने जब बजट सत्र चल रहा था तो उसका सत्रावसान करके मन्त्रिमण्डलों को बचाया। उनका यह कार्य अनुचित था। क्योंकि इन राज्यपालों को यह अच्छी प्रकार से मालूम था कि उनके मुख्यमन्त्रियों का विधान-सभा मे बहुमत नही रहा। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार यदि राज्यपाल उस समय सत्रावसान करे जब सत्र चल रहा हो तो संवैधानिक अधिकारों के दुरुपयोग के लिये उसके निर्णय को चुनौती दी जा सकती है।[33] पश्चिमीबंगाल के राज्यपाल के कार्य की, गृह-मंत्री ने इसलिये सराहना की थी क्योंकि वह विधानपालिका तथा कार्यपालिका को आमने-सामने लाना चाहता था लेकिन उस सिद्धांत को मानते हुए उसे मध्यप्रदेश तथा जम्मू और काश्मीर के राज्यपालों की आलोचना करनी चाहिये थी क्योंकि उन्होंने इसका बिल्कुल उल्ट किया था।

यदि हम यह भी मान लें कि सत्रावसान के सम्बन्ध मे राज्यपाल को मुख्यमन्त्री की सलाह पर कार्य करना चाहिये तब भी जो कुछ मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा हरियाणा के राज्यपालों ने किया वह उचित नही था क्योंकि राज्यपालों

की समिति के अनुसार जिन विषयों पर राज्यपाल को मन्त्रिमंडल के परामर्श पर कार्य करना चाहिये, वहां पर भी राज्यपाल के लिये मन्त्रिमडल के परामर्श को तुरन्त मानना आवश्यक नहीं है। हालांकि "वह परामर्श मानने के लिये बाध्य है लेकिन फिर भी सलाह देने के पश्चात् उसे स्वीकार करने से पहले, राज्यपाल को सुझाव देने का अधिकार है।"[31] इससे यह सिद्ध होता है कि मध्यप्रदेश तथा जम्मू और कश्मीर में बजट सत्र के समय राज्यपालों ने मुख्यमंत्रियों की सिफारिश पर जो सत्रावसान किया वह अनुचित था। इसी प्रकार से उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में अध्यक्षों के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पर बहस होने से पहले सत्रावसान उचित नहीं था। यदि हम इस सिद्धान्त को मान लें कि मुख्यमंत्री की सिफारिश पर राज्यपाल को सत्रावसान करना ही पड़ेगा तो मुख्यमन्त्री द्वारा इस अधिकार के दुरुपयोग की संभावना को रद्द नहीं किया जा सकता। हरियाणा के राज्यपाल ने राष्ट्रपति को जो पत्र लिखा था वह इस संभावना का समर्थन करता है। इस पत्र में राज्यपाल ने लिखा था कि "इससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह होगी कि जब विधान-सभा में हुए शक्ति-परीक्षण में कोई भी पार्टी अपना बहुमत सिद्ध कर देगी तो उसके तुरन्त पश्चात् वह विधान-सभा के सत्रावसान की सिफारिश करके उसका सत्रावसान करना चाहेगी। यह फिर बिना विधान-सभा का सत्र बुलाये, छः महीने तक पद पर रहना चाहेगी।"[35]

मगर इस सम्बन्ध में यहां एक और प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल सत्र के बीच में इस अधिकार का प्रयोग उस मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर, जिसका विधान-सभा में बहुमत नहीं है, कभी भी नहीं कर सकता या कुछ विशेष परिस्थितियों में वह ऐसा कर सकता है ? जब मुख्यमन्त्री जिसका विधान-सभा में बहुमत न रहा हो, अपनी स्थिति दृढ़ बनाने के लिये सत्रावसान की सिफारिश करे तो उस समय राज्यपाल को उसकी सिफारिश को नहीं मानना चाहिये। लेकिन यदि सत्र के बीच में मुख्यमन्त्री त्यागपत्र दे दे और कामचलाऊ मुख्यमन्त्री के रूप में यदि सत्रावसान की सिफारिश करे तो उस समय राज्यपाल के पास उस सलाह को मानने के अतिरिक्त और कोई भी विकल्प नहीं होगा। 2 मार्च, 1969 को ऐसी परिस्थिति मध्यप्रदेश में उत्पन्न हुई। जब मुख्यमन्त्री को यह मालूम हो गया कि 30 विधायकों द्वारा संयुक्त मोर्चे की सरकार से समर्थन वापस लिये जाने के पश्चात् उसका विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा और उसका बजट अवश्य ही रद्द हो जायेगा, तो उस समय उसने अपना त्यागपत्र देकर विधान सभा का सत्रावसान करने की सिफारिश की।[36] उस परिस्थिति में राज्यपाल के पास मुख्यमन्त्री की सिफारिश को मानने के अतिरिक्त और कोई भी रास्ता नहीं था, क्योंकि यदि राज्यपाल उसकी सिफारिश को नहीं मानता तो वह कामचलाऊ मुख्यमन्त्री के पद पर कार्य करने से इन्कार कर सकता था।

जब राज्यपाल ने कामचलाऊ मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर विधान-सभा का सत्रावसान किया तो यह मामला लोकसभा में उठाया गया और कुछ सदस्यों ने राज्यपाल द्वारा ऐसा करने पर आलोचना भी की।[37] लेकिन राज्यपाल का समर्थन

करते हुए विद्याचरण शुक्ल ने कहा कि "संविधान मुख्यमन्त्री तथा कामचलाऊ मुख्यमन्त्री में कोई भेदभाव *नहीं करता। दो वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश में भी ऐसी परिस्थिति* उत्पन्न हुई थी और यदि मुख्यमन्त्री सत्रावसान की सलाह दे तो राज्यपाल को उसे मानना पड़ेगा।"[38] लेकिन यहां पर विपक्ष तथा सरकार दोनों ही गलती पर हैं। विपक्ष तो इसलिये क्योंकि इस बार राज्यपाल के पास सलाह मानने के अतिरिक्त और कोई भी रास्ता नहीं था, और सरकार इसलिये गलती पर थी कि मुख्यमन्त्री और कामचलाऊ मुख्यमन्त्री में भेद होता है क्योंकि बजट सत्र के बीच में यदि मुख्यमन्त्री पराजय से बचने के लिये सत्रावसान की सिफारिश करे तो राज्यपाल को उसकी सलाह नहीं माननी चाहिये। लेकिन यदि वही मुख्यमन्त्री त्यागपत्र देने के पश्चात् कामचलाऊ मुख्यमन्त्री के रूप में सत्रावसान की सिफारिश करे तो उसे मानना उचित होगा। इसलिये मुख्यमन्त्री और कामचलाऊ मुख्यमन्त्री में काफी अन्तर है।

अध्यादेश जारी करने के लिये सत्रावसान

यदि मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत हो और वह सत्र के बीच में अध्यादेश जारी करने के लिये सत्रावसान की सिफारिश करे तो क्या राज्यपाल को उस सिफारिश को मानना चाहिये या नहीं? इसका उत्तर यह है कि यदि राज्यपाल उस सिफारिश को मान लेता है तो वह अनुचित नहीं है। उदाहरणतया, पंजाब में 1969 में बजट सत्र के समय अध्यक्ष ने विधान-सभा को दो महीने तक स्थगित कर दिया। बजट 31 मार्च से पहले-पहले पास किया जाना था क्योंकि अनुच्छेद 266 (3) के *अनुसार उस तिथि के पश्चात् कोई भी पैसा संचित निधि से नहीं निकाला जा सकता* था। तब राज्यपाल को विधान-सभा में जान डालने के लिये मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर विधान-सभा का सत्रावसान करना पड़ा ताकि सत्र दोबारा बुलाया जा सके। सर्वोच्च न्यायालय ने राज्यपाल की सत्रावसान की इस कार्यवाही को उचित ठहराया।[39] मद्रास उच्च न्यायालय पहले ही यह निर्णय दे चुका था कि अध्यादेश जारी करने के लिये राज्यपाल सत्रावसान कर सकता है।[40] इलाहाबाद उच्च न्यायालय का भी यही मत है।[41]

सत्रावसान तथा अध्यक्ष से परामर्श

सत्रावसान के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी पूछा जा सकता है कि क्या अध्यक्ष से विचार-विमर्श किये बिना, राज्यपाल के लिये सत्रावसान करना उचित होगा? स्वतन्त्रता से पहले जब विट्ठल भाई पटेल अध्यक्ष थे तो उन्होंने "यह जिद की थी कि सत्रावसान करने से पहले सरकार को उसकी सलाह लेनी चाहिये और सरकार ने उनकी इस बात को स्वीकार भी कर लिया था और वह सत्रावसान करने से पहले उनसे सलाह भी लेती थी।"[42] लेकिन स्वतन्त्रता के पश्चात् इस प्रथा का पालन नहीं

किया गया। उदाहरणतया, जब 1967 में मध्यप्रदेश में विधान-सभा का मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर सत्रावसान किया गया तो उस समय अध्यक्ष से विचार-विमर्श तो दूर, उसे सूचना तक भी नहीं दी गई थी।[43] इसी प्रकार 1969 में भी मध्यप्रदेश के राज्यपाल ने अध्यक्ष को पहले सूचित किये बिना विधान-सभा का सत्रावसान किया था।[44] हालांकि पंजाब में भी राज्यपाल ने अध्यक्ष को पहले सूचित किये बिना सत्रावसान किया था, लेकिन राज्यपाल की इस सम्बन्ध में इसलिये आलोचना नहीं की जा सकती क्योंकि अध्यक्ष ने विधान-सभा का बजट पास करने के समय उसे दो महीने तक स्थगित करके स्वयं ही बड़ा अनुचित कार्य किया था।[45]

सत्रावसान के आरंभ होने का समय

सत्रावसान के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी पूछा जा सकता है कि क्या सत्रावसान उसी समय आरम्भ हो जाता है जब राज्यपाल विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर करता है ? यह प्रश्न गुरनाम सिंह ने पंजाब विधान-सभा में उठाया था। उन्होंने कहा था कि "सत्रावसान उस समय आरम्भ होता है जब सदस्यों को विज्ञप्ति की लिखित रूप से सूचना मिलती है। गुरनाम सिंह ने यह भी कहा था कि सत्रावसान की विज्ञप्ति की सूचना नियमों के अनुसार विधान-सभा सचिव के अतिरिक्त और कोई नहीं भेज सकता।"[46] अध्यक्ष महोदय ने इस तर्क को मान लिया[47] लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने इस तर्क को रद्द करते हुए कहा कि "अनुच्छेद 174 (2) में जिसके अधीन राज्यपाल विधान-सभा का सत्रावसान करता है, यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि राज्यपाल अपने आदेशों की जानकारी कैसे देगा। वह सरकारी गजट में विज्ञप्ति जारी करके अपने आदेश जनता तक पहुंचा सकता है। जब सत्रावसान की 11 मार्च को विज्ञप्ति जारी की गई थी तो उसका अर्थ यह है कि सत्रावसान 11 मार्च को ही हुआ था। इसके लागू होने से पहले यह आवश्यक नहीं कि इसकी सूचना प्रत्येक सदस्य के पास पहुंचे। संविधान के अनुच्छेद 208 के अधीन जो नियम 7 बनाया गया है वह विधान-पालिका की प्रक्रिया को नियमित करता है। इसका उद्देश्य अनुच्छेद 174 (2) के पश्चात् कोई नई धारा के रूप में राज्यपाल पर यह बन्धन लगाना नहीं है कि राज्यपाल उस समय तक प्रतीक्षा करे जब तक सचिव उस विज्ञप्ति की सूचना सदस्यों को नहीं दे देता। सदस्यों को विज्ञप्ति की सूचना देने का कार्य, सचिवालय का है।"[48]

इसलिये इस निर्णय के अनुसार सत्रावसान तभी आरंभ हो जाता है जब राज्यपाल के हस्ताक्षर होने के पश्चात् यह विज्ञप्ति सरकारी गजट में प्रकाशित हो जाती है।

अनिश्चित काल के लिये स्थगन तथा सत्रावसान

साधारणतया राज्यपाल विधान-सभा का सत्रावसान उस समय करता है जब अध्यक्ष उसे अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दे। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इसका उस समय तक सत्रावसान नहीं किया जा सकता जब उसे अनिश्चित काल

के लिये स्थगित करने के स्थान पर केवल स्थगित किया गया हो। ऐसी परिस्थिति पंजाब में उस समय उत्पन्न हुई जब वहां के अध्यक्ष जोगेन्द्र सिंह मान ने 7 मार्च 1968 को बजट सत्र के दौरान विधान-सभा को दो महीने के लिये स्थगित कर दिया।[49] मार्च के महीने में विधान-सभा का स्थगित करने का अर्थ यह था कि बजट पास न हो। उस समय राज्यपाल के सामने समस्या यह थी कि वह क्या करे। इस समस्या का समाधान निकालने के लिये राज्यपाल ने अनुच्छेद 174 (2) के अधीन विधान सभा का सत्रावसान कर दिया[50], और फिर दोबारा इसका सत्र बुलाया। इस प्रकार किये गये सत्रावसान को चुनौती दी गई लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने इसे उचित ठहराया।[51] इसका अर्थ यह है कि राज्यपाल न केवल उस समय ही सत्रावसान कर सकता है जब विधान-सभा अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दी गई हो बल्कि उस समय भी जब उसे केवल स्थगित किया गया हो। नवम्बर 1972 में ऐसा ही मद्रास में भी हुआ था। वहां पर के० ए० मैथियालागन ने जो अध्यक्ष थे, अपने विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर बहस होने से रोकने के लिये 13 नवम्बर को अचानक विधान सभा को स्थगित कर दिया था।[52]

संदर्भ

1 अनुच्छेद 174 (2) (ब)

2 'दि स्टेट्समैन', जुलाई 23, 1967, पृष्ठ 2

3 'पेट्रियट', सितम्बर 13, 1969, पृष्ठ 4

4 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम 7, नम्बर 41-45, जुलाई 20, 1967, कॉलम 13496

5 वही, कॉलम 13435

6 वही, कॉलम 13470-71

7 इसके निर्णय के अनुसार "सत्रावसान के विषय पर राज्यपाल, मन्त्रिमंडल की सिफारिश को मानने के लिये बाध्य है।" मैथियालागन बनाम तमिलनाडु राज्यपाल, मद्रास ला जरनल फरवरी 8, 1973, वॉल्यूम 144-45 तथा 6, पृष्ठ 131

8 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम 7, नम्बर 41 45, जुलाई 20, 1967, कॉलम 13470

9 वही, कॉलम 13437

10 'दि स्टेट्समैन', जुलाई 23, 1967, पृष्ठ 1

11 वही।

12 वही।

13 पैट्रियट, जुलाई 16, 1968, पृष्ठ 1

9

विधान-सभा भंग करने का अधिकार

विधानपालिका का सत्र बुलाने तथा सत्रावसान करने के अतिरिक्त राज्यपाल को अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन विधान-सभा को भंग करने का भी अधिकार है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या वह इस सम्बन्ध में दी गई मन्त्रि-मंडल की सलाह को मानने के लिए बाध्य है? यह विवाद जुलाई 1967 में मध्यप्रदेश में उस समय उत्पन्न हुआ जब गोविन्द नारायण सिंह के नेतृत्व में 37 कांग्रेसी विधायकों ने कांग्रेस छोड़ी, जिसके परिणामस्वरूप द्वारिका प्रसाद मिश्र का विधान-सभा में बहुमत समाप्त हो गया।[1] उस समय सत्रावसान करने के पश्चात् मुख्यमन्त्री ने घोषणा की कि वे राज्यपाल को विधान-सभा भंग करने की सिफारिश करेंगे। उस समय गृह-मन्त्री चह्वाण ने कहा कि "पराजित मुख्यमन्त्री को विधान-सभा भंग करने की सिफारिश करने का संवैधानिक अधिकार है और राज्यपाल उस सिफारिश को मानने से इन्कार नहीं कर सकते।"[2] यहां तक कि प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी ने भी यह कहा कि "विधान-सभा को भंग करने की मुख्यमन्त्री की सलाह को, राज्यपाल को अवश्य ही मानना पड़ेगा, चाहे सिफारिश करते समय मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत हो या न हो।"[3]

इसी प्रकार जब कांग्रेस के 15 विधायकों ने हरियाणा में कांग्रेस को छोड़ा तो उस समय बंसीलाल का विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा था। उस समय चह्वाण ने फिर यह कहा कि यदि मुख्यमन्त्री विधान-सभा भंग करने की सिफारिश करेंगे तो राज्यपाल को उसे मानना ही पड़ेगा। यह संवैधानिक स्थिति है और उनका भी यही दृष्टिकोण है। वे, उत्तेजित विरोधी दलों के सदस्यों को उत्तर दे रहे थे जिन्होंने गृह मन्त्रालय के अधिकारी के उस बयान पर आपत्ति उठाई थी जिसमें यह कहा गया था कि यदि मुख्य-मन्त्री विधान-सभा भंग करने की सिफारिश करेंगे तो राज्यपाल को उस सिफारिश को मानना पड़ेगा।[4] गृह मन्त्रालय का यह विचार आकाशवाणी से भी प्रसारित किया गया था।[5] लेकिन कुछ संविधान विशेषज्ञ इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और उनका विचार है कि गृह मन्त्रालय ने यह विचार इसलिए आकाशवाणी से प्रसारित करवाया ताकि कांग्रेस छोड़ने वाले विधायक विधान-सभा भंग किये जाने के डर से वापस कांग्रेस में आ जायें और इसके अतिरिक्त अन्य कांग्रेसी विधायक पार्टी को न छोड़ें और हुआ भी ऐसा ही।

गृह-मन्त्री तथा प्रधानमन्त्री का विचार चाहे कुछ भी हो इसमें कोई भी सन्देह

नहीं कि विधान-सभा भंग करने के सम्बन्ध में राज्यपाल की विवेकीय शक्तियाँ हैं।[6] राज्यपालों की जो समिति राष्ट्रपति ने नियुक्त की थी उसकी भी यही सिफारिश थी।[7] मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल के० सी० रेड्डी ने भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा कि 'साधारणतया तो राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख होने के कारण मन्त्रिमंडल की सलाह से कार्य करता है। लेकिन कुछ अवसरों पर वह अपने विवेक का भी प्रयोग करता है। विधान सभा भंग करने तथा राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करते समय वह अपने विवेक का प्रयोग करता है।"

ऐसे अवसरों पर वह मन्त्रिमंडल के परामर्श पर कार्य नहीं कर सकता।[8] इस दृष्टिकोण का समर्थन अनुच्छेद 174 की भाषा के शब्दों से भी होता है। अनुच्छेद 174 की धारा (1) में तो May शब्द का प्रयोग किया गया है लेकिन उसी अनुच्छेद की धारा (2) में Shall शब्द का प्रयोग किया गया है। एक ही अनुच्छेद में इस तरह दो प्रकार के शब्दों का प्रयोग बहुत ही महत्वपूर्ण है।

यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि अनुच्छेद 174 (2) (बी), अनुच्छेद 85 (2) (बी) की हूबहू नकल है, जिसमें राष्ट्रपति को लोकसभा भंग करने का अधिकार दिया गया है। इस अनुच्छेद 85 (2) (बी) पर बोलते हुए बी० आर० अम्बेडकर ने कहा था कि "लोकसभा भंग करने से पहले राष्ट्रपति यह देखेगा कि लोकसभा क्या चाहती है। यदि लोकसभा किसी अन्य नेता के नेतृत्व में काम करना चाहती है तो राष्ट्रपति उसे भंग नहीं करेगा।"[9] इसका अर्थ यह है कि अम्बेडकर के अनुसार राष्ट्रपति लोकसभा को भंग करने के लिये प्रधानमन्त्री की सिफारिश को मानने के लिए बाध्य नहीं है और यही स्थिति राज्यपाल की भी है।

विधान-सभा में मुख्यमन्त्री का बहुमत तथा विधान-सभा को भंग कराना

हालांकि विधान-सभा भंग करने के सम्बन्ध में राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करता है, फिर भी जब विधान-सभा में मुख्यमन्त्री का बहुमत हो और यदि वह विधान-सभा भंग करने की सिफारिश करे तो उस समय राज्यपाल को साधारणतया उस सिफारिश को मानना ही पड़ेगा। लेकिन एक परिस्थिति ऐसी भी है जब कि वह ऐसा होते हुए भी मुख्यमन्त्री द्वारा विधान-सभा भंग करने की सिफारिश को नहीं मान सकता, और वह स्थिति उस समय उत्पन्न होगी जब बजट पास के कुछ दिन पहले मुख्यमन्त्री अपना त्यागपत्र दिये बिना विधान-सभा भंग करने की सिफारिश करे। वह उस सिफारिश को इसलिये नहीं मान सकता क्योंकि ऐसा करने का अभिप्राय यह होगा कि मन्त्रिमण्डल बजट पास किये बिना कामचलाऊ मन्त्रिमंडल के रूप में चुनाव होने तक पद पर बना रहेगा। गृह मन्त्रालय के अनुसार बजट अध्यादेश द्वारा पास नहीं किया जा सकता, और जब तक मन्त्रिमंडल पद पर है संसद भी उस राज्य के लिए बजट पास नहीं कर सकती। संसद केवल उस समय राज्य का बजट पास कर सकती है जब वहां पर राष्ट्रपति शासन लागू हो जाये। इसलिए यदि बजट पास होने से पहले, वह मुख्यमन्त्री भी विधान-सभा भंग करने की सिफारिश करे जिसका विधान-सभा में स्पष्ट बहुमत है, तब भी

राज्यपाल उस सिफारिश को नहीं मान सकता। ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल के पास राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करने के अतिरिक्त और कोई भी रास्ता नहीं होता। लेकिन यदि बजट पास होने के पश्चात् मुख्यमन्त्री जिसका विधान-सभा में बहुमत है, विधान-सभा को भंग करने की सिफारिश करे तो साधारणतया राज्यपाल को उस सिफारिश को स्वीकार करना पड़ता है।[10] राज्यपालों की समिति भी इस दृष्टिकोण से सहमत है,[11] और यही कारण था कि गुजरात में 163 सदस्यों वाले सदन में हितेन्द्र देसाई के साथ 87 सदस्य होते हुए भी उनकी विधान-सभा भंग करने की सिफारिश को इसलिए अस्वीकार कर दिया गया था क्योंकि बजट पास नहीं हुआ था।[12] लेकिन यह आश्चर्यजनक बात है कि 1971 में पश्चिमी बंगाल,[13] पंजाब[14] तथा बिहार[15] में बजट पास हुए बिना विधान-सभा को मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर राज्यपाल ने अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन भंग कर दिया था जो संवैधानिक दृष्टि से अनुचित था।

मुख्यमंत्री का सन्देहजनक बहुमत होने पर विधान-सभा को भंग करना

जब मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुत ही थोड़ा बहुमत हो या उसका बहुमत सन्देहजनक हो तब राज्यपाल उसकी सिफारिश पर विधान-सभा को भंग कर भी सकता है और वह ऐसा करने से इन्कार भी कर सकता है। उदाहरणतया, नवम्बर, 1967 में हरियाणा में राव बीरेन्द्र सिंह का जब विधान-सभा में बहुमत डगमगा रहा था तब उस समय उन्होंने विधान-सभा को भंग करने की सिफारिश की थी। लेकिन राज्यपाल ने उस सिफारिश को मानने से इन्कार कर दिया और अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन विधान-सभा भंग करने के स्थान पर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की थी।[16] इसी प्रकार गुजरात में जब हितेन्द्र देसाई ने 1 मई, 1971 को विधान-सभा भंग करने की सिफारिश की उस समय उसने यह दावा किया था कि 163 सदस्यों वाले सदन में उसे 89 विधायकों का समर्थन प्राप्त है, लेकिन राज्यपाल ने उस सिफारिश को स्वीकार करने से इसलिए इन्कार कर दिया था क्योंकि उस समय विधायक उसके दल को छोड़ रहे थे, और अभी बजट भी पास नहीं हुआ था।[17] लेकिन इसके विरुद्ध पंजाब[18] तथा पश्चिमी बंगाल[19] में 1971 में, केरल[20] में 1970 में और बिहार में 1971 में[21] राज्यपालों ने विधान-सभाओं को मुख्यमन्त्रियों की सिफारिश पर अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन भंग कर दिया था, हालांकि उन का विधान-सभा में बहुमत सन्देहजनक था। यहां पर यह चर्चा भी की जा सकती है कि बजट पास करने से पहले पश्चिमी बंगाल तथा पंजाब में राज्यपालों ने अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन विधान-सभाओं को जो भंग किया वह संवैधानिक दृष्टि से अनुचित था, जिसके परिणामस्वरूप पंजाब में विधान-सभा भंग किये जाने के दो दिन पश्चात्[22] तथा पश्चिमी बंगाल[23] में एक ही दिन पश्चात् राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा। बंगाल तथा पंजाब के राज्यपालों के लिए उचित रास्ता यह था कि वे विधान-सभा भंग करने की सिफारिश को रद्द कर देते और मुख्यमन्त्री से कहते कि या तो वे त्यागपत्र दें या विधान-सभा में विपक्ष का सामना करके बजट पास करें। यदि मुख्यमन्त्री त्यागपत्र दे देता तो वह या तो दूसरी सरकार की

स्थापना कर सकते थे जैसाकि नवम्बर 1967 में पंजाब[24] में तथा मार्च 1969 में मध्यप्रदेश[25] में किया गया था, या वे विधान-सभा को[26] निलम्बित करने या भंग करने की सिफारिश करके राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए कह सकते थे।

पंजाब के राज्यपाल ने यह जानते हुए भी मुख्यमन्त्री की सलाह मान ली थी कि उसका विधान-सभा में बहुमत समाप्त हो गया है। विधान-सभा को मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर भंग करने का उचित बतलाते हुए राज्यपाल ने कहा कि "पंजाब को उस सरकार का भी अनुभव है जो अकाली दल छोडने वाले दल बदलुओं ने 1967 में कांग्रेस की सहायता से बनाई थी। उस समय भी मैंने राष्ट्रपति को दी गई अपनी रिपोर्ट में कहा था कि इस प्रकार की व्यवस्था में अस्थिरता रहेगी क्योंकि इन दल बदलुओं ने अपना-दल विचारधारा के आधार पर नहीं बल्कि व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए छोड़ा है।"[27] यह आश्चर्यजनक बात है कि पंजाब के राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर जिसका विधान-सभा में बहुमत नहीं था, विधान-सभा को इस लिए भंग कर दिया ताकि दल बदल समाप्त हो जाये लेकिन हरियाणा के राज्यपाल ने लगभग वैसी ही परिस्थितियों में मुख्यमन्त्री का बहुमत होते हुए भी विधान-सभा भंग करने की उसकी सिफारिश को नहीं माना और उस के स्थान पर राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की। हालांकि 3 दिन पश्चात् पंजाब में भी राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया, लेकिन वह तो इसलिए करना पड़ा क्योंकि बजट पास न होने के कारण कामचलाऊ मन्त्रिमंडल पद पर नहीं रह सकता था। लेकिन हरियाणा में 31 मार्च तक मन्त्रिमंडल पद पर रह सकता था और तब तक राव बीरेन्द्र सिंह के मुख्यमन्त्री के पद पर रहते हुए नये चुनाव हो सकते थे, क्योंकि सरकार के पास छः महीने का समय था। इसलिए ऐसा लगता है कि हरियाणा के राज्यपाल के लिए तो यह उचित होता कि वह मुख्यमन्त्री की सलाह पर विधान-सभा को भंग कर देते, जबकि पंजाब के राज्यपाल के लिए उन परिस्थितियों में विधान-सभा को बहुत जल्दी में भंग करने के स्थान पर या तो दूसरी सरकार बनाने का प्रयत्न करना चाहिए था या राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करनी चाहिए थी। यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि गुरनाम सिंह सरकार बनाने के लिए तैयार थे।[29]

पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने भी पंजाब के राज्यपाल का ही अनुसरण किया था। वहां पर बजट सत्र 28 जून, 1971 को आरम्भ होने वाला था। लेकिन जब मुख्यमन्त्री ने यह देखा कि बंगला कांग्रेस में फूट पड़ने और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी द्वारा समर्थन वापस लिये जाने के कारण उसका विधान-सभा में बहुमत नहीं रहा तो उस समय उसने (अजय मुकर्जी) भी विधान-सभा भंग करा दी थी।[30]

यह एक दिलचस्प बात है कि जब पंजाब के राज्यपाल ने विधान-सभा को मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर यह जानते हुए भंग किया कि उसका विधान-सभा में बहुमत नहीं है, तब संसद के कांग्रेसी सदस्यों ने संसद में तथा उसके बाहर उसकी बड़ी आलोचना की थी। उदाहरणतया, कांग्रेस के संसद सदस्य कृष्णकांत ने कहा कि 'राज्यपाल

ने, जब विधान-सभा का सत्र कल होने जा रहा था उसकी जो उपेक्षा की है वह बहुत ही निन्दाजनक है, और राज्यपाल जिसे संविधान का रक्षक बनाया है उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसे पहले तो अनुच्छेद 356 के अधीन अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को भेजनी चाहिए थी और उनके आदेश की प्रतीक्षा करनी चाहिए थी।"[31] वास्तव में यह पहला अवसर था जब कांग्रेस पार्टी ने किसी राज्यपाल की असवैधानिक ढंग से कार्य करने के लिए आलोचना की थी। उसके कार्य को उन्होंने अनुचित, असवैधानिक तथा स्वेच्छाचारित पर आधारित कहा।[32] उन्होंने यह भी दोष लगाया कि राज्यपाल ने जल्दी में विधान-सभा को इस लिये भंग किया है क्योंकि वह संत अकालियों के साथ मिला हुआ है। गृह मन्त्रालय के राज्य-मंत्री कृष्णचन्द्र पन्त ने राज्य-सभा में कहा कि "पंजाब के राज्यपाल डी० सी० पावते को प्रकाशसिंह बादल की सिफारिश पर विधान-सभा भंग करके अपने आप को नंगा नहीं करना चाहिये था।" इसमें कोई संदेह भी नहीं है कि राज्यपाल ने जल्दी में विधान-सभा को भंग किया था क्योंकि उसने दूसरी सरकार बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया। जब विधान-सभा का सत्र अगले ही दिन होने वाला था तो उसे विपक्ष को शक्ति परीक्षण का अवसर देना चाहिये था। यदि उसे यह विश्वास था कि राजनैतिक संकट टालने का एक मात्र उपाय विधान-सभा को भंग करना ही है तो वह अनुच्छेद 356 के अधीन इस की सिफारिश कर सकता था। राज्यपाल का यह कदम असाधारण था क्योंकि राज्यपाल ने अपने निर्णय द्वारा राष्ट्रपति को राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए विवश कर दिया। साधारणतया इस प्रकार के निर्णय, जहां राष्ट्रपति शासन लागू करना हो वह राष्ट्रपति लेता है। डी० सी० पावते पहले ऐसे राज्यपाल थे जिन्होंने राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजने से पहले ही विधान-सभा को भंग कर दिया था। राज्यपाल द्वारा विधान-सभा भंग किये जाने पर टिप्पणी करते हुए 'हिन्दुस्तान टाईम्स' ने अपने अग्रलेख में लिखा:

> पंजाब विधान-सभा को भंग करके राज्यपाल डी०सी० पावते ने उचित कार्य अनुचित ढंग से किया है। विज्ञप्ति के अनुसार उस ने ऐसा मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर किया है जिस का उस ने त्यागपत्र भी स्वीकार कर लिया है। लेकिन उसे यह मालूम होना चाहिये था कि विधान-सभा में जिस का 24 घंटे के अन्दर सत्र होने वाला था, उस का बहुमत समाप्त हो जाने के कारण उस का नैतिक या वैधानिक किसी भी दृष्टि से यह अधिकार नहीं था कि वह विधान-सभा भंग करने की सिफारिश करे। इस सम्बन्ध में पूर्वोदाहरणों की कोई कमी नहीं है। कल ही बिहार के राज्यपाल देवकान्त बरुआ ने ऐसी ही परिस्थितियों में कर्पूरी ठाकुर की ऐसी ही सलाह को रद्द किया है। यदि डी० सी० पावते प्रकाशसिंह बादल के त्यागपत्र को स्वीकार कर लेते और विधान-सभा को भंग करने के स्थान पर स्थगित कर देते तो कोई हानि नहीं थी। इस से उन्हें गुरनाम सिंह के मन्त्रि-मंडल बनाने के दावे की जांच भी करने का अवसर मिल जाता और जांच करने के पश्चात् वह यह सिफारिश राष्ट्रपति को कर सकते थे कि पंजाब की राजनैतिक

समस्या का एकमात्र हल यह है कि विधान-सभा को भंग करने के पश्चात् राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये और फिर वहां पर चुनाव कराये जायें।[33]

मुख्यमंत्री का बहुमत न होने पर विधान-सभा का विघटन

जब विधान-सभा में मुख्यमंत्री का बहुमत समाप्त हो जाता है तब उसकी सिफारिश पर विधान-सभा का विघटन किया जायेगा या नहीं, यह राज्यपाल पर निर्भर करता है[34] *और इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न राज्यपालों ने भिन्न-भिन्न ढंग से अपनी* शक्तियों का प्रयोग किया है। उदाहरणतया, 1952 के चुनाव के पश्चात् 108 सदस्यों वाली तिरुवांकुर कोचीन की विधान-सभा में 44 सदस्यों वाली कांग्रेस पार्टी ने सरकार बनाई थी और इस सरकार का 23 सितम्बर, 1953 को पतन हो गया था।[35] उस समय वहां के राजप्रमुख ने हारे हुए मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर विधान-सभा का विघटन कर दिया।[36] लेकिन जब फरवरी 1955 में पट्टमथानू पिल्ले के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हुआ तो उसी राजप्रमुख ने उसी राज्य में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के इस मुख्यमन्त्री की विधान-सभा भंग करने की सिफारिश को मानने से इन्कार कर दिया और पी० गोविन्दा मेनन को वहां का मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया।[37] यह सरकार भी अल्पमत सरकार थी क्योंकि 118 सदस्यों वाले सदन में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के केवल 19 सदस्य थे। इसी प्रकार से आन्ध्र में जब 6 नवम्बर 1954 को सरकार के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास किया गया तब मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल से विधान-सभा के विघटन की सिफारिश की थी। लेकिन राज्यपाल ने विधान-सभा भंग करने से पहले सभी राजनैतिक दलों के नेताओं को बुला कर पूछा कि क्या उन में से कोई भी सरकार बनाने के लिए तैयार है और जब उन में से कोई भी सरकार बनाने के लिए तैयार नहीं हुआ, तब ही विधान-सभा को भंग किया गया।[38] पंजाब में 1967 में गुरनाम सिंह[39] की, उत्तर प्रदेश में 1968 में चरण सिंह की,[40] मध्यप्रदेश में 1969 में सारंगगढ़ के राजा नरेशचन्द्र[41] सिंह की, उड़ीसा में 1971 में सिंहदेव[42] की, तथा गुजरात में 1971 में हितेन्द्र देसाई[43] की विधान सभा भंग करने की सिफारिश को राज्यपालों ने रद्द कर दिया। इन राज्यों के राज्यपालों ने वैकल्पिक सरकारों की स्थापना के लिये प्रयत्न किये और पंजाब तथा मध्यप्रदेश के राज्यपाल तो उसमें सफल भी हुए।[44] लेकिन उत्तर प्रदेश, गुजरात, तथा उड़ीसा में राज्यपाल की सिफारिश पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया और वहां की विधान सभाओं को अनुच्छेद 356 के अधीन भंग कर दिया गया। परन्तु उत्तर प्रदेश में विधान-सभा का विघटन करने से पहले उसे कुछ समय तक निलम्बित रखा गया। लेकिन राज्यपाल के लिये यह बेहतर होगा कि वह अनुच्छेद 356 के अधीन विधान-सभा भंग करने की सिफारिश के स्थान पर स्वयं अनुच्छेद *174 (2)* (बी) के अधीन *मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर*, चाहे उसका विधान सभा में बहुमत संदेहजनक भी क्यों न हो या वह विधान सभा में हार भी क्यों न गया हो, विधान-सभा को भंग कर दे, यदि उसे यह विश्वास है कि राजनैतिक समस्या का एक मात्र समाधान केवल विधान-सभा को भंग कर के नये चुनाव

से इसलिए इन्कार कर दिया था क्योंकि यह सिफारिश करने से पहले उसने इस सम्बन्ध मे अपने मन्त्रिमडल की अनुमति नही ली थी।[47] इसका अर्थ यह है कि विधान सभा भग करने की सिफारिश करने से पहले मुख्यमन्त्री को अपने मन्त्रिमडल की अनुमति लेनी चाहिए। हरियाणा मे दिसम्बर 1971 मे, पश्चिमी बगाल मे जून 1971 मे, तमिलनाडु मे जनवरी 1972 मे विधान-सभा भग करने का निर्णय सारे मन्त्रिमडल द्वारा किया गया था।

लेकिन इग्लैंड मे सर विन्स्टन चर्चिल के अनुसार हाऊस ऑफ कामन्स को भग करने की सिफारिश करने का अधिकार केवल प्रधानमन्त्री का है,[48] परन्तु प्रोफेसर लास्की का यह विचार है कि प्रधानमन्त्री विघटन करने की सिफारिश के अधिकार का अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए दुरुपयोग कर सकता है। इसलिए उसने यह सुझाव दिया कि "विघटन करने की सिफारिश करने का अधिकार अब केवल प्रधानमन्त्री के हाथ मे नही होना चाहिये, यह सिफारिश करने से पहले उसे मन्त्रिमडल से परामर्श करना चाहिये। त्यागपत्र देने या हाऊस आफ कामन्स का विघटन करने की सिफारिश मन्त्रिमडल की सिफारिश से की जानी चाहिये।"[49]

गुजरात मे राज्यपाल ने हितेन्द्र देसाई की विधान-सभा को भग करने की सिफारिश को इसलिए नही माना क्योंकि "देसाई का बहुमत सदेहजनक था, इस का दूसरा कारण यह था कि तब तक बजट भी पास नही हुआ था, और बजट केवल ससद द्वारा पास किया जा सकता था और ऐसी स्थिति मे देसाई का मुख्यमन्त्री बने रहना उचित नही था। इसलिए राज्यपाल ने अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की।"[50] यह स्पष्ट जान पडता है कि राज्यपाल ने विधान-सभा भग करने की सिफारिश रद्द करने के जो कारण दिये हैं वे तर्कसगत हैं, लेकिन यह आश्चर्यजनक बात है कि पजाब, पश्चिमी बगाल तथा बिहार मे ऐसा क्यों नही किया गया। पजाब मे राज्यपाल ने बजट सत्र के आरम्भ होने से एक दिन पहले 13 जून 1971 को मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर विधान-सभा को भग कर दिया था। पश्चिमी बगाल मे बजट सत्र आरम्भ होने से तीन दिन पहले 25 जून 1971 को उस मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर विधान-सभा को भग कर दिया गया था जिसका विधान-सभा मे बहुमत सदेहजनक था। बिहार के राज्यपाल देवकान्त बरुआ ने भोला पासवान की सिफारिश पर, जब उसका बहुमत सदेहजनक था, विधान-सभा को भग कर दिया।[51] उसने मुख्यमत्री तथा उपमुख्यमत्री को कामचलाऊ सरकार के रूप मे पद पर बनाये रखा।[52] वह सरकार 31 मार्च 1972 के पश्चात् पद पर नही रह सकती थी क्योंकि बजट पास नही हुआ था। इसके परिणामस्वरूप 9 जनवरी 1972 को वहा पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।[53] यहा पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि तिरुवाकुर-कोचीन मे जान को विधान-सभा भग किये जाने के पश्चात् लगभग छ महीने तक कामचलाऊ मुख्यमन्त्री के रूप मे कार्य करते रहने दिया गया था।[54]

विधान-सभा विघटन के पश्चात् मंत्रिमंडल की स्थिति

जब विधान-सभा को अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन भंग कर दिया जाये और कामचलाऊ मन्त्रिमंडल पद पर हो तो उस मन्त्रिमंडल की स्थिति क्या होती है? क्या हम उस मन्त्रिमंडल को कामचलाऊ मन्त्रिमंडल के नाम से सम्बोधित करेंगे या किसी और नाम से। विधान-सभा को अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन भंग करने के पश्चात् हरियाणा के राज्यपाल ने कहा कि "इस मन्त्रिमंडल को कामचलाऊ मन्त्रि-मंडल के नाम से सम्बोधित करना उचित नहीं होगा। संविधान में कामचलाऊ मन्त्रि-मंडल की कोई व्यवस्था नहीं है। साधारणतया उस सरकार को इस नाम से सम्बोधित किया जाता है जो त्यागपत्र दे दे और उस के पश्चात् राज्यपाल उसे उस समय तक काम चलाते रहने को कहे जब तक कोई अन्य व्यवस्था की जा सके। हरियाणा में किसी मंत्री ने त्यागपत्र नहीं दिया है। सरकार को पूर्ण अधिकार है, लेकिन साधारणतया ऐसी सरकार विवादग्रस्त अध्यादेश जारी करने की सिफारिश नहीं करती। उनके लिए भी कोई कानूनी रुकावट नहीं है लेकिन फिर भी ऐसा करना वाच्छनीय नहीं है।"[55] परन्तु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह पूछा जाता है कि मंत्रिमंडल के लिए अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन अपना त्यागपत्र दिये बिना विधान-सभा को भंग करवाना कहां तक उचित है जैसा कि पश्चिमी बंगाल में जून 1971 में अजय मुकर्जी ने और हरियाणा में 1971 में बंसीलाल ने किया। क्या यह संविधान के अनुच्छेद 164 (2) का उल्लंघन नहीं है, जिसमें यह कहा गया है कि मन्त्रिमंडल विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होगा। यह प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय में भी उठाया गया था। उस समय सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि "विधान-सभा को भंग करने का अर्थ यह नहीं है कि अनुच्छेद 356 के अधीन वैधानिक मशीनरी विफल हो गई है। अनुच्छेद 164 (2) को, जिसमें यह कहा गया है कि मन्त्रिमंडल विधान-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगा, उसी प्रकार से पढा जायेगा जैसे अनुच्छेद 75 (3) को पढते है"।[56] अनुच्छेद 75 (3) की व्याख्या सर्वोच्च न्यायालय में यू० एन० राव बनाम श्रीमती इन्दिरा गांधी में की गई थी। उस निर्णय के अनुसार "अनुच्छेद 75 (3) में मन्त्रिमंडल के उत्तरदायित्व की बात कही गई है। उस अनुच्छेद की व्याख्या अनुच्छेद 74 (1) तथा अनुच्छेद 75 (2) को ध्यान में रखते हुए की जानी चाहिए। अनुच्छेद 75 (3) केवल उस समय लागू होता है जब लोकसभा भंग या स्थगित न हुई हो। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जब लोकसभा को भंग किया जाये तब प्रधानमन्त्री तथा अन्य मंत्रियों को त्यागपत्र दे देना चाहिए या उन्हें बरखास्त कर दिया जाना चाहिए।"[57] इस लिए विधान-सभा के भंग किये जाने के पश्चात् भी मन्त्रिमंडल भंग नहीं हो जाता, वह अपने पद पर बना रहता है।[53]

सन्दर्भ

1 'दि स्टेट्समैन', 21 जुलाई 1967, पृष्ठ 1

2 'दि ट्रिब्यून', 26 नवम्बर 1967, पृष्ठ 8

3 'पैट्रियट', 25 नवम्बर 1967, पृष्ठ 2

4 'दि स्टेट्समैन', 17 दिसम्बर 1968, पृष्ठ 1

5 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम् 20, नम्बर 21-25, 11 दिसम्बर 1968, कालम 143

6. बिहार में कर्पूरी ठाकुर के कहने पर तो राज्यपाल डी० के० बरुआ ने 2 जून 1971 को विधान-सभा भंग करने से इन्कार कर दिया ('दि स्टेट्समैन', 2 जून 1971, पृष्ठ 1), लेकिन 29 दिसम्बर 1971 को भोला पासवान शास्त्री के कहने पर उसे भंग कर दिया।

7 जरनल ऑफ सोसाइटी फॉर दि स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमैन्ट्स', वॉल्यूम् 5, जनवरी-मार्च 1972, नम्बर 1, पृष्ठ 69

8 'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया', 23 मार्च 1969, पृष्ठ 5

9, 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 8, पृष्ठ 107

10 (क) उदाहरणतया, 1971 में तमिलनाडु में द्रमुक का बहुमत था और जब बजट पास करने के पश्चात् वहाँ के मुख्यमन्त्री करुणानिधि ने विधान-सभा भंग करने की सिफारिश की तो राज्यपाल ने विधान-सभा भंग कर दी।

(ख) इसी प्रकार हरियाणा में बजट पास करने के पश्चात् जब बंसीलाल ने विधान-सभा भंग करने की सिफारिश की तो राज्यपाल ने विधान-सभा को भंग कर दिया हालांकि साधारणतया यह विधान-सभा 18 महीने तक और रह सकती थी। 'दि ट्रिब्यून', जनवरी 22 1972 पृष्ठ 1

(ग) केरल में भी 1970 में बजट पास होने के पश्चात् मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर विधान-सभा को भंग कर दिया था।

11 इस समिति ने सिफारिश की है कि ऐसी परिस्थिति में मन्त्रिमण्डल को बजट पास करने के लिए विधान-सभा के समक्ष जाना चाहिये और उसके पश्चात् ही विधान-सभा को भंग करने की सिफारिश करनी चाहिए। यदि मन्त्रिमण्डल ऐसा करने के लिये तैयार न हो और दूसरी सरकार बनाने की सम्भावना न हो तो 'राज्यपाल के पास अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करने के अतिरिक्त कोई भी विकल्प नहीं होगा क्योंकि उस परिस्थिति में राज्य का प्रशासन चलाने के लिये केवल संसद् ही पैसे दे सकती है। बजट पास किये बिना कोई भी मन्त्रिमण्डल पद पर नहीं रह सकता।"

'जरनल ऑफ सोसाइटी, फॉर दि स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमैंट्स"
वॉल्यूम् 5, जनवरी-मार्च 1972, नम्बर 1, पृष्ठ 70

12. 'दि स्टेट्समैन', मई 14, 1971, पृष्ठ 1.
13. 'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया', जून 27, 1971, पृष्ठ 1.
14. वही; जून 14, 1971, पृष्ठ 1.
15. 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', 30 दिसम्बर 1971, पृष्ठ 1.
16. राज्यपाल ने राष्ट्रपति को जो रिपोर्ट भेजी उसमें भी इस बात को स्वीकार किया था कि राव वीरेन्द्र सिंह का विधान-सभा में बहुमत है।
'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', नवम्बर 21, 1967, पृष्ठ 1.
17. 'दि स्टेट्समैन', मई 14, 1971, पृष्ठ 1.
18. जब 18 अकाली विधायक गुरनाम सिंह अकाली दल में जा मिले तब प्रकाश सिंह बादल की सरकार का पतन स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उस समय राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर 13 जून 1971, को विधान-सभा को भंग कर दिया। विधान-सभा बजट सत्र के आरम्भ होने से एक दिन पहले भंग की गई और मुख्यमन्त्री ने अपना त्यागपत्र दे दिया था।
'दि टाईम्स आफ इण्डिया', जून 14, 1971, पृष्ठ 1.
19. बजट सत्र 28 जून 1971, को आरम्भ होने वाला था लेकिन बंगला कांग्रेस में फूट पड़ने, तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के विधायकों द्वारा समर्थन वापस लिये जाने के कारण अजय मुकर्जी की सरकार का पतन स्पष्ट दिखाई दे रहा था। लेकिन मुख्यमन्त्री ने अपना त्यागपत्र दिये बिना विधान-सभा को अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन भंग करवा दिया।
वही; 26 जून 1971, पृष्ठ 1.
20. जब इण्डियन सोशलिस्ट पार्टी ने यह धमकी दी कि यदि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को समन्वय समिति में शामिल किया गया तो वह अपना समर्थन वापस ले लेगी, तब अच्युता मेनन मन्त्रि-मंडल की स्थिति डगमगा गई थी। उसके पश्चात् मुख्यमंत्री ने अपना त्यागपत्र दिये बिना विधान-सभा भंग करवा दी थी।
'दि ट्रिब्यून', जून 1970, पृष्ठ 1.
21. बजट सत्र के पश्चात् जब भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी ने अपना समर्थन वापस लिया तब भोला पासवान मन्त्रिमंडल लड़खड़ा गया था।
वही; 30 दिसम्बर 1971, पृष्ठ 4.
22. पंजाब में राष्ट्रपति शासन 15 जून, 1971 को लागू किया गया था।
'दि ट्रिब्यून', 17 जून 1971, पृष्ठ 8.
23. पश्चिमी बंगाल में राष्ट्रपति शासन 26 जून, 1971 को लागू किया गया था।
'दि टाईम्स ऑफ इण्डिया', 27 जून 1971, पृष्ठ 1.
24. 22 नवम्बर 1967 को सरदार गुरनाम सिंह ने त्यागपत्र देते समय विधान-सभा भंग करने की सिफारिश की थी, लेकिन राज्यपाल ने लच्छमन सिंह गिल को मुख्यमन्त्री बना दिया था।
'दि ट्रिब्यून', 26 नवम्बर 1971, पृष्ठ 1.
25. 20 मार्च 1969 को जब विधान-सभा का सत्र होने वाला था तो उस समय मणिपुर के राजा

नगेशचन्द्र सिंह ने जो मुख्यमन्त्री थे, त्यागपत्र देते हुए विधान-सभा भंग करने की सिफारिश की थी लेकिन राज्यपाल ने उस सिफारिश को अस्वीकार करते हुए श्यामाचरण शुक्ला को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर दिया था।

26 उत्तर प्रदेश में 25 जून 1968 तथा 13 जून 1973 को चरण चरण सिंह तथा कमलापति त्रिपाठी ने क्रमश त्यागपत्र दिये तब विधान-सभा को निलम्बित कर दिया गया था। इसी प्रकार पश्चमी बंगाल में मार्च 1970 में जब अजय मुकर्जी ने त्यागपत्र दिया, बिहार में 4 जुलाई 1969 को जब भोला पासवान ने त्यागपत्र दिया, आन्ध्र में 19 जनवरी 1973 को जब नरसिंहा राव ने त्यागपत्र दिया, तब वहां पर विधान-सभाओं को निलम्बित कर दिया गया था।

27 जब पश्चिमी बंगाल में पी सी घोष ने त्यागपत्र दिया तो 20 फरवरी 1968 को विधान-सभा को भंग कर दिया गया था। इसी प्रकार से जब मुकर्जी ने त्यागपत्र दिया तब भी विधान-सभा का 25 जून 1971 को अनुच्छेद 356 के अधीन भंग कर दिया गया था। उत्तर प्रदेश मे 15 अप्रैल 1968 को (विधान-सभा को 25 फरवरी 1968 के पश्चात् से निलम्बित रखने के पश्चात्), पंजाब में 23 अगस्त 1968 को जब लक्ष्मन सिंह गिल ने त्यागपत्र दिया, बिहार में 28 मई 1968 को जब भोला पासवान शास्त्री ने त्यागपत्र दिया, उड़ीसा में 3 मार्च 1973 को जब श्रीमती नन्दिनी सत्पथी ने त्यागपत्र दिया तब भी विधान-सभा को अनुच्छेद 356 के अधीन भंग कर दिया गया था।

28 वही, 17 जून 1971, पृष्ठ 1

29 वही, जून 14, 1971, पृष्ठ 1

30 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', जून 26, 1971, पृष्ठ 1

31 वही, जून 14, 1971, पृष्ठ 1

32 वही, जून 15, 1971, पृष्ठ 1

33 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', जून 14, 1971, पृष्ठ 1

34 विधान-सभा में बहुमत समाप्त होने के अनेक रूप हैं, अर्थात् वह औपचारिक रूप से अविश्वास का प्रस्ताव पास करने, मन्त्रिमण्डल द्वारा पेश किये गये विश्वास के औपचारिक प्रस्ताव को रद्द करने, बजट को रद्द करने, किसी नीति सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विधेयक को रद्द करने के परिणाम-स्वरूप समाप्त हो सकता है। जब मुख्यमन्त्री को यह अनुभव हो जाये कि उस की विधान सभा में पराजय हो जायेगी तब वह त्यागपत्र दे सकता है और उसका भी अर्थ यही है।

35 कृष्ण नैय्यर, 'कानस्टिट्यूशनल एक्सपेरिमेंट इन केरल', प्रथम संस्करण, 1964, पृष्ठ 35

36 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम् 9, नम्बर 6 10, 23 नवम्बर 1967, कॉलम 2352

37 कृष्ण नैय्यर, 'कानस्टिट्यूशनल एक्सपेरिमेंट इन केरल', प्रथम संस्करण 1964, पृष्ठ 36

38 'राज्यसभा डिबेट्स', वाल्यूम् 8, 1954, कॉलम 194-95

39 'दि ट्रिब्यून', 26 नवम्बर 1967, पृष्ठ 1,

40 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', 19 फरवरी 1968, पृष्ठ 12

41. 'पेट्रियट', मार्च 21, 1969, पृष्ठ 1.
42. 'दि स्टेट्समैन', 11 फरवरी 1971, पृष्ठ 8.
43. वही; जून 2, 1971, पृष्ठ 1.
44. पंजाब में लच्छमनसिंह गिल और मध्यप्रदेश में श्यामाचरण शुक्ला की सरकारों की नियुक्ति की गई।
45. 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', 23 मार्च 1969, पृष्ठ 2.
46. 'जरनल ऑफ दी सोसायटी फोर दि स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्टस',वॉल्यूम 5, जनवरी-मार्च 1972, नम्बर 1, पृष्ठ 69.
47. 'दि स्टेट्समैन', 11 फरवरी 1971, पृष्ठ 8.
48. 'नेशनल हेराल्ड', 20 जुलाई 1970, पृष्ठ 5.
49. 'दि इण्डियन एक्सप्रैस', 20 सितम्बर 1969, पृष्ठ 6.
50. 'दि स्टेट्समैन', 14 मई 1971, पृष्ठ 1.
51. 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', 30 दिसम्बर 1971, पृष्ठ 1.
52. वही।
53. 'दि स्टेट्समैन', 20 जनवरी 1972, पृष्ठ 1.
54. 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम् 9, नम्बर 6-10, 23 नवम्बर 1967, कॉलम 2330.
55. 'दि ट्रिब्यून', जनवरी 22, 1972, पृष्ठ 1.
56. टी० के० एन० राजगोपाल, बनाम टी० एम० करुणानिधि, 'ए० आई० आर०', 1971, सर्वोच्च न्यायालय 1551.
57. 'ए० आई० आर०,' 1971, सर्वोच्च न्यायालय 1002.
58. वही; पृष्ठ 1551.

10

राज्यपाल का अभिभाषण देने तथा सन्देश भेजने का अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 176 (1) के अनुसार "विधान-सभा के चुनाव होने के पश्चात् प्रथम सत्र के आरंभ होने पर तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के शुरू होने पर राज्यपाल विधान-सभा या जहां पर विधान परिषद् है वहां दोनों इकट्ठे सदनों के सामने अभिभाषण देगा और उन्हें सत्र बुलाने का कारण बतलायेगा।"

'(2) उस अभिभाषण में जिन विषयों की चर्चा की गई है उन पर बहस करने के लिये, सदन की क्रियाविधि को नियमित करने वाले नियमों में समय निर्धारित करने के लिए व्यवस्था की जायेगी।"

संविधान में प्रथम संशोधन (प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951) के पास करने से पहले राज्यपाल को प्रत्येक सत्र के आरम्भ होने पर विधान-सभा तथा जिन राज्यों में विधान परिषद् है वहां पर दोनों सदनों को इकट्ठा बुला कर अभिभाषण देना पड़ता था। लेकिन संविधान में प्रथम संशोधन होने के पश्चात् राज्यपाल विधान-सभा के चुनाव होने के पश्चात् प्रथम सत्र तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र में ही विधान-सभा या *जहां पर विधान परिषद् है वहां पर दोनों सदनों के सामने इकट्ठा भाषण देता है*। वह अब प्रत्येक सत्र के आरम्भ होने पर भाषण नहीं देता।

सत्र आरम्भ होने का समय

सत्र आरम्भ होने के सम्बन्ध में यह भी पूछा जा सकता है कि सत्र आरम्भ कब होता है ? क्या सत्र उस समय आरम्भ होता है जब विधान-सभा का सचिव (राज्यपाल के निर्देश पर) सदस्यों को शपथ लेने के लिये बुलाता है या यह उस समय शुरू होता है जब राज्यपाल अपने अभिभाषण को पढ़ना शुरू करता है या यह राज्यपाल का भाषण समाप्त होने पर आरम्भ होता है या तब शुरू होता है जब उसका भाषण बहस के लिये सदन के पटल पर रखा जाता है।

क्या सत्र उस समय आरम्भ होता है जब विधान-सभा का सचिव सदस्यों को शपथ लेने के लिये बुलाता है, यह मामला सर्वाधिकार बनाम उड़ीसा विधान सभा में उड़ीसा उच्च न्यायालय के सामने उठाया गया था।[1] इस मामले में विधान-सभा के सचिव ने, राज्यपाल के निर्देश के अनुसार, प्रथम चुनाव के पश्चात् विधान सभा की प्रथम बैठक 4 मार्च 1952 को बुलाई थी। विधान-सभा सचिव ने बैठक के कलैंडर को

प्रतिलिपि भेजते हुए सदस्यों को सूचित किया था कि "उड़ीसा विधान-सभा का प्रथम सत्र 4 मार्च 1952 से आरम्भ हो रहा है"[2]। इस सूचना पत्र के साथ बैठकों का जो कलैंडर भेजा गया था उस के अनुसार "4 तथा 5 तारीख को सदस्यों को शपथ दिलायी जानी थी, 6 तारीख को अध्यक्ष का चुनाव होना था तथा 7 तारीख को राज्यपाल के अभिभाषण के पश्चात् भाषण देने के लिए उनका धन्यवाद करने के लिये प्रस्ताव पर बहस होनी थी।"[3] इस मामले में यह प्रश्न उठाया गया था कि सत्र 4 मार्च 1952 को आरम्भ हुआ है न कि 7 मार्च 1952 को, जब राज्यपाल ने अपना अभिभाषण विधान-सभा में पढ़ा था। आवेदक ने अपने पक्ष में विधान-सभा के सचिव द्वारा एक सूचनापत्र में जिस भाषा का प्रयोग किया था उस का हवाला देते हुए कहा कि उस सूचनापत्र के साथ विधान-सभा की बैठक के कलैंडर में यह कहा गया है कि उड़ीसा विधान-सभा की प्रथम बैठक "4 मार्च से आरम्भ होगी।" आवेदक ने यह भी कहा कि चूंकि सत्र पहले ही 4 मार्च 1952, से आरम्भ हो चुका है इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि राज्यपाल का 7 मार्च का भाषण, संविधान के अनुच्छेद 176 (1) के अधीन विधान-सभा का सत्र आरम्भ होने पर दिया गया है। इसलिये यह संविधान का उल्लंघन है, क्योंकि अनुच्छेद 176 (1) के अनुसार राज्यपाल का यह संवैधानिक कर्त्तव्य था कि वह प्रथम सत्र की प्रथम बैठक के सामने भाषण देता।[4] यहाँ पर यह चर्चा भी की जा सकती है कि अनुच्छेद 176 (1) का उल्लंघन किया जाये तो विधान-सभा की सारी कार्यवाही अवैध हो जाती है।[5] यह आश्चर्यजनक बात है कि पश्चिमी बंगाल के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री तथा उप-मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल को यह सलाह दी कि वह प्रथम सत्र की प्रथम बैठक में अभिभाषण न दें।[6]

यदि हम अध्यक्ष के चुनाव को ध्यान में रखें तो आवेदक के तर्क में काफी वजन है क्योंकि जब तक सदन की बैठक औपचारिक रूप से नहीं होती तब तक अध्यक्ष का चुनाव वैध रूप से नहीं हो सकता और न्यायाधीश नरसिम्हा ने इस तर्क को मानते हुए कहा कि "समस्या यह है कि अनुच्छेद 178 के अधीन अध्यक्ष का चुनाव विधान-सभा की कार्यवाही का भाग है और एक प्रकार से यह सत्र आरम्भ होने के पश्चात् ही हो सकता है और यह सत्र सदस्यों को अनुच्छेद 188 के अधीन शपथ दिलाने के तुरन्त पश्चात् ही एक प्रकार से आरम्भ हुआ था।"[7] लेकिन उसने आगे चलकर कहा कि "वह इस प्रश्न पर तब तक निर्णय नहीं देता जब तक कि इस प्रश्न पर पूर्णतया बहस नहीं हो जाती।"[8] एच०एन० कौल तथा एस०एल० शकधर का भी यही मत है।[9] लेकिन मे की "पार्लियामेन्ट्री प्रेक्टिस" के अनुसार जब नई संसद का सत्र बुलाया जाता है तब पहले तो सदस्य शपथ लेते हैं, फिर अध्यक्ष का चुनाव होता है और उसके पश्चात् वह स्वयं शपथ ग्रहण करता है। उसके पश्चात् राजा अपने भाषण द्वारा संसद की बैठक का उद्घाटन करता है।"[10] मे की पुस्तक पार्लियामेन्ट्री प्रेक्टिस (14वां संस्करण) के पृष्ठ 273 पर दिया हुआ यह वाक्य स्थिति को और भी स्पष्ट करता है, "जब दोनों सदनों के अधिकांश सदस्य शपथ ले लेते हैं तब प्रथम सत्र की प्रारम्भिक आवश्यकतायें पूरी हो

जाती है और सदस्य राजा का भाषण सुनने के लिये तथा सदन की प्रारम्भिक कार्यवाही करने के लिये तैयार हो जाती है।"

चूंकि "भारत के संविधान मे तथा उड़ीसा विधान-सभा की कार्यवाही मे सम्बन्धित, अध्यक्ष ने जो नियम बनाये हैं, वह उसी प्रकार के हैं जैसे इंग्लैंड मे हैं, इस लिये कोई भी सदस्य विधान-सभा मे उस समय तक स्थान ग्रहण नहीं कर सकता जब तक वह वफादारी की शपथ नहीं ले लेता और विधान सभा भी अध्यक्ष का वैध ढंग से चुनाव किए बिना कोई कार्यवाही नहीं कर सकती। विधान-सभा का इस प्रकार से गठन होने के पश्चात् ही राज्यपाल विधान-सभा मे अभिभाषण दे सकता है।"[13]

चूंकि प्रत्येक चुनाव के पश्चात् जो प्रथम सत्र होना है उसके आरम्भ होने से पहले सदस्यों को शपथ दिलाने तथा अध्यक्ष के चुनाव आदि की प्रारम्भिक कार्यवाही पूरी की जानी चाहिए इसलिए न्यायाधीश पाणीग्राही ने कहा कि "मेरे विचार मे अनुच्छेद 176 की धारा (1) के शब्दों मे यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उड़ीसा विधान-सभा का सत्र 4 मार्च 1952 को जब नवनिर्वाचित सदस्यों को शपथ लेने के लिये बुलाया गया था, उसी दिन से आरम्भ हुआ था। इसलिये मेरा मत यह है कि अनुच्छेद 176 का उल्लंघन नहीं हुआ है और 7 तथा 8 मार्च के लिये विधान-सभा का जो कार्यक्रम निश्चित किया गया है उससे संविधान के किसी भी अनुच्छेद का उल्लंघन नहीं होता। यह विधान सभा की कार्यवाही के नियमों के अनुसार है तथा संसदीय प्रथा के अनुसार यह उचित है।"[12] पश्चिमी बंगाल विधान-सभा ने कार्यवाही के सम्बन्ध में जो नियम बनाये है उनका नियम 3 भी इसी निर्णय का समर्थन करता है। इस नियम के अनुसार "विधान-सभा भंग किये जाने के पश्चात् अध्यक्ष का चुनाव होने पर सत्र की पहली बैठक मे राज्यपाल संविधान के अनुच्छेद 176 के अनुसार भाषण देगा।"

इसलिये उड़ीसा न्यायालय के अनुसार, "जब विधान सभा का सचिव राज्यपाल के निर्देश के अनुसार, सदस्यों को शपथ लेने तथा अध्यक्ष का चुनाव करने के लिये बुलाता है तब सत्र आरम्भ नहीं होता। यदि हम उड़ीसा उच्च न्यायालय के इस निर्णय को मान लें कि सत्र उस समय आरम्भ नहीं होता जब विधान-सभा का सचिव सदस्यों को शपथ लेने तथा अध्यक्ष का चुनाव करने के लिये बुलाता है तो फिर क्या सत्र उस समय आरम्भ होता है जब राज्यपाल अपना भाषण पढ़ना शुरू करता है? उड़ीसा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पाणीग्राही के अनुसार सत्र उसी समय आरम्भ हो जाता है जब राज्यपाल अपना भाषण पढ़ना शुरू करता है।"[14] उसके अनुसार 'Commencement of every session' वाक्य का जानबूझ कर प्रयोग किया गया है क्योंकि अनुच्छेद 176 (1) के अनुसार सत्र राज्यपाल के भाषण के साथ आरम्भ होता है और विधान-सभा का पांच वर्ष का जो कार्यकाल है वह भी इसी तिथि से आरम्भ होता है।[15] लेकिन यह आश्चर्यजनक बात है कि वही न्यायाधीश उसी निर्णय मे आगे चलकर इसके बिल्कुल उल्टा बात कहता है। उदाहरणतया, आगे

चलकर वह कहता है कि "फिर विधान-सभा को राज्यपाल के भाषण पर बहस करने का अवसर दिया जाता है ताकि वह इस पर अपने विचार व्यक्त कर सके और फिर यह अपनी कार्यवाही आरम्भ करती है और केवल इस समय विधान-सभा का सत्र आरम्भ होता है (It is only at this stage that the assembly can be said to meet in session)"। इस वाक्य का अर्थ यह है कि सत्र उस समय आरम्भ नहीं होता जब राज्यपाल अपना भाषण पढ़ना शुरू करता है बल्कि यह उस समय शुरू होता है जब विधान-सभा राज्यपाल के भाषण पर बहस शुरू करती है। इसलिये इस निर्णय में उसी न्यायाधीश ने परस्पर विरोधी बातें कही हैं। लेकिन फिर भी यह लगता है कि न्यायाधीश ने बाद में जो बात कही है वह ज्यादा युक्तिसंगत है, क्योंकि यदि हम इस सिद्धान्त को मान लें कि सत्र उस समय शुरू होता है जब राज्यपाल अपना भाषण पढ़ना आरम्भ करता है तो इसका अभिप्राय यह होगा कि राज्यपाल ने सभापति के रूप में अध्यक्ष का स्थान ले लिया लेकिन संविधान में उसकी कोई

कठिनाई यह है कि यदि अध्यक्ष सदन के पटल पर राज्यपाल के भाषण की प्रतिलिपि रखने से इन्कार कर दे तो क्या उसके ऐसा करने पर सत्र आरम्भ नहीं होगा ? दूसरे शब्दों में अध्यक्ष के हाथ में यह शक्ति आ जायेगी कि वह राज्यपाल के भाषण को सभा पटल पर रखने से इन्कार करके सत्र न होने देने में सफल हो जायेगा।

लेकिन यह फिर भी सम्भव है कि कुछ संविधान विशेषज्ञ यह कहें कि विधानपालिका का सत्र तब आरम्भ होता है जब राज्यपाल अपना भाषण पढ़ना शुरू करता है। यदि हम इस तर्क को मान लें तो इसका परिणाम यह होगा कि सदस्य राज्यपाल से प्रश्न पूछ सकेंगे लेकिन वास्तव में विधायका को राज्यपाल से प्रश्न पूछने का कोई अधिकार नहीं होता। राजस्थान उच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार, "संविधान के अनुसार विधान-सभा की अन्य कार्यवाही जिसमें प्रश्न पूछना या सदस्यों द्वारा भाषण देना भी शामिल है, राज्यपाल के भाषण से पहले नहीं बल्कि उसके बाद ही शुरू होती है। हमारे इस दृष्टिकोण का उड़ीसा उच्च न्यायालय की डिविजन बैंच का सर्वाकार सुधाकार बनाम अध्यक्ष उड़ीसा विधान-सभा का निर्णय भी समर्थन करता है।"[22]

इसलिये यह कहा जा सकता है कि विधानपालिका का सत्र उस समय आरम्भ नहीं होता जब राज्यपाल अपना भाषण पढ़ना शुरू करता है, दूसरे शब्दों में इस का अर्थ यह है कि जब तक राज्यपाल अपना भाषण समाप्त नहीं कर देता तब तक सत्र आरम्भ नहीं हो सकता। राजस्थान उच्च न्यायालय का भी यही दृष्टिकोण है। इस के अनुसार "राज्यपाल के भाषण के बिना सदन की कार्यवाही वैध रूप से आरम्भ नहीं हो सकती।"[23]

लेकिन यदि हम इस निर्णय को स्वीकार कर लें तो क्या इसका अर्थ यह नहीं होगा कि विधान-सभा के दोनों सत्रों में राज्यपाल का भाषण अनिवार्य हो जायेगा ? दूसरे शब्दों में क्या 18 जून 1951 को "प्रत्येक सत्र" के स्थान पर "विधान-सभा के प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् प्रथम सत्र और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र" का जो संशोधन किया गया है वह निरर्थक नहीं होगा, क्योंकि उड़ीसा उच्च न्यायालय के अनुसार राज्यपाल के भाषण के बिना सत्र आरम्भ नहीं हो सकता। लेकिन अनुच्छेद 176 (1) के अनुसार राज्यपाल के लिये प्रत्येक वर्ष के दोनों सत्रों में भाषण देना अनिवार्य नहीं है। केवल चुनाव के पश्चात् प्रथम सत्र में और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र में ही राज्यपाल का भाषण आवश्यक है।[24] इस का अर्थ यह है कि राज्यपाल प्रत्येक वर्ष के दूसरे सत्र में, यदि भाषण न दे तो वह अवैध नहीं होगा और 1951 में संविधान में किया गया संशोधन इस दृष्टिकोण की पुष्टी करता है। इस से ऐसा लगता है कि या तो यह कहना गलत है कि सत्र केवल तब ही शुरू होता है जब राज्यपाल के भाषण की प्रतिलिपि सदन के पटल पर रख दी जाती है या सदन के दोनों सत्रों में राज्यपाल को भाषण देना ही पड़ेगा जिस के परिणामस्वरूप संविधान का प्रथम संशोधन निरर्थक हो जायेगा। लेकिन यदि हम संविधान का तनिक गहराई से

अध्ययन करें तो हमें मालूम होगा कि राज्यपाल केवल चुनाव के पश्चात् प्रथम सत्र और प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र में ही भाषण देता है और इन सत्रों के अतिरिक्त जो अन्य सत्र होते हैं वे राज्यपाल के भाषण के बिना शुरू हो सकते हैं, क्योंकि उड़ीसा उच्च न्यायालय ने राज्यपाल के भाषण द्वारा सत्र शुरू होने की जो बात कही है वह केवल चुनाव के पश्चात् प्रथम सत्र तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के बारे में ही कही है न कि इन सत्रों के अतिरिक्त अन्य सत्रों के बारे में भी। इसलिये उस निर्णय को अन्य सत्रों पर लागू करना उचित नहीं होगा। अन्य सत्र राज्यपाल के भाषण के बिना आरम्भ हो सकते हैं। उदहारणतया, उत्तर प्रदेश में मार्च 1970 में बजट सत्र राज्यपाल के भाषण के बिना शुरू हुआ और जब विपक्ष ने इस पर आपत्ति उठाई तो अध्यक्ष ए० जी० खेर ने कहा कि "यह सत्र नये वर्ष 1973 का प्रथम सत्र नहीं है। यह तो पिछले वर्ष (1972) का जो अन्तिम सत्र था वही चल रहा है जैसा कि कार्यसूची (agenda) में लिखा है। क्योंकि पिछले सत्र को स्थगित नहीं किया गया था और जब तक सत्र को स्थगित नहीं किया जाता वह चलता रहता है। इसलिये यह सत्र इस वर्ष का प्रथम सत्र नहीं है और राज्यपाल के लिये इस में भाषण देना अनिवार्य नहीं है। अध्यक्ष ने यह भी कहा कि 1959 और 1960 में भी बजट सत्र राज्यपाल के भाषण के बिना आरम्भ हुए थे। राज्यपाल ने अपना भाषण जुलाई के सत्र में दिया था।[25]

राज्यपाल के भाषण के सम्बन्ध में यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि कई बार राज्यपालों को अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी या उन की अपनी क्षेत्रीय भाषा में भाषण देने को कहा गया है। उदाहरणतया, उड़ीसा में शौकतउल्लाह शाह अन्सारी को अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी या उड़िया में भाषण देने को कहा गया था।[26] इसी प्रकार से उत्तर प्रदेश में वी० वी० गिरी को हिन्दी या तेलुगु में भाषण देने को कहा गया था।[27] लेकिन केन्द्र में राष्ट्रपति के भाषण का हिन्दी रूपान्तर उप राष्ट्रपति के भाषण का हिन्दी रूपान्तर, दोनों सदनों के सामने उस के सचिव द्वारा पढ़ा गया तो कुछ सदस्यों ने उस पर आपत्ति उठाई थी। लोकसभा में मधु लिमये ने कहा कि संसद में राष्ट्रपति या उस की अनुपस्थिति में उपराष्ट्रपति भाषण पढ़ सकता है। संगठन कांग्रेस के कुछ सदस्यों ने इसी प्रकार की आपत्ति राज्य सभा में उठाई थी। जब मधु लिमये ने यह कहा कि यदि राष्ट्रपति अपना भाषण हिन्दी में नहीं पढ़ सकते थे तो वह उसे अपनी मातृभाषा में पढ़ सकते हैं, तो उसके उत्तर में अध्यक्ष गुरदयाल सिंह ढिल्लों ने कहा कि वह नहीं समझते कि वह राष्ट्रपति को किसी विशेष भाषा में भाषण पढ़ने के लिए कह सकते हैं।"[28]

राज्यपाल तथा सत्र की अध्यक्षता

जब राज्यपाल दोनों सदनों को इकट्ठा या विधान-सभा के सामने (यदि विधान-परिषद् न हो) अनुच्छेद 176 (1) के अधीन भाषण देता है तब प्रश्न यह पैदा होता है कि उस समय बैठक की अध्यक्षता कौन करता है? एक विचारधारा के अनुसार

तो अध्यक्ष उस समय अध्यक्षता करता है और दूसरी विचारधारा के अनुसार उस बैठक की अध्यक्षता राज्यपाल द्वारा की जाती है। प्रथम विचारधारा के लागो का तर्क यह है कि चूंकि अध्यक्ष उस समय मच पर बैठा हुआ होता है इसलिये वही उस बैठक का सभापति होता है, और यदि उस समय कोई भी व्यवधान हो तो उसे रोकना उस का कर्त्तव्य होता है न कि राज्यपाल का। 26 फरवरी 1966 को राजस्थान विधान-सभा मे बहुत गडबड हुई थी। वहा पर जब राज्यपाल अपना भाषण देने के लिये आये तो उस समय रामानन्द अग्रवाल ने राज्यपाल तथा सरकार की आलोचना शुरू कर दी। इस पर राज्यपाल नाराज हो गये और उन्होने मार्शल को उन्हे बाहर निकाल देने के लिए कहा और मार्शल ने जबरदस्ती 12 सदस्यो को विधान सभा भवन से बाहर निकाल दिया।[30] जब मानिक चन्द्र सुराणा ने राज्यपाल को यह कहा कि उन्हे सदस्यो को बाहर निकालने का कोई अधिकार नही तो राज्यपाल ने कहा कि उसे उन्हे बाहर निकालने का अधिकार है।[31] इसी प्रकार महाराष्ट्र के राज्यपाल डॉ० डी० पी० चेरया ने भी मार्शल को आदेश दिया था कि वह ने० बी० धुले को विधान-सभा भवनसे बाहर निकाल दे क्योंकि वह रुकावट डाल रहा था।[32] ऐसे ही उत्तर प्रदेश मे जब वी० वी० गिरी अपना भाषण अंग्रेज़ी मे पढ रहे थे तो उस पर राजनारायण ने आपत्ति उठाई और कहा कि राज्यपाल या तो अपना भाषण हिन्दी मे पढे या तेलुगु मे जो उन की मातृभाषा है। राज्यपाल ने उसके उत्तर मे कहा यदि वह उसे तेलुगु मे पढेगे तो उसे कोई भी नही समझेगा और विधान-सभा की प्रक्रिया के नियम भी उस की आज्ञा नही देते। लेकिन जब राजनारायण ने इस तर्क को मानने से इन्कार कर दिया तब राज्यपाल ने कहा कि "यदि तुम यह समझते हो कि तुम गुडे हो तो तुम्हे मालूम होना चाहिये कि मै तुम से बडा गुडा हू। मैं तुम्हे बाहर फैंकने के लिये मार्शल की प्रतीक्षा नही करूगा। इस पर राजनारायण की बोलती बद हो गई।"[33] यहा पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि इस प्रकार की सबसे पहली घटना मद्रास मे 1952 मे उस समय हुई थी जब राज्यपाल श्रीप्रकाश वहा पर विधान-सभा मे भाषण देने गये। श्रीप्रकाश के शब्दो मे "प्रकासम ने मेरे तथा मुख्यमन्त्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के विरुद्ध बहुत कडवे शब्दो का प्रयोग किया। जैसे ही मैं बोलने के लिये खडा हुआ, वह खडा हो गया। जब वह बोलने लगा, मैं बैठ गया। वह बोलने के पश्चात् अपने समर्थको के साथ सदन से बाहर चला गया। उसके पश्चात् मैंने अपना भाषण दिया। इस घटना का अन्त वही पर हो गया।"[34]

जब राजस्थान के राज्यपाल के व्यवहार की आलोचना विपक्ष ने ससद मे की तो उस समय गृह-मन्त्री ने कहा कि "राज्यपाल के भाषण के समय बैठक की कार्यवाही पर राज्यपाल का नियन्त्रण होता है। जब वह अनुच्छेद 176 के अनुसार भाषण देता है, उस समय वह विधानपालिका का अग होता है। इसलिये वह उस समय सदन की कार्यवाही को सुचारू ढग से चलाने के लिये सदन के सम्मान को ध्यान मे रखते हुए उचित व्यवस्था कर सकता है"।[35] उन्होने आगे चलकर यह भी कहा कि इस प्रश्न पर 1961 मे

विधि मन्त्रालय से पूछा गया था और उस समय विधि मन्त्रालय ने भी यह सलाह दी थी कि "जब राज्यपाल भाषण देता है तब वह उचित अनुशासन बनाये रखने के लिये जो भी आवश्यक कदम उठाना चाहे उठा सकता है। चूंकि सरकार इस सलाह को मानती है, इसलिये सरकार यह नही समझती कि राजस्थान के राज्यपाल ने कोई अनुचित कार्य किया है।"[36] राजस्थान विधान-सभा की विशेषाधिकार समिति की भी यही सिफारिश है[37] तथा विधि मन्त्रालय का भी यही दृष्टिकोण है (लोक-सभा डिबेट्स, वॉल्यूम् 55, नम्बर 51-61, मई 6, 1966, कॉलम 15204-5)।

लेकिन एक दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि जब राज्यपाल अपना भाषण पढ़ता है उस समय उस बैठक की अध्यक्षता अध्यक्ष करता है। उदाहरणतया, राजस्थान विधान-सभा की विशेषाधिकार समिति के सदस्य गोयल का यह मत है। उसका तर्क यह है कि 'ब्रिटिश प्रथा से भारतीय प्रथा इस सम्बन्ध में भिन्न है। इंग्लैंड में जब महारानी भाषण देने के लिये आती है तब लार्ड चान्सलर क्लर्क की कुर्सी पर बैठता है। लेकिन भारत में अध्यक्ष, राष्ट्रपति या राज्यपाल के साथ मंच पर बैठता है"।[38] उड़ीसा विधान-सभा में हुई एक घटना इस तर्क का समर्थन करती है। वहाँ पर राज्यपाल शौकत-उल्लाह शाह अन्सारी ने अपना भाषण उड़िया में शुरू किया, लेकिन फिर अंग्रेजी में पढ़ना शुरू कर दिया। उस पर कुछ सदस्यों ने आपत्ति करते हुए राज्यपाल को हिन्दी या उड़िया में भाषण पढने के लिये कहा। "अध्यक्ष नन्दकिशोर मिश्र ने सदस्यों से कहा कि चूंकि राज्यपाल इस राज्य में अभी आये है इसलिये उनकी उड़िया भाषा की जानकारी सीमित है। इसलिये उन्होंने सदस्यों को व्यवधान न करने के लिये कहा। जब अध्यक्ष ने यह निर्णय दिया तब कुछ सदस्य सदन से बाहर चले गये।"[39] इसी प्रकार से असम विधान-सभा के विपक्ष के सारे सदस्य विरोध प्रकट करने के लिये उस समय बाहर चले गये जब "बजट सत्र शुरू होने से पहले राज्यपाल विष्णुसहाय के भाषण से पूर्व कुछ सदस्यों को अध्यक्ष ने गणतन्त्र दिवस पर गोहाटी में हुए दंगों पर काम रोको प्रस्ताव पेश करने की आज्ञा नही दी। उसके पश्चात् अध्यक्ष ने राज्यपाल को भाषण पढ़ने के लिये कहा।"[40]

इस प्रकार से हमें इस सम्बन्ध में दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। लेकिन यदि हम इस विषय पर और गहराई से ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि राज्यपाल के भाषण के समय राज्यपाल ही सभापतित्व करता है न कि अध्यक्ष। इसका सबसे पहला कारण तो यह है कि जब राज्यपाल भाषण देता है तो वह सदन की साधारण बैठक नहीं होती अपितु वह एक विशेष बैठक होती है।[41]

दूसरे, यदि हम इस बात को मान लें कि जब राज्यपाल का भाषण होता है, उस समय अध्यक्ष अध्यक्षता करता है तो इसका अर्थ यह होगा कि राज्यपाल पर अध्यक्ष का नियन्त्रण है और अन्य सदस्यों के समान उसे भी अध्यक्ष के आदेश को मानना पड़ेगा। यदि कोई अध्यक्ष राज्यपाल को भाषण देने की ही आज्ञा न दे तो क्या होगा ?[42] लेकिन कलकत्ता,[43] उड़ीसा,[44] और मैसूर[45] उच्च न्यायालयों के अनुसार राज्यपाल के भाषण के

बिना चुनाव के पश्चात् प्रथम तथा प्रत्येक वर्ष का प्रथम सत्र आरम्भ नहीं हो सकता।

तीसरे, इसका अर्थ यह भी होगा कि अध्यक्ष राज्यपाल के भाषण के कुछ अंशों को कार्यवाही से भी निकाल सकता है, और यदि अध्यक्ष ऐसा करे तो वह एक बहुत ही पेचीदा स्थिति होगी। इस के अतिरिक्त जिन राज्यों में द्विसदनात्मक विधानपालिकाएं हैं वहां पर *विधान-सभा का* अध्यक्ष तथा विधान-परिषद् का सभापति दोनों ही राज्यपाल के साथ मंच पर बैठते हैं तो उस समय यह प्रश्न उठेगा कि इकट्ठे दोनों सदनों की बैठक का सभापति कौन होगा ? चूंकि राज्यों की विधानपालिकाओं के दोनों सदनों की इकट्ठी बैठक की संविधान में कोई व्यवस्था नहीं है, इसलिये उसका प्रधान अध्यक्ष या सभापति दोनों में से कोई भी नहीं हो सकता। हालांकि हमारे संविधान में संसद के दोनों सदनों की इकट्ठी बैठक की व्यवस्था है और अनुच्छेद 108 के अनुसार उस बैठक की अध्यक्षता अध्यक्ष द्वारा की जाती है लेकिन उस समय राष्ट्रपति उसमें भाषण नहीं देता। जब अनुच्छेद 87 के अधीन राष्ट्रपति भाषण देता है तब अनुच्छेद 108 के समान संविधान में यह कहीं नहीं कहा गया कि अध्यक्ष उसकी अध्यक्षता करेगा।

इसलिये यह कहा जा सकता है कि जब राज्यपाल, विधानपालिका के सामने अपना भाषण पढ़ता है उस समय उस की अध्यक्षता भी वही करता है। कलकत्ता उच्च न्यायालय इस दृष्टिकोण से सहमत है।[47] इस तर्क का समर्थन इस बात से भी होता है कि राष्ट्रपति का भाषण जब तक अध्यक्ष द्वारा सभा के पटल पर नहीं रख दिया जाता तब तक वह कार्यवाही का भाग नहीं होता। चूंकि अनुच्छेद 176 (1) भी अनुच्छेद 87 (1) की नकल है, इसलिये इस सम्बन्ध में राज्यपाल की स्थिति वही है जो केन्द्र में राष्ट्रपति की, और राष्ट्रपति की इस सम्बन्ध में स्थिति को स्पष्ट करने के लिये "लोकसभा की एक समिति ने यह सिफारिश की है कि संविधान में एक नया अनुच्छेद होना चाहिये जिस में यह स्पष्ट रूप से लिखा जाय कि जब राष्ट्रपति *संसद में भाषण देता है तब वही उसकी अध्यक्षता करता है। इसने यह भी सुझाव दिया* कि राष्ट्रपति को लोकसभा के अध्यक्ष और राज्यसभा के सभापति से परामर्श कर के, भाषण पढ़ने के समय व्यवस्था बनाये रखने के लिये नियाविधि के नियम बनाने चाहियें। यह 15 सदस्यों की समिति उस समय बनाई गई थी जब 23 मार्च, 1971 को संयुक्त सोशलिस्ट सदस्य रामदेव सिंह ने राष्ट्रपति के भाषण में रुकावट डालने का प्रयत्न किया।"[48]

अभिभाषण का सारांश तथा मन्त्रिमण्डल की सलाह

साधारणतया राज्यपाल का भाषण मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किया जाता है। लेकिन कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहां पर राज्यपाल ने अपना भाषण स्वयं लिखने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतया, केरल के राज्यपाल वी० विश्वनाथ ने ऐसा करने का प्रयत्न किया था,[49] लेकिन संविद मन्त्रिमंडल ने राज्यपाल द्वारा तैयार किये गये भाषण के मसौदे को रद्द कर दिया और राज्यपाल से मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किया गया भाषण पढ़ने को कहा। राज्यपाल ने ऐसा ही किया। फिर भी इस सम्बन्ध

में यह तो पूछा ही जा सकता है कि वे कौन सी संवैधानिक सीमाएं हैं जिन के अन्दर मन्त्रिमंडल राज्यपाल के भाषण को तैयार करता है। यह प्रश्न मार्च 1969 में पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल के भाषण के सम्बन्ध में उठा था। राज्यपाल का यह भाषण उस संविद सरकार के मन्त्रिमंडल ने तैयार किया था जिसे नवम्बर 1967 में इसी राज्यपाल ने बरखास्त किया था। मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किये गये इस भाषण में संविद सरकार को 1967 में बरखास्त करने के लिये राज्यपाल तथा केन्द्रीय सरकार की कटु आलोचना की गई थी।[60] राज्यपाल ने मन्त्रिमंडल से उन अंशों को भाषण से निकालने के लिये कहा जिन में उसकी तथा केन्द्रीय सरकार की आलोचना को गई थी।[61] राज्यपाल ने इसका तर्क देते हुए कहा कि जिन अंशों में न तो नीति की बात कही गई है और न ही संयुक्त सरकार की उपलब्धियों का बयान ही है उन्हें उनके भाषण से निकाल दिया जाये। लेकिन मन्त्रिमंडल ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।[62] जब मन्त्रिमंडल ने राज्यपाल के सुझाव को नही माना तो राज्यपाल ने मुख्यमन्त्री को सूचित किया कि वे भाषण के आपत्तिजनक अंशों को नहीं पढ़ेंगे।[63] यहां पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि अनुच्छेद 167 (सी) के अधीन साधारणतया किसी ऐसे विषय को मन्त्रिमंडल के सोच-विचार करने के लिये वापस नही भेजा जा सकता जिस पर मन्त्रिमंडल ने सोच-विचार कर लिया हो। लेकिन ऐसा लगता है कि राज्यपाल का भाषण इसका अपवाद है। यदि ऐसा नहीं होता तो राज्यपाल के उस भाषण को वापस भेजना संभव नहीं होता। हो सकता है कि उसका उत्तर कुछ संवैधानिक विशेषज्ञ यह दें कि वह तो मुख्यमन्त्री ने तैयार किया था, मन्त्रिमंडल ने नहीं। लेकिन जहां तक इस भाषण का सम्बन्ध है, इस पर मन्त्रिमंडल द्वारा उसे राज्यपाल के पास भेजने से पहले विचार किया था।[64]

जब पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने सभा भवन में प्रवेश किया संविद के सारे विधायक जिन में मुख्यमन्त्री भी शामिल थे, अपने स्थानों पर बैठे[65] रहे जो राज्यपाल का अपमान करने का एक अद्वितीय उदाहरण था। मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किये गये भाषण की प्रतिलिपि राज्यपाल की मेज पर रखी हुई थी[66] और सदस्यों को उस की प्रतिलिपियां पहले ही दे दी गई थी[67] जो कि एक असाधारण बात थी, क्योंकि केन्द्र में साधारणतया भाषण की प्रतिलिपियां राष्ट्रपति द्वारा भाषण पढ़े जाने के पश्चात् सदस्यों को दी जाती हैं।[68] राज्यपाल ने उस प्रतिलिपि को एक ओर हटा कर अपने ए० डी० सी० से अपनी प्रतिलिपि ले कर अपना भाषण पढ़ना शुरू कर दिया।[69] उन्होंने अपना भाषण पढ़ते समय भाषण के कुछ अंश, जिस में 535 शब्द थे, छोड़ दिये।[70] इस पर मुख्यमन्त्री ने आपत्ति उठाते हुए कहा, "मैं ऐसा करने पर एतराज करता हूं। आप वही भाषण पढ़ें जो मन्त्रिमंडल ने तैयार किया है।" शुरू में तो राज्यपाल ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया लेकिन फिर कहा "अजय बाबू मैं पहले ही आपको बतला चुका हूं कि मैं यह अंश नहीं पढ़ूंगा"।[71] इसी प्रकार केरल के राज्यपाल वी० विश्वनाथन ने भी अपने भाषण में, जो मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किया था, परिवर्तन किया था।[62]

अब इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि मंत्रिमंडल द्वारा तैयार किये गये भाषण मे से, राज्यपाल द्वारा कुछ अंश निकाल दिया जाना कहा तक उचित है ? इस प्रश्न पर विधि विशेषज्ञ, ससद तथा विधान-सभा सदस्यो, वकीलो तथा राजनीतिज्ञो ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। उदाहरणतया, भूपेश गुप्त के अनुसार "मन्त्रिमडल, राज्यपाल के लिये जो भाषण तैयार करता है उस मे राज्यपाल को परिवर्तन करने का कोई भी सवैधानिक अधिकार नही है क्योंकि राज्यपाल का यह भाषण सरकारी वक्तव्य होता है। कानून, सविधान, प्रथा तथा ब्रिटिश ससदीय पद्धति के सिद्धान्तो के अनुसार, जहा से हम ने इस पद्धति को लिया है, यह स्थिति स्पष्ट है। लेकिन कर्ज लेने वाला कभी-कभी कर्ज देने वाले को भी भूल जाता है क्योंकि उसे याद रखना कभी-कभी उसके हित मे नही होता।"[63] इसी प्रकार से भूतपूर्व ससद सदस्य तथा न्यायाधीश पी एन सप्रू का भी यही विचार था कि सवैधानिक दृष्टि से पश्चिमी बगाल के राज्यपाल ने जो कुछ किया है वह असवैधानिक है क्योंकि राज्यपाल का भाषण सरकार का भाषण होता है और राज्यपाल को उस मे परिवर्तन करने का कोई अधिकार नही है।[64] एस एन द्विवेदी,[65] नम्बूदरीपाद,[66] तथा एच सी चटर्जी[67] का भी यह मत है। मारिस जोन्स के शब्दो मे "यदि राज्यपाल द्वारा दिये गये सुझावो को मन्त्रिमडल, राज्यपाल के भाषण मे शामिल करने से इन्कार कर दे तो राज्यपाल को यह कोई अधिकार नही कि वह मन्त्रिमडल की अनुमति के बिना उसमे कोई परिवर्तन करे।"[68] लोकसभा मे विपक्ष के सब सदस्यो ने भी पश्चिमी बगाल के राज्यपाल की कडी आलोचना की।[69] राज्यपाल का भाषण सरकार का वक्तव्य होता है—इस दृष्टिकोण का समर्थन इस बात से भी होता है कि जब सरकार की राज्यपाल के भाषण के धन्यवाद के प्रस्ताव पर हार हो जाती है तब उसे त्यागपत्र देना पडता है। उत्तर प्रदेश मे चन्द्रभानु गुप्त[70] तथा त्रिभुवन नारायण सिह का उदाहरण हमारे सामने है। यहा पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि पश्चिमी बगाल मे सरकार ने धन्यवाद के प्रस्ताव मे राज्यपाल धर्मवीर की मन्त्रिमडल द्वारा तैयार किये गये भाषण के कुछ अंश न पढने पर आलोचना की थी।[71]

इस मे कोई सन्देह नही कि राज्यपाल का भाषण सरकारी वक्तव्य होता है और साधारणतया राज्यपाल को इसे वैसे ही पढना चाहिये जैसे मन्त्रिमडल ने तैयार किया है। लेकिन सविधान के कुछेक विशेषज्ञो का यह भी विचार है कि कुछ विशेष परिस्थितियो मे राज्यपाल कुछ अंशो को पढने मे इन्कार भी कर सकता है। उदाहरणतया बम्बई के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीप्रकाश ने पश्चिमी बगाल के राज्यपाल धर्मवीर द्वारा भाषण के कुछ अंश न पढने पर समर्थन करते हुए कहा कि "राज्यपाल के भाषण का दलगत नीति से कोई सम्बन्ध नही होता। यह नीति तथा कार्यक्रम से सम्बन्धित वक्तव्य होना चाहिये। यदि हम इस विषय पर इस दृष्टिकोण से सोचें तो धर्मवीर ने उन अंशो को न पढ कर ठीक ही किया है जिन मे उन परिस्थितियो का वर्णन किया गया था जिन मे सविद की सरकार को 1967 मे बरखास्त किया

अधीन सर्वोच्च न्यायालय से मन्त्रणा ले।[84] यदि सर्वोच्च न्यायालय के मतानुसार भाषण के कुछ अंशों से संविधान का उल्लंघन होता हो तो वह मन्त्रिमंडल को आपत्तिजनक अंशों को भाषण में निकालने के लिए कह सकता है। यदि मन्त्रिमंडल आपत्तिजनक अंशों को भाषण में निकालने के लिये तैयार न हो तो राष्ट्रपति के पास उन अंशों को न पढ़ने के अतिरिक्त और कोई भी रास्ता नहीं होगा।

इससे यह परिणाम निकलता है कि केन्द्र में राष्ट्रपति, मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किये गये किसी ऐसे भाषण को नहीं पढ़ेगा जिसके पढ़ने से उसकी शपथ तथा संविधान का उल्लंघन हो, जिसके परिणामस्वरूप उस पर महाभियोग चलाया जा सके। यही स्थिति लगभग राज्यपाल की भी है क्योंकि उससे भी यह आशा नहीं की जानी चाहिये कि वह अपनी शपथ या संविधान का उल्लंघन करेगा। लेकिन अब तक पश्चिमी बंगाल की घटनाओं को छोड़ कर जब कभी भी इस सम्बन्ध में मन्त्रिमंडल तथा राज्यपाल या राष्ट्रपति में मतभेद हुआ है तो राज्यपाल या राष्ट्रपति को ही झुकना पड़ा। उदाहरणतया, चन्दूलाल त्रिवेदी जब आन्ध्र के राज्यपाल थे तो वे राजनैतिक बंदियों को छोड़ने तथा कुछ कर लगाये जाने के बारे में राज्य मन्त्रिमण्डल के दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। लेकिन उन्होंने मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किया हुआ भाषण, जिसमें इन विषयों की भी चर्चा थी, पढ़ा।[85] इसी प्रकार पंडित नेहरू तथा डॉ॰ राजेन्द्रप्रसाद में हिन्दु कोड बिल का राष्ट्रपति के भाषण में शामिल करने के बारे में मतभेद था लेकिन फिर भी राष्ट्रपति ने आपत्तिजनक अंशों को पढ़ने से इन्कार नहीं किया।[86] लेकिन इन बातों में मतभेद नीति पर था, संवैधानिक औचित्य पर नहीं।

जो विधि विशेषज्ञ ब्रिटिश संविधान का उदाहरण देते हैं, वे इस बात को भूल जाते हैं कि हमारे देश में ब्रिटिश संविधान की सारी परम्पराओं पर अमल नहीं होता। उदाहरणतया, विधान सभा को भंग करने के अधिकार का प्रयोग ब्रिटिश परम्परा के अनुसार नहीं होता और अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहां पर राज्यपालों ने मुख्य-मन्त्रियों की विधान-सभा भंग करने की सलाह को मानने से इन्कार कर दिया।[87] यहां तक कि विधान-सभा का सत्र बुलाने में भी राज्यपाल, हमेशा मन्त्रिमंडल की सलाह को नहीं मानते। इस संबंध में पश्चिमी बंगाल का उदाहरण हमारे सामने है।[88] वहां पर राज्यपाल ने यह जिद की थी कि विधान-सभा का सत्र 30 नवम्बर से पहले बुलाया जाये।[89] जब मन्त्रिमंडल ने राज्यपाल के इस सुझाव को नहीं माना तो राज्यपाल ने संविद सरकार को बरखास्त करके उस के स्थान पर दूसरी सरकार को नियुक्त कर दिया।[90] जहां तक विधान सभा को स्थगित करने का सम्बन्ध है वहां पर भी हम ब्रिटिश पद्धति का अनुसरण नहीं करते। अनेक बार जब राज्यपालों ने मुख्यमन्त्रियों की सलाह पर इस अधिकार का प्रयोग किया तब उनकी कटु आलोचना की गई। उदाहरणतया, जब मध्यप्रदेश में द्वारिका प्रसाद मिश्र के कहने पर राज्यपाल ने विधान-सभा का सत्र स्थगित किया तो उसकी संसद में खूब आलोचना की गई थी।

किसी ने उसे संविधान का खून कर दिया[91] गया कहा तो किसी ने उसे असंवैधानिक बतलाया।[92] इसका अभिप्राय यह है कि राज्यपाल को सदा मुख्यमन्त्री के कहने पर सदन को स्थगित नहीं करना चाहिये। यदि इन विषयों पर ब्रिटिश पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि भाषण पढ़ने के संबन्ध में हमें ब्रिटिश पद्धति पर शतप्रतिशत चलना चाहिये।

इस तर्क का समर्थन इस बात से भी होता है कि ब्रिटिश संविधान की बहुत सी प्रथाओं का हमारे संविधान में लिखित वर्णन है, जब कि इस परम्परा का कहीं भी वर्णन नहीं है कि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये गये सारे भाषण को पढ़ेगा। ऐसा लगता है कि यह जानबूझ कर किया गया है। यही नहीं बल्कि संविधान-निर्माताओं ने संविधान में यह लिखने से भी इन्कार कर दिया था कि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल की सलाह को मानने के लिये बाध्य होगा। इससे यह परिणाम निकलता है कि राज्यपाल मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किये गये भाषण को अक्षरश: पढ़ने के लिये बाध्य नहीं है।

अभिभाषण की संवैधानिक सीमाएं

यदि मन्त्रिमण्डल यह चाहता है कि उसके द्वारा तैयार किये हुए भाषण को राज्यपाल अक्षरश: पढ़े तो फिर उसे यह भाषण कुछ संवैधानिक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए लिखना होगा। उदाहरणतया, इस में विधानपालिका को यह सूचना दी जानी चाहिये कि इसका सत्र क्यों बुलाया गया है।[94] अर्थात् यह नीति से सम्बन्धित भाषण होना चाहिये।[95] भारतवर्ष के भूतपूर्व गवर्नर जनरल तथा मद्रास के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने भी यही विचार प्रकट करते हुए कहा है कि "राज्यपाल का भाषण नये मन्त्रिमंडल की नीति का वक्तव्य होता है। मध्यावधि चुनाव से पहले क्या हुआ था, इसके बारे में नये मन्त्रिमंडल के अपने विचार हो सकते हैं, लेकिन उन के यह विचार राज्यपाल द्वारा विधान-सभा में पढ़े जाने वाले भाषण के वैध अंश नहीं हो सकते और न ही उससे यह आशा की जा सकती है कि वह इन्हें अपने विचार मानकर अपने भाषण में पढ़ देगा ...भाषण के जिन अंशों को पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने पढ़ने से इन्कार किया था उनका मध्यावधि चुनाव की घटनाओं से सम्बन्ध था। इसलिये इस विषय पर पश्चिमी बंगाल के मन्त्रिमण्डल तथा कुछ दूसरे लोगों ने जो तूफान खड़ा कर रखा है वह मेरी समझ में नहीं आता क्योंकि उनका कोई औचित्य नहीं है।"[96] इस विचार का समर्थन कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी किया है, उसके विचार में भाषण निरर्थक तथा केवल औपचारिक रस्म ही नहीं है क्योंकि संविधान में इसके उद्देश्य अर्थात् "विधानपालिका को बुलाए जाने के कारणों के बारे में कहा गया है। इस भाषण में कार्यकारी नीतियों तथा विधायी कार्यक्रम की घोषणा की जानी चाहिये और चूंकि प्रत्येक वर्ष का प्रथम सत्र बजट सत्र भी होता है, इसलिए इस भाषण से यह आशा की जाती है कि इस द्वारा सदस्यों का ध्यान उस खर्च की

ओर दिखाया जाएगा जिसे सरकार प्रशासन चलाने के लिये करना चाहती है।"[97] इसका अर्थ यह है कि मूलतः वह वक्तव्य नीति से सम्बन्धित होना चाहिये।

इंग्लैंड में तो विशेषकर यही होता है। उदाहरणतया, एल० ए० अब्राहम जो हाऊस ऑफ कामन्स की समितियों के भूतपूर्व प्रमुख क्लर्क थे, और हातरे ने जो हाऊस ऑफ कामन्स के जनरल के क्लर्क थे, एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम "पार्लियामेन्ट्री डिक्शनरी" है। उसमे महारानी के भाषण की परिभाषा दी गई है जो निम्नलिखित है

> जब सत्र के आरम्भ मे महारानी ससद का उद्घाटन करती हैं वह एक भाषण पढती हैं जो उसके मन्त्रियो द्वारा तैयार किया जाता है। इसमे उन नीतियो की चर्चा होती है जिन पर वे चलना चाहते है तथा उन कानूनो की ओर सकेत होता है जो वे उस सत्र मे बनाना चाहते हैं।[98]

लेकिन यह दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश मे ऐसा नही है। उदाहरणतया, इस वादविवाद पर बोलते हुए एम० एन० कौल ने कहा कि "भाषण के सम्बन्ध मे पहला प्रश्न तो यह उठाया गया है कि इसका क्षेत्र क्या है ? जहाँ तक भाषण के क्षेत्र का सम्बन्ध है सरकार ने सविधान का हवाला देते हुए दूसरे सदन मे कहा है कि इस वक्तव्य मे सत्र के बुलाये जाने के कारणो तथा कार्यक्रम की चर्चा होनी चाहिये। यदि सविधान की कानूनी ढग से व्याख्या की जाये और ब्रिटिश परम्पराओ का पालन किया जाये तो वस्तुस्थिति यही है। लेकिन मुझे इस समस्या की जड का पता है। 1952 मे मुझे प्रधानमन्त्री नेहरू के कमरे मे बुलाया गया और उन्होने मुझ से इस बारे मे पूर्वोउदाहरण (precedents) पूछे, मैने उन्हे पूर्वोउदाहरण दिखाये। उन्होने कहा, 'नही हम इन्हे मानने के लिए बाध्य नही है। हम अपनी परम्पराओं की तथा पूर्वोउदाहरणो की स्थापना स्वय करेंगे। मैं नही चाहता कि राष्ट्रपति का भाषण महारानी के भाषण के समान मल्पाक्षरिक हो जिस मे केवल विधायी कार्यक्रम की ही चर्चा हो।' वे इसके क्षेत्र को विस्तृत करना चाहते थे। इस प्रकार से स्वय नेहरू ने 1952 मे इसके क्षेत्र को विस्तृत किया और यह प्रथा अब भी चल रही है। 17 फरवरी 1969 को राष्ट्रपति द्वारा दिया गया भाषण इसका अब से कुछ दिन पहले का उदाहरण है जिसमे कहा गया है कि पिछले वर्ष के कार्यक्रम का विश्लेषण करने का यह उचित अवसर है।"[99]

इस मे कोई सन्देह नही कि कुछ सीमाओं मे रहते हुए राज्य सरकार राज्यपाल के भाषण के माध्यम से केन्द्रीय सरकार की आलोचना कर सकती है। यदि राज्य को विकास सम्बन्धी कार्यों के लिये केन्द्र से पर्याप्त धन न मिले तो वह उसकी आलोचना कर सकती है। उदाहरणतया, केरल के राज्यपाल वी विश्वनाथ ने विधान-सभा के बजट सत्र का उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय सरकार की सैन्ट्रल सैक्टर प्राजेक्ट्स की स्थापना तथा वित्तीय सहायता देने मे राज्य की उपेक्षा करने के लिये आलोचना की।[100] कुछ सीमा तक केन्द्र तथा राज्यों के वित्तीय तथा प्रशासकीय सम्बन्धो की

भी आलोचना की जा सकती है। लेकिन केन्द्र तथा राज्य के सम्बन्धों के कुछ पक्ष ऐसे भी होते हैं जिन की विधान-सभा में संवैधानिक दृष्टि से चर्चा नहीं की जा सकती। उदाहरणतया, प्रशासकीय क्षेत्र में अनुच्छेद 257 के अधीन केन्द्र राज्य-सरकार को जो हिदायतें देता है, यदि राज्य सरकार उन्हें न माने तो केन्द्र अनुच्छेद 365 के अनुसार वैधानिक तन्त्र फेल होने की घोषणा कर सकता है।

यदि चुनाव के पश्चात् उस दल की सरकार फिर बन जाये जिसे बरखास्त किया गया था तो वह सरकार राज्यपाल के भाषण के माध्यम से इस बरखास्तगी को अप्रजातन्त्रात्मक, असंवैधानिक तथा अवैध नहीं कह सकती और यदि वह ऐसा कहने का प्रयत्न भी करे तो राज्यपाल के पास भाषण के उन अंशों को न पढ़ने के अतिरिक्त और कोई भी चारा न होगा। इसी प्रकार राज्यपाल की रिपोर्ट पर या स्वयं, यदि केन्द्रीय सरकार अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन लागू कर दे, या राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के पास भेजे हुए बिल पर राष्ट्रपति द्वारा अनुमति न दिये जाने के बारे में भी उसे अनुचित, मनमाना या अवैध कह कर राज्यपाल के भाषण के माध्यम से राज्य सरकार आलोचना नहीं कर सकती, और यदि मन्त्रिमंडल राज्यपाल के भाषण में ऐसे अंश डाल भी दे तो राज्यपाल इन्हें पढ़ने से इन्कार कर सकता है। इसी प्रकार यदि केन्द्रीय सरकार राज्यपाल को राज्य सरकार की इच्छा के विरुद्ध नियुक्त करदे—जैसा कि बिहार में कानूनगो की नियुक्ति के समय हुआ था, या जब केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार द्वारा राज्यपाल को वापस बुलाने की सिफारिश को मानने से इन्कार कर दे जैसा कि धर्मवीर के बारे में पश्चिमी बंगाल में हुआ था —तो भी राज्यपाल के भाषण के माध्यम से केन्द्रीय सरकार की आलोचना नहीं की जा सकती।

पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल के लिए तैयार किये गये भाषण में राष्ट्रपति शासन लागू करने की बुरी तरह से आलोचना की गई थी और उसे अप्रजातन्त्रात्मक तथा असंवैधानिक कहा गया था। उसमें राज्यपाल की भी कटु आलोचना की गई थी। यह सब कुछ होते हुए राज्यपाल भाषण को कैसे पढ़ सकते थे क्योंकि राष्ट्रपति शासन तो उन की ही सिफारिश पर लागू किया गया था। उन के लिये कोई औचित्य था या नहीं यह दूसरी बात थी। यहां पर केन्द्रीय सरकार की आलोचना स्वयं उन की अपनी आलोचना हो जाती, क्योंकि यह उन की अपनी सिफारिश पर लागू हुआ था। अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करते समय राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करता है और यदि उस द्वारा किया गया स्थिति का मूल्यांकन, मन्त्रिमंडल द्वारा किये गये स्थिति के मूल्यांकन से भिन्न होता है तो संवैधानिक दृष्टि से विधान-सभा में उसकी आलोचना नहीं की जा सकती। इस पर संसद में अवश्य ही आलोचना हो सकती है।

राज्यपाल के भाषण में उन विषयों पर भी चर्चा नहीं हो सकती जिन पर संवैधानिक दृष्टि से विधान-सभा में बहस नहीं हो सकती। उदाहरणतया, उच्च या सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के व्यवहार के बारे में विधान-सभा में बहस नहीं हो सकती,[101]

और यदि मन्त्रिमंडल राज्यपाल के भाषण में न्यायाधीश वी सी मित्रा के बारे में जिन्होंने संविद सरकार की बरखास्तगी को वैध ठहराया था,[102] अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता तो क्या राज्यपाल उसे पढ़ सकता था ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-कभी सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों की भी आलोचना की जा सकती है और विधायक उन निर्णयों पर अपना मत प्रकट कर सकते हैं जैसा कि नाथ पई के बिल पर बहस करते समय सदस्यों ने सर्वोच्च न्यायालय के उस निर्णय की खूब आलोचना की थी जो उसने गोलकनाथ के मुकद्दमे में दिया था।[103] मन्त्रिमंडल राज्यपाल के भाषण के माध्यम से बी सी मित्रा के निर्णय के बारे में जो कुछ कहना चाहता था वह इस सीमा के अन्दर नहीं था क्योंकि उस में पश्चिमी बंगाल सरकार की बरखास्तगी को, "हठधर्मी तथा असंवैधानिक" कहा गया था। यह निर्णय की ही नहीं बल्कि न्यायाधीश की आलोचना थी, और ए के सेन के मतानुसार इस वाक्य को पढ़ने से "कलकत्ता उच्च न्यायालय की मान हानि होनी थी।"[104]

इसके अतिरिक्त एक और कारण से भी इस वाक्य को राज्यपाल नहीं पढ़ सकता था और वह कारण यह था कि उस समय पश्चिमी बंगाल की सरकार की बरखास्तगी का मामला सर्वोच्च न्यायालय के विचाराधीन था क्योंकि कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध वहां पर अपील की गई थी।[105] मन्त्रिमंडल का इस बारे में चाहे कुछ भी विचार हो राज्यपाल किसी भी ऐसे वाक्य को नहीं पढ़ सकता था जिस में उच्च न्यायालय की शान हानि हो। वास्तविकता तो यह है कि संविधान के अनुच्छेद 200 के अधीन उच्च न्यायालय की रक्षा करना राज्यपाल का संवैधानिक कर्त्तव्य है। चूंकि जिस वाक्य को राज्यपाल ने पढ़ने से इन्कार किया था "उस में न्यायिक निर्णय को चुनौती दी गई थी",[106] इस लिये राज्यपाल के पास उसे न पढ़ने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था।

राज्यपाल का भाषण उस शपथ के अनुसार होना चाहिये जो वह संविधान के अनुच्छेद 159 के अधीन लेता है। इस अनुच्छेद के अधीन वह संविधान की रक्षा करने की शपथ लेता है। यदि मन्त्रिमंडल उसका भाषण ऐसे तैयार करे जिससे इसका उल्लंघन होता हो तो राज्यपाल के लिये उसे पढ़ना अनुचित होगा।[107] जैसे केन्द्र में राष्ट्रपति को संविधान के उल्लंघन के लिये महाभियोग द्वारा उसके पद से हटाया जा सकता है वैसे ही शपथ के उल्लंघन के लिये राज्यपाल को राष्ट्रपति उस पद से हटा सकता है।

यदि मन्त्रिमंडल यह चाहता है कि उस द्वारा तैयार किये गये भाषण को राज्यपाल अक्षरशः पढ़े तो फिर उस में ऐसी कोई बात नहीं लिखी जानी चाहिये जिस में स्वयं राज्यपाल की निन्दा की गई हो। पश्चिमी बंगाल की सरकार ने ठीक यही किया था।

उदाहरणतया, उस भाषण में कहा गया था कि "आप सदन को मालूम है कि किस प्रकार से जनता द्वारा निर्वाचित संविद सरकार को इस सदन की सलाह के बिना

21 नवम्बर 1967, को हठधर्मी और असंवैधानिक ढंग से पद से हटा कर जल्दी मे उसके स्थान पर दल बदलने वालों की अल्पमत सरकार की स्थापना की गई थी।"[108] राज्यपाल द्वारा मन्त्रिमंडल को बरखास्त किये जाने को "बड़ी बेशर्मी से संविधान का उल्लंघन कहते हुए शक्ति अपहरण"[109] "मनमाना सत्तावाद",[110] "संविधान का उल्लंघन"[111] "जनता की इच्छाओं का उल्लंघन करने वाले आपत्तिजनक दाव पेच"[112] कहा गया था। राज्यपाल से यह आशा कैसे की जा सकती थी कि वह विधान-सभा में यह कहेगा कि उसने संविद सरकार को बरखास्त करके अवैध कार्य किया था, विशेपकर उस समय जब कलकत्ता उच्च न्यायालय उस को वैध घोषित कर चुका था। मन्त्रिमंडल, राज्यपाल के भाषण में यह शब्द डालकर स्वयं उससे उसी की निन्दा तथा कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय की आलोचना करना चाहता था। राज्यपाल से यह आशा नहीं की जाती कि वह इस प्रकार से अपनी शपथ का उल्लंघन करते हुए स्वयं अपनी निन्दा करेगा जो कि इसके अतिरिक्त न्यायालय की मान हानि भी होती। इस लिये राज्यपाल ने उन वाक्यों को न पढ़ कर ठीक ही किया।

मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किये गये राज्यपाल के भाषण में उन विशेष अधिकारों के प्रयोग के लिये उनकी चर्चा नहीं की जानी चाहिये जिन का वह प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करता है। ये विशेष अधिकार दो प्रकार के हैं। इन में से कुछ विशेष अधिकारों का तो लिखित रूप में संविधान में वर्णन किया गया है[113] तथा कुछ विशेष अधिकार ऐसे हैं जिनका संविधान में लिखित रूप से वर्णन तो नहीं किया गया लेकिन वैसे राज्यपाल उनका प्रयोग करते समय अपने विवेक का प्रयोग करता है। उदाहरणतया, मुख्यमन्त्री की नियुक्ति तथा उसकी बरखास्तगी में वह अपने विवेक का कुछ परिस्थितियों में प्रयोग करता है। मुख्यमन्त्री की नियुक्ति तथा बरखास्तगी के सम्बन्ध में तो कलकत्ता न्यायालय ने यह निर्णय दे ही दिया है कि इन विषयों के बारे में राज्यपाल को पूर्ण शक्तियां है।[114] इस सम्बन्ध में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि "यदि किसी विषय के बारे में यह प्रश्न उठे कि क्या उस विषय पर वह अपने विवेक का प्रयोग करेगा या नहीं तो उस पर राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा और उस निर्णय को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।"[115]

यदि इन अधिकारों का प्रयोग करते समय राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करे तो उनके बारे में राज्यपाल के भाषण में कोई अपत्तिजनक बात नहीं कही जा सकती। क्या राज्यपाल का अपमान इस लिए किया जाना चाहिये कि उस ने किसी व्यक्ति विशेष से सरकार बनाने को नहीं कहा या मन्त्रिमंडल की सिफारिश पर विधान-सभा भंग करने से इन्कार कर दिया था? यदि मन्त्रिमंडल ऐसा करने का प्रयत्न करे तो राज्यपाल का यह संवैधानिक अधिकार है कि वह अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए उन वाक्यों को पढ़ने से इन्कार करदे।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि राज्यपाल के भाषण का विषय संवैधानिक

औचित्य की सीमा के अन्दर नहीं है तो वह आपत्तिजनक वाक्यों को पढ़ने से इन्कार कर सकता है।

लेकिन इस सम्बन्ध में समस्या यह है कि यह कैसे मालूम किया जाये कि भाषण संवैधानिक औचित्य की सीमा में है या नहीं। हालांकि संवैधानिक औचित्य या अनौचित्य का ठीक मापदण्ड करना तो कठिन है लेकिन फिर भी इसके लिये कुछ मार्गदर्शक सिद्धान्त अवश्य ही निश्चित किये जा सकते हैं और उनका एक सिद्धान्त तो यह है कि यदि कभी राज्यपाल का पद खाली होने पर या उसके अस्वस्थ होने पर उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश अनुच्छेद 160 के अधीन राज्यपाल के पद पर कामचलाऊ रूप से काम कर रहा हो तो क्या वह उस भाषण को पढ़ सकेगा या नहीं —यह एक पहला मापदण्ड हो सकता है। यदि वह उसे पढ़ सकता है तो राज्यपाल भी साधारणतया उसे पढ़ने से इन्कार नहीं करेगा। यदि राज्यपाल के भाषण में राज्य की देश से पृथक्ता (secession), राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने, अथवा स्वयं राज्यपाल के त्यागपत्र की मांग की जाये तो फिर राज्यपाल उसे कैसे पढ़ेगा? इस पक्ष में बोलते हुए तत्कालीन विधि मन्त्री पी. गोविन्दा मेनन ने राज्य सभा में कहा कि "यह कहना तो आसान है कि राज्यपाल को वह सब कुछ करना चाहिये जिसके बारे में, मन्त्रिमंडल सलाह दे। मैं इस सम्बन्ध में आदरपूर्ण यह कहूंगा कि कुछ विषयों के बारे में स्थिति यह नहीं है। उदाहरणतया अनुच्छेद 200 देखिये, मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किये गए भाषण की अपेक्षा कानून का अधिक महत्त्व है क्योंकि वह तो सारे सदन द्वारा पास किया जाता है। लेकिन फिर भी अनुच्छेद 200 में राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी ऐसे बिल को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये न भेजे जिस से उच्च न्यायालय की शक्तियां कम होती हों या उसकी संवैधानिक स्थिति पर प्रभाव पड़ता हो। इस के अतिरिक्त क्या उस का पद ऐसा है कि वह मन्त्रिमंडल की प्रत्येक बात पर आंख बन्द करके हस्ताक्षर कर दे? उसकी यह स्थिति नहीं है।"[116]

सैय्यद अब्दुल मन्सूर हबीबउल्लाह बनाम अध्यक्ष पश्चिमी बंगाल विधान-सभा में इस दृष्टिकोण का समर्थन कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी किया है। उसके अनुसार "भाषण लिखित या अलिखित हो सकता है।" लेकिन संविधान के अनुच्छेद 176 तथा क्रियाविधि के उपनियम (1) और (2) को पढ़ने के पश्चात् मुझे यह कहने में कोई सन्देह नहीं है कि अनुच्छेद 176 के अधीन भाषण देना होगा चाहे ऐसा करने के लिये लिखित मसौदे को ही क्यों न पढ़ा जाये।[117]

इस निर्णय में यह स्पष्टतया कहा गया है कि भाषण "लिखित या अलिखित" हो सकता है और यदि यह अलिखित भी हो सकता है तो उसका अर्थ यह है कि राज्यपाल के भाषण के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह मन्त्रिमण्डल द्वारा ही तैयार किया जाये।

राज्यपाल का भाषण सभा पटल पर रखना

जब राज्यपाल के भाषण में कुछ आपत्तिजनक वाक्य हों तो क्या राज्यपाल उन अंशों को पढ़ने के स्थान पर भाषण के कुछ वाक्य पढ़ कर शेष को सभा के पटल पर रख कर अपने संवैधानिक कर्त्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता? ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहां पर भाषण, विधान-सभा के पटल पर रखे जाने के पश्चात् पढ़ा हुआ मान लिया गया है। उदाहरण के लिए पश्चिमी बंगाल में जब धर्मवीर शोर के कारण अपने भाषण को नहीं पढ़ सके तो उन्होंने अपना भाषण विधान-सभा पटल पर रख दिया और वह पढ़ा हुआ मान लिया गया था।[118]

उससे पहले वहीं पर पद्मजा नायडू भी एक बार अपना पूरा भाषण न पढ़ सकी थीं क्योंकि वह अस्वस्थ थीं। उन्होंने अपने भाषण के केवल कुछ शब्द ही बोले थे, लेकिन कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भाषण पढ़ा हुआ मान लिया था।[119]

इसी प्रकार से जब राजस्थान के राज्यपाल डॉ० सम्पूर्णानन्द विपक्ष के उपद्रव के कारण अपना भाषण नहीं पढ़ सके तब उन्होंने केवल अन्तिम वाक्य पढ़ कर अपने भाषण को समाप्त कर दिया था और वह भाषण भी पढ़ा हुआ माना गया था।[120] उस समय विधान-सभा के अध्यक्ष रामनिवास मिर्धा ने यह निर्णय दिया था कि राज्यपाल की उपस्थिति से ही अनुच्छेद 176 का संवैधानिक कर्त्तव्य पूरा हो जाता है। इससे पहले भी राजस्थान में आंशिक रूप से पढ़े गये राज्यपाल के भाषण को पढ़ा हुआ मान लिया गया था।[121] इस निर्णय के आधार पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि राज्यपाल अपने भाषण को पढ़ने का प्रयास किए बिना उसे विधान-सभा पटल पर रख कर कहां तक अपने संवैधानिक कर्त्तव्य को पूरा कर सकता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भाषण का अर्थ होता है बोलना और बोलने का प्रयास किये बिना राज्यपाल अपने संवैधानिक कर्त्तव्य को पूरा नहीं कर सकता।[122] यदि प्रयास करने के पश्चात् वह ऐसा करने में विफल हो जाये तो फिर वह अपने भाषण को विधान-सभा पटल पर रख कर अपने संवैधानिक कर्त्तव्य को अवश्य ही पूरा कर सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्यपाल के लिए सारा भाषण पढ़ना आवश्यक नहीं है और वह कुछ अंश पढ़ने के पश्चात् उसे सभा पटल पर रख कर अपने संवैधानिक कर्त्तव्य को पूरा कर सकता है। लेकिन उस स्थिति में सारा भाषण जो कुछ लिखा हुआ है, वह सारा ही पढ़ा हुआ माना जायेगा। इसलिए यदि वह आपत्तिजनक अंशों को न पढ़कर भी उसे सभा के पटल पर रखे तो उससे भी उसकी शपथ तथा संविधान का उल्लंघन नहीं होता। इसलिये राज्यपाल के पास आपत्तिजनक वाक्यों को न पढ़ने के अतिरिक्त अन्य कोई और चारा नहीं है। उदाहरणतया, पश्चिमी बंगाल विधान-सभा के सचिव पी० राय ने कहा, "संविद मन्त्रिमण्डल द्वारा तैयार किया गया सारा भाषण सदन की कार्यवाही का अंग होगा क्योंकि जब राज्यपाल ने आपत्तिजनक वाक्यों को पढ़ने से इन्कार कर दिया तब मुख्यमन्त्री ने उनकी चर्चा की थी। भाषण की प्रति-

लिपि को पटल पर रखते हुए अध्यक्ष ने भी उन वाक्यों का जिक्र किया था। राज्य-पाल के भाषण के लिए जो धन्यवाद का प्रस्ताव पास किया गया है, उसमें भी उन वाक्यों की चर्चा है। लेकिन वे आपत्तिजनक वाक्य "राज्यपाल के भाषण का भाग नहीं है।"[123]

यह आश्चर्यजनक बात है कि पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल धर्मवीर ने तो विधानपालिका की बैठक में आपत्तिजनक वाक्यों को पढ़ने से इन्कार कर दिया, परन्तु पंजाब के राज्यपाल ने ऐसा नहीं किया हालांकि उनके भाषण में भी कुछ अंश ऐसे थे जो सवैधानिक दृष्टि से आपत्तिजनक थे। उदाहरणतया, राज्यपाल द्वारा अपने भाषण में यह पढ़ना सवैधानिक दृष्टि से कहां तक उचित है कि "मार्च 1968 में विधान-सभा का बजट सत्र देश के प्रजातन्त्र के इतिहास का अशुभ और दुखदायक अध्याय है। पंजाब विधान-सभा के पवित्र भवन में पुलिस को बुलाया गया और तथाकथित वार्षिक बजट के पास करते समय सवैधानिक अधिकारों तथा परम्पराओं का बुरी तरह से उल्लंघन किया गया। 1968-1969 के बजट के लिये 18 36 30690 तथा 287,70 93070 रुपए की राशि का बजट मिनटों में पास कर दिया गया। मेरी सरकार का यह पूर्ण विश्वास है कि इन पवित्र सिद्धान्तों तथा परम्पराओं के उल्लंघनों से प्रजातन्त्र को भारी खतरा है। हमने इस घटना की सर्वोच्च स्तर पर जांच कराने का पक्का विचार कर रखा है ताकि भविष्य में ऐसा न हो।"[124]

जहां तक विधान-सभा भवन में पुलिस लाने तथा उच्च स्तर पर जांच करने का सम्बन्ध है, यह उस समय के अध्यक्ष के व्यवहार की आलोचना है क्योंकि पुलिस विधान-सभा में अध्यक्ष के आदेश के बिना नहीं आ सकती। यदि विधायकों का यह विचार था कि अध्यक्ष ने पुलिस को विधान-सभा भवन में बुलाकर सवैधानिक अधिकारों तथा परम्पराओं का उल्लंघन किया है तो उन्हें उसी समय उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव लाना चाहिये था। उस घटना के इतने दिनों पश्चात् जब वह विधान-सभा भंग हो चुकी थी और वह अध्यक्ष भी पद पर नहीं था, उस घटना की जांच का कोई अर्थ नहीं था।[125]

इस के अतिरिक्त यह वाक्य कि "तथाकथित वार्षिक बजट के पास करते समय सवैधानिक अधिकारों तथा परम्पराओं का बुरी तरह से उल्लंघन किया गया," सभवतः बजट पास करने में जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया गया था उस की ओर सकेत करता है। सवैधानिक अधिकारों तथा परम्पराओं का बुरी तरह से उल्लंघन तब हो सकता है जब उचित क्रियाविधि का अनुसरण न किया गया हो या जिस क्रियाविधि का अनुसरण किया गया उस की सदिग्ध सवैधानिक वैधता हो। जहां तक क्रिया-विधि की वैधता का सम्बन्ध है सर्वोच्च न्यायालय ने उसे वैध घोषित किया है और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के पश्चात् उस पर सन्देह करना उस के निर्णय को स्वीकार न करने के समान है। यह सर्वोच्च न्यायालय की निन्दा तथा मान हानि है। इस के अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाये कि उचित क्रियाविधि

का पालन नहीं किया गया तो फिर भी उसे न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।[126] उसके लिये अनुच्छेद 179 (सी) के अधीन उसी समय अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया जाना चाहिये था और जब उस समय वह व्यक्ति अध्यक्ष के पद पर था ही नहीं तो जाच पड़ताल क्या और किस के विरुद्ध हो सकती थी।

इस भाषण से ऐसा लगता है कि राज्यपाल ने न केवल संविधान के अनुच्छेद 212 (2) का ही उल्लंघन किया है बल्कि सर्वोच्च न्यायालय की भी निन्दा की है जो न्यायालय की मान हानि है। राज्यपाल ने इस वाक्य को नहीं पढ़ना चाहिये था क्योंकि यह उसकी शपथ का उल्लंघन था। पंजाब के राज्यपाल ने संभवतः ऐसा इस लिये किया क्योंकि वह पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल जैसी स्थिति पैदा नहीं करना चाहते थे। लेकिन संवैधानिक दृष्टि से पंजाब के राज्यपाल ने जो कुछ पढ़ा वह अनुचित था।[127] इसी कारण से जब विधान-परिषद् में इस विषय पर बहस हुई तब अध्यक्ष डी० डी० खन्ना ने कहा कि 'राज्यपाल ने स्वयं अपनी निन्दा की है।'[128]

इसलिये यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल के लिये मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किया गया भाषण पढ़ना आवश्यक नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि राज्यपाल तीन स्थितियों में कार्य करता है। एक तो वह राष्ट्रपति के एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। दूसरे, वह राज्य का संवैधानिक प्रमुख है और तीसरे, उस के पास कुछ विवेकीय शक्तियां हैं। इसलिये राज्यपाल के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए हमें इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिये। वह अपने भाषण में राष्ट्रपति की आलोचना नहीं कर सकता। इसलिये राज्यपाल का भाषण कुछ संवैधानिक सीमाओं के भीतर तैयार किया जाना चाहिये। एस० एन० कौल ने यह ठीक ही कहा है कि "राज्यपाल को उस के भाषण के माध्यम से अपनी ही निन्दा, स्वयं करने के लिये विवश नहीं किया जा सकता।"[129]

संदर्भ

1. 'ए. आई. आर.', 1952, उड़ीसा 235.
2. वही।
3. वही।
4. यह अभिभाषण यदि न दिया जाये तो उसका एक परिणाम यह होता है कि विधायकों को प्रशासन की नीतियों तथा कार्यक्रमों के बारे में मालूम नहीं होगा और उसके परिणामस्वरूप उन्हें विधान-सभा के वाद विवाद तथा बजट की आलोचना के सम्बन्ध में कठिनाई आयेगी। इसी अनुच्छेद 176 द्वारा राज्यपाल को यह संवैधानिक कर्तव्य दिया गया है कि वह वार्षिक सत्र की प्रथम बैठक में विशेष भाषण दे। अनुच्छेद 176 में जो राज्यपाल के भाषण की व्याख्या की गई है वह ऐच्छिक नहीं अनिवार्य है।

सभापति द्वारा नामसूची तैयार की जाती है। नियमों के तीसरे उप-खण्ड में नियम 10 आता है जिसमें राज्यपाल के अभिभाषण की व्यवस्था की गई है और जिसमें यह कहा गया है कि राज्यपाल "प्रत्येक सत्र के आरम्भ होने पर भाषण देगा।"

14. सर्वाकार बनाम उड़ीसा विधान-सभा, 'ए. आई. आर.', 1952, उड़ीसा 235.
15. वही।
16. वही।
17. 'दि ट्रिब्यून', अक्तूबर 11, 1966.
18. 'कमेन्ट्री ऑन दि कान्स्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया', पांचवां संस्करण, वाल्यूम 2, पृष्ठ 526.
19. इस बात को भी याद रखना चाहिये कि राष्ट्रपति या राज्यपाल का आरम्भिक भाषण निम्न या उच्च सदन की कार्यवाही का भाग नहीं है हालांकि उसका भाषण दोनों सदनों की कार्यवाही में प्रकाशित किया जाता है लेकिन यह कार्यवाही का भाग नहीं होता।
'स्टेट गवरनर्स इन इण्डिया', 1966, पृष्ठ 79.
20. एम. एन कौल तथा एस. एल. शकधर, 'प्रेक्टिस एंड प्रोसिजर आफ पार्लियामेंट', 1968, पृष्ठ 132-133.
21. वही, पृष्ठ 132-133.
22. योगेन्द्र नाथ बनाम राज्य, 'ए. आई. आर.', 1967, राजस्थान 125.
23. वही।

87 1967 के पश्चात् उत्तर प्रदेश में चरण सिंह, पंजाब में गुरनाम सिंह, मध्यप्रदेश में राजा नरेन्द्र सिंह, बिहार में कर्पूरी ठाकुर की सिफारिश पर विधान-सभा भंग नहीं की गई।

88 'दि टाइम्स ऑफ इंडिया', 17 नवम्बर 1967, पृष्ठ 1

89 वही।

90 'दि स्टेट्समैन', 22 नवम्बर 1967, पृष्ठ 1

91 वही, 24 जुलाई 1967, पृष्ठ 1

92 'दि इंडियन एक्सप्रेस', 25 जुलाई 1967, पृष्ठ 7

93 'दि ट्रिब्यून' 13 मार्च 1969, पृष्ठ 2

94 अनुच्छेद 176 (1)

95 बी. शिवाराव तथा अन्य, 'फ्रेमिंग आफ इंडियाज कान्स्टिट्यूशन', वाल्यूम 4, पृष्ठ 100

96 'दि स्टेट्समैन', 13 मार्च 1969, पृष्ठ 1

97 सैय्यद अब्दुल तथा पश्चिमी बंगाल विधान-सभा, 'ए आई आर', 1966, कलकत्ता 369

98 पी. गोविन्दा मेनन, विधि मन्त्री, राज्यसभा डिबेट्स', वाल्यूम् 47, नम्बर 21, 17 मार्च 1969, कॉलम 4295

99 'राज्यसभा डिबेट्स', वाल्यूम् 42, नम्बर 21, 17 मार्च 1969, कॉलम 4275-76

100 'दि ट्रिब्यून', 26 जनवरी 1968, पृष्ठ 1

101 अनुच्छेद 211

102 'दि स्टेट्समैन', 7 फरवरी 1968, पृष्ठ 1

103 'राज्यसभा डिबेट्स', 17 मार्च 1969, कॉलम 4212

104 'दि टाइम्स आफ इंडिया', 13 मार्च 1969, पृष्ठ 13

105 वही, अप्रैल 4, 1969 पृष्ठ 11

106 'दैट्रिब्यून', मार्च 12, 1969, पृष्ठ 1

107 गोविन्दा मेनन, विधि मन्त्री, 'राज्यसभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 47, नम्बर 21, मार्च 17, 1969, कालम 4269

108 वही, कॉलम 4242

109 'दि स्टेट्समैन', मार्च 7, 1969, पृष्ठ 1

110 वही।

111 वही।

112 वही।

113 अनुच्छेद 239 (2)

114 'दि स्टेट्समैन', फरवरी 7, 1968 पृष्ठ 1

115 अनुच्छेद 163 (2)

116 'राज्यसभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 47, नम्बर 21, मार्च 17, 1969, कालम 4290-91

117 'ए आई आर', 1966, कलकत्ता 363

118. धर्मवीर ने कहा कि "जब मैं अपना भाषण देने के लिये विधान-सभा भवन में गया तो संविद विधायकों ने मेरे विरुद्ध प्रदर्शन किया और मुझे विधान-सभा भवन में जाने से रोकने का प्रयास किया। मैं दूसरी तरफ के द्वार से विधान-सभा भवन में जाने में सफल हो गया और मैंने अपना भाषण बहुत ही हुल्लड़बाजी के बीच शुरू किया। मैं बहुत हुल्लड़बाजी के कारण भाषण के केवल कुछ अंश ही पढ़ सका। फिर मैं वापस चला आया।"
'दि इंडियन एक्सप्रेस', फरवरी 22, 1968, पृष्ठ 6.

119. पश्चिमी बंगाल विधान-सभा का सत्र 8 फरवरी 1965 को बुलाया गया था। राज्यपाल अनुच्छेद 176 के अनुसार भाषण देने के लिये गईं। जब उन्होंने अपना भाषण आरंभ किया तो उस समय बहुत शोर था। उन्होंने सदस्यों को चुप रहने के लिये कहा लेकिन वे नहीं माने। फिर वह "विधान-सभा छोड़ कर चली गईं क्योंकि उन्होंने कहा कि जब वे उसे सुनने को तैयार नहीं तो फिर उसके भाषण दिये जाने का कोई अर्थ नहीं। राज्यपाल के चले जाने के पश्चात अध्यक्ष ने उन के भाषण की प्रतिलिपि विधान-सभा पटल पर, क्रियाविधि के नियम 165 (2) के अनुसार रखी। उस समय यह प्रश्न उठा था कि क्या राज्यपाल ने अनुच्छेद 176 के अनुसार भाषण दिया है या नहीं? उस समय कलकत्ता उच्च न्यायालय ने निर्णय देते हुए कहा कि "राज्यपाल के भाषण की प्रतिलिपि पटल पर रखने से भाषण का उद्देश्य बहुत हद तक पूरा हो गया है क्योंकि भाषण की सामग्री का सदस्यों को पता चल गया। लेकिन क्या सभा पटल पर भाषण रखना, भाषण देने का स्थान ले सकता है? साधारणतया इसका उत्तर नहीं में होगा। लेकिन इस 'नहीं' के ऊपर का एक अपवाद भी है। जहां पर संविधान राज्यपाल को एक कर्तव्य सौंपता है और राज्यपाल वह कर्तव्य पूरा करने का प्रयत्न करता है लेकिन उसे उस ढंग से पूरा नहीं कर पाता जिस ढंग से करना चाहिये, तो उस क्रियाविधी के उल्लंघन को बहुत महत्व नहीं दिया जाना चाहिये और न ही यह समझा जाना चाहिये कि राज्यपाल ने भाषण नहीं दिया क्योंकि इसके संवैधानिक परिणाम बहुत ही गंभीर हैं। जो कुछ राज्यपाल ने किया है मैं यह समझता हूं कि उन्होंने अपने संवैधानिक कर्तव्य को बहुत हद तक पूरा किया है, हालांकि क्रियाविधि की दृष्टि से उसमें काफी अनियमितता है। सारे भाषण को न पढ़ने के फलस्वरूप विधान-सभा की सारी कार्यवाही को अवैध घोषित नहीं किया जा सकता। यह केवल क्रियाविधि की अनियमितता है और इस अनियमितता को अनुच्छेद 212 के अधीन चुनौती नहीं दी जा सकती।"
सैय्यद अब्दुल बनाम पश्चिमी बंगाल विधान-सभा अध्यक्ष, ए. आई. आर., 1966, कलकत्ता 370.

120. 'दि ट्रिब्यून', मार्च 3, 1966.

121. वही।

122. सैय्यद अब्दुल बनाम पश्चिमी बंगाल विधान-सभा, 'ए. आई. आर.', 1966, कलकत्ता 370,

123. 'पेट्रियट', मार्च 8, 1969, पृष्ठ 7.

124. 'दि स्टेट्समैन', मार्च 15, 1969.

125. अनुच्छेद 212 (2) के अनुसार "किसी भी पदाधिकारी या विधान-सभा के सदस्य के विरुद्ध जिसे इस संविधान के अधीन, सदन की कार्यवाही चलाने या क्रियाविधि को नियमित करने या

विधानपालिका में व्यवस्था बनाये रखने के अधिकार दे रखे हैं, उन अधिकारों के प्रयोग के लिये न्यायालय में कार्यवाही नहीं की जा सकती।"

126 अनुच्छेद 212 (1) के अनुसार "विधानपालिका की कार्यवाही की वैधता को क्रियाविधि की अनियमितता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती।

127 पंजाब विधानसभा में कांग्रेस विपक्ष ने राज्यपाल डी सी पावटे को वापस बुलाने की मांग की *क्योंकि 1968-69 का बजट पास करने में उसका भी हाथ था, लेकिन उसने विधान-सभा* के सामने जो भाषण पढ़ा उसमें उसने स्वयं अपने ही कार्य की आलोचना की है——कांग्रेस दल के उपनेता कप्तान रतन सिंह ने कहा कि 'राज्यपाल में आत्मसम्मान की भावना नहीं है।" उसने कहा कि यह वही राज्यपाल है जिसने 1968-69 के बजट को अनुमति दी थी और ऐसा राज्यपाल जो एक दस्तावेज पर अपने हस्ताक्षर करता है और फिर उसका समर्थन नहीं करता या जो यह अनुभव किये बिना कि वह स्वयं ही अपनी आलोचना कर रहा है भाषण पढ़ता है, उसे वापस बुलाया जाना चाहिये।
'दि स्टेट्समैन', मार्च 19, 1968, पृष्ठ 10

128 वही।

129 'राज्यसभा डिबेट्स, वॉल्यूम 47, नम्बर 21, मार्च 17, 1969, कॉलम 4257

11

कानून बनाने में राज्यपाल का योग

विधेयकों को अनुमति देने का अधिकार

अनुच्छेद 168 के अनुसार विधानपालिका में जहां पर एक सदन है वहां पर विधान-सभा तथा राज्यपाल और जहां पर दो सदन हैं वहां पर विधान-सभा, विधान परिषद् तथा राज्यपाल उस में शामिल होते हैं। इसलिये राज्यपाल विधानपालिका का एक अंग है और अनुच्छेद 200 के अधीन कानून बनाने में उसे महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई है।[1] कोई भी विधेयक उस समय तक कानून नहीं बनता जब तक राज्यपाल उसे अनुमति नहीं दे देता।

जब बिल राज्यपाल की अनुमति के लिये उसके पास आता है तो फिर वह उसे कितने दिनों के अन्दर अनुमति दे, संविधान में इसका कोई समय निश्चित नहीं किया गया है।

संवैधानिक परामर्शदाता बी. एन. राव ने जो संविधान का प्रारूप तैयार किया था और जिसे प्रारूप समिति ने भी स्वीकृति दी थी, उस के अनुच्छेद 91 तथा 175 में, जो कि वर्तमान संविधान के अनुच्छेद 111 तथा 200 हैं, जिनमें राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को क्रमशः विधेयकों को अनुमति देने का अधिकार दिया गया है, उनमें तीन भिन्नताएं थीं। पहली भिन्नता तो यह थी कि अनुच्छेद 91 के अधीन विधेयक को छः सप्ताह के अन्दर वापस संसद के पास उस पर दोबारा विचार के लिये भेजा जा सकता था लेकिन राज्यपाल द्वारा बिल वापस भेजने के लिये कोई समय निश्चित नहीं था। दूसरे, अनुच्छेद 173 में यह कहा गया था कि "राज्यपाल अपने विवेक (Discretion) का प्रयोग करते हुए बिल को वापस भेज सकता था।" लेकिन अनुच्छेद 91 में "विवेक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था। तीसरे, राज्यपाल केवल उन राज्यों में विधेयक को वापस भेज सकता था जहां विधानपालिका में केवल एक ही सदन था। इसका अभिप्राय यह था कि जहां पर विधानपालिका में दो सदन थे वहां पर राज्यपाल विधेयक को वापस नहीं भेज सकता था। लेकिन बाद में इस अनुच्छेद को भी अनुच्छेद 111 (संविधान के प्रारूप का अनुच्छेद 91) की शब्दावली के आधार पर तैयार किया गया और अब अनुच्छेद 173 भी अनुच्छेद 111 की प्रतिलिपि है। जब अनुच्छेद 111 पर संविधान सभा में बहस हो रही थी तब "छः सप्ताह के भीतर"

शब्दों के स्थान पर "जितना शीघ्र हो सके" शब्दों का प्रयोग कर दिया गया।[2] इस लिये जहा तक राज्यपाल द्वारा विधेयक को अनुमति दिये जाने का सम्बन्ध है, उसके लिये कोई समय निश्चित नही है।

लेकिन क्या अनुच्छेद 200 के प्रथम उपबन्ध मे "जितना शीघ्र सम्भव हो सके" वाक्य का जो प्रयोग किया गया है उससे विधेयक को अनुमति देने या न देने का समय सीमित नही होता ? इसका उत्तर नही मे है और उसका पहला कारण तो यह है कि यह वाक्य अस्पष्ट है क्योकि हरि विष्णु कामथ के शब्दो मे "किसी को भी यह मालूम नही कि 'जितना शीघ्र सम्भव हो सके" वाक्य का अर्थ क्या है ? हम यह जानते हैं कि विधान-सभाओं मे मन्त्रियों की, प्रश्नो का उत्तर देते समय यह कहने की आदत होती है कि "यह कार्य कब तक हो जायेगा' तो उसका उत्तर फिर यही होता है कि "जितना शीघ्र सम्भव हो सकेगा" या "बहुत ही जल्दी"। लेकिन छः महीने पश्चात् वही प्रश्न फिर पूछा जाता है तो उसका उत्तर फिर वही होता है कि "जितनी जल्दी सम्भव होगा" या "बहुत ही जल्दी।" यह वाक्य अस्पष्ट, उद्देश्यहीन तथा निरर्थक है और सविधान मे विशेषकर इस प्रकार के अनुच्छेद मे, जहा पर हम यह चाहते हैं कि राष्ट्रपति एक निश्चित समय मे कोई कार्य करे, इस का कोई स्थान नही होना चाहिये।[3]

इस तथ्य को डा० अम्बेडकर ने भी स्वीकार किया था कि यह वाक्य अस्पष्ट है। उसने कहा था कि मै यह समझता हू कि वाक्य 'जितनी जल्दी सम्भव हो सके" इसका अर्थ एक महीना, दो महीने या 15 दिन हो सकता है। यह बहुत ही *लचीला वाक्य है।*

दूसरे, "जितनी जल्दी सम्भव हो सके" इस वाक्य का प्रयोग भी बिल को अनुमति देने या न देने के सम्बन्ध मे नही किया गया है। यदि ऐसा होता तो इसका प्रयोग अनुच्छेद 200 के प्रथम भाग मे होता न कि अनुच्छेद 200 के प्रथम उपबन्ध मे। अनुच्छेद 200 के अधीन राज्यपाल को चार विकल्प दिये गये हैं।

1 वह अनुमति दे सकता है,
2 वह अनुमति देने से इन्कार कर सकता है,
3 वह पुनर्विचार के लिए भेज सकता है, तथा
4 वह राष्ट्रपति की अनुमति के लिये रख सकता है।

अनुच्छेद 200 के पहले उपबन्ध का सम्बन्ध तीसरे विकल्प से है। इस उपबन्ध के अधीन जिस बिल को राज्यपाल अनुमति देने से इन्कार करता है उसे विधान-सभा मे पुनर्विचार के लिये भेजना *राज्यपाल के लिये अनिवार्य नही है। यदि ऐसा करना अनिवार्य होता तो अन्य सविधानों के समान हमारे सविधान मे भी स्पष्टतया यह* लिखा हुआ होता कि जिस विधेयक को राज्यपाल अनुमति नहीं देगे वह उस विधेयक को वापस "भेजेगा", लेकिन यहां कहा गया है कि वह उसे वापस पुनर्विचार के लिये "भेज सकते है"। "भेजेंगे" (Shall) के स्थान पर 'भेज सकता है" (May) शब्दों का

अनुमति दी जानी चाहिये या उसे अनुमति देने से इन्कार किया जाना चाहिये। यदि राज्यपाल उसे अनुमति देने से इन्कार कर दे तो विधानपालिका कुछ भी नहीं कर सकती क्योंकि अनुच्छेद 200 के प्रथम उपबन्ध का सम्बन्ध तो केवल उन विधेयकों से है जो राज्यपाल पुनर्विचार के लिये वापस भेजता है, लेकिन वित्त विधेयक तो वापस भेजा ही नहीं जा सकता। इस का अर्थ यह है कि उन विधेयकों के अतिरिक्त जिन्हें राज्यपाल पुनर्विचार के लिये वापस भेजता है, राज्यपाल को यह पूर्ण अधिकार है कि वह किसी विधेयक को अनुमति दे या न दे। दुर्गादास बसु का भी यही विचार है,[9] लेकिन यहां पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि साधारणतया राज्यपाल वित्त विधेयक को अनुमति देने से इन्कार नहीं करेगा क्योंकि वह उसकी स्वीकृति से ही पेश किया जाता है।

यह ठीक है कि अनुच्छेद 111 का उपबन्ध जिस के आधार पर अनुच्छेद 200 का प्रथम उपबन्ध तैयार किया गया है उसका उद्देश्य राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के निषेधाधिकार पर नियन्त्रण रखना था।[10] लेकिन इसमें कमी यह रह गई कि इस वाक्य को उचित स्थान पर नहीं रखा गया। वर्तमान स्थिति के अनुसार यह उन विधेयकों पर लागू होता है जिन्हें राज्यपाल पुनर्विचार के लिये वापस भेजता है न कि उन बिलों पर जिन पर वह अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करता है, क्योंकि यह व्यवस्था राष्ट्रपति के निषेधाधिकार को नियन्त्रित करने के लिये की गई थी। इस का वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और राष्ट्रपति तथा राज्यपाल दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रों में निषेधाधिकार का प्रयोग कर के किसी भी विधेयक को कानून बनने से रोक सकते हैं।

लेकिन संविधान की इस प्रकार से व्याख्या करने के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह संविधान के भाव का उल्लंघन होगा क्योंकि संविधान निर्माताओं का यह विचार भी नहीं था कि वे राज्यपाल को इस प्रकार का निषेधाधिकार दें। उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय पहले ही यह निर्णय दे चुका है कि संविधान के भाव को संविधान के शब्दों पर तर्जीह नहीं दी जा सकती।[11] हालांकि सर्वोच्च न्यायालय को यह मनाने का कई बार प्रयत्न किया गया है कि संविधान की व्याख्या करते समय हमें संविधान सभा में दिये गये भाषणों तथा स्पष्टीकरणों का ध्यान रखना चाहिये। लेकिन फिर भी तिरुवांकुर-कोचीन बनाम बम्बई कम्पनी लिमिटेड में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि "संविधान की व्याख्या करते समय संविधान सभा में दिये गये भाषणों को ध्यान में नहीं रखा जा सकता।"[12] हालांकि उन का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व है।[13] पश्चिमी बंगाल की कम्पनी लिमिटेड बनाम स्टेट आफ बिहार में संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष ने भी इस के सामने बहस करते हुए संविधान के कुछ अनुच्छेदों की भूमिका बतलाने की कोशिश की, लेकिन सर्वोच्च-न्यायालय ने जहां संविधान की भाषा स्पष्ट है, उन की व्याख्या करते समय अन्य सामग्री का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया।[14] यहां तक कि हमारे कुछ

प्रमुख राजनैतिक नेताओं ने भी संविधान के भाव पर संविधान की भाषा को अग्रता दी है। उदाहरणतया, 1959 में जब केरल में संवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने से संबंधित उद्घोषणा पर बहस हो रही थी तो उस समय भूपेश गुप्त ने यह माग की थी कि राज्यपाल की रिपोर्ट को सभा पटल पर रखा जाये। इस माग का उत्तर देते हुए गोविन्द बल्लभ पन्त ने, जो उस समय गृह-मन्त्री थे, कहा कि *"संविधान में यह कहा गया कि उद्घोषणा को सदन के पटल पर रखा जायेगा। इस कार्यवाही को जो अनिवार्य है मैंने पूरा कर दिया है संविधान में यह कहीं नहीं कहा गया है कि राज्यपाल की रिपोर्ट को भी सदन के पटल पर रखा जायगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान निर्माता यह नहीं चाहते थे कि राज्यपाल की रिपोर्ट तथा अन्य सूचनाओं को सदन के पटल पर रखा जाये।"*[15]

इसलिये इस तर्क में कोई बल नहीं है कि निषेधाधिकार के प्रयोग से विधेयक को समाप्त करना संविधान के भाव या संविधान निर्माताओं के विचारों के विरुद्ध है। चूंकि संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जो राज्यपाल को ऐसा करने से रोकती हो, इस लिये वह ऐसा कर सकता है, हालांकि साधारणतया उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि वह यह समझता है कि कोई विधेयक अवाच्छनीय या असंवैधानिक है तो वह उसे राष्ट्रपति के विचार के लिये सुरक्षित रख सकता है।

क्या अनुमति देने के अधिकार का प्रत्यायोजन किया जा सकता है ?

जहा तक अनुमति देने के अधिकार का सम्बन्ध है यह अनुच्छेद 154 (1) के अधीन किसी अन्य पदाधिकारी को नहीं दिया जा सकता। क्या यह अधिकार किसी अन्य पदाधिकारी को दिया जा सकता है या नहीं, इस प्रश्न पर संविधान सभा में भी बहस हुई थी।[16] बहस का उत्तर देते हुए एन० गोपालास्वामी अय्यंगर ने कहा था कि साधारणतया तो हम यह आशा करते हैं कि राष्ट्रपति ही स्वयं इस अधिकार का प्रयोग करेगा लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में वह यह अधिकार किसी अन्य पदाधिकारी को भी दे सकता है *और संवैधानिक दृष्टिकोण से ऐसा करना अनुचित भी नहीं होगा।*[17] डा० राजेन्द्र प्रसाद जो संविधान सभा के अध्यक्ष थे, इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा कि 'अनुच्छेद 53 (1) का सम्बन्ध कार्यकारी शक्तियों से है न कि विधायी शक्तियों से। विधायकों की स्वीकृति विधायी शक्तियों में आती है।'[18] टी० टी० कृष्णामचारी ने इस अनुच्छेद को प्रारूप समिति की ओर से संविधान सभा में पेश किया था और उस का भी यही दृष्टिकोण था।[19] कुछ समय पश्चात् बम्बई उच्च न्यायालय ने भी यही निर्णय दिया। उसने कहा कि *"संविधान के भाग 9 का शीर्षक जिसमें अनुच्छेद 254* आता है 'विधायी शक्तियों का बटवारा है' और इसके परिणामस्वरूप अनुच्छेद 254 के अधीन राष्ट्रपति विधेयकों को जो अनुमति देता है वह *कार्यकारी शक्तियां नहीं हैं* अपितु विधायी शक्तियां है।"[20] चूंकि अनुच्छेद 53 (1) के अधीन राष्ट्रपति अपनी कार्य-

कारी शक्तियों को अपने अधीन पदाधिकारियों को दे सकता है न कि विधायी शक्तियों को। इसलिए अनुच्छेद 154 (1) के अधीन राज्यपाल भी विधेयकों को स्वीकृति देने के अधिकार को अपने अधीन पदाधिकारियों को नहीं दे सकता। लेकिन यहां पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि राज्यपाल टेलीफोन, तार या विशेष संदेशवाहक भेज कर भी विधेयकों को अनुमति दे सकता है[21] और राजधानी में उसकी उपस्थिति आवश्यक नहीं है।

पुनर्विचार के लिए बिल वापस भेजने का अधिकार

अनुमति देने या विधेयक को अनुमति देने से इन्कार करने के अतिरिक्त राज्यपाल वित्त विधेयक को छोड़ कर अन्य विधेयकों को पुनर्विचार के लिए भेज सकता है और वापस भेजते समय वह संशोधन से संबन्धित कुछ सुझाव भी दे सकता है जिन पर सदन या दोनों सदनों से विचार करने का आवेदन कर सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि क्या सदन केवल उन संशोधनों या सुझावों पर ही विचार करेगा जिन का सुझाव राज्यपाल ने दिया है? हालांकि ऐसा मालूम पड़ता है कि सदन केवल उन सुझावों पर विचार करेगा, लेकिन वास्तविकता यह नहीं है और अनुच्छेद 200 की भाषा को ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता चलता है कि सदन जो भी संशोधन करना चाहे कर सकता है।[22] यदि सदन विधेयक को संशोधन सहित या बिना संशोधन फिर पास कर दे तो राज्यपाल को अनुमति देनी पड़ेगी।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल उस विधान-सभा के भंग किए जाने के पश्चात् जिस ने बिल को पास किया था, बिल को पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकता है? चूंकि विधान-सभा के भंग किये जाने का राज्यपाल के अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए वह ऐसा कर सकता है, लेकिन साधारणतया, उससे यह आशा की जाती है कि वह बिल को उसी विधान-सभा में वापस भेजेगा जिसने उसे पास किया है।

राष्ट्रपति की अनुमति के लिये विधेयक सुरक्षित रखने का अधिकार

अनुच्छेद 200 के दूसरे उपबन्ध के अनुसार राज्यपाल उन विधेयकों को राष्ट्रपति की अनुमति के लिये सुरक्षित रखेगा जिनका उच्च न्यायालय की स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता हो। यह उपबन्ध 1935 के गवर्मेन्ट ऑफ इन्डिया एक्ट 1935 के पैराग्राफ 17 की नकल है जिसके अनुसार प्रान्तों के राज्यपालों को हिदायतें जारी की जाया करती थीं।[23] संविधान में इस उपबन्ध के शामिल किए जाने का समर्थन करते हुए डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने कहा था कि "ऐसी व्यवस्था करने का कारण यह है कि उच्च न्यायालय केन्द्र तथा राज्य दोनों के अधीन है। जहां तक उनके संगठन तथा कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है वे केन्द्र के अधीन हैं और प्रान्तों का उच्च न्यायालय के संगठन तथा क्षेत्रीय क्षेत्राधिकार में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं। जहां तक रुपये पैसे तथा उन विषयों का सम्बन्ध है जिनकी चर्चा दूसरी सूची में की हुई है, उनके बारे

मे अधिकार राज्यो के पास है । विधान-सभा बिल पास करके उन मुकद्दमो के मूल्य की सीमा को बढा सकती है जिनकी सुनवाई उच्च न्यायालय मे हो सकती है और इस प्रकार उसके क्षेत्राधिकार को सीमित कर सकती है । सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारा को कम करने का यह एक ढग होगा ।

"दूसरी सूची संख्या दो मे दिए गए विषयों पर कानून बनाते समय विधान-सभा यह व्यवस्था कर सकती है कि कर्ज रद्द करने या किसी अन्य ऐसे ही विषय पर अन्य न्यायालय या बोर्ड द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम होगा और उस बारे मे उच्च न्याया-लय का कोई क्षेत्राधिकार नहीं होगा ।"[24]

ऐसे विधेयको को राज्यपाल अनुमति नही दे सकता और यदि वह अनुमति दे भी दे तो उन्हे चुनौती दी जा सकती है । प्रेम नारायण बनाम स्टेट ऑफ उत्तर प्रदेश मे एक ऐसे विधेयक को चुनौती भी दी गई थी ।[25] लेकिन इस उपबन्ध के अधीन प्रत्येक विधेयक को जिसका कुछ प्रभाव उच्च न्यायालय की स्थिति पर पडता हो, राष्ट्रपति के लिए सुरक्षित नही रखा जाना चाहिए ।[26] यहा पर यह भी चर्चा करना आवश्यक है कि उन विधेयको के अतिरिक्त जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, अन्य विधेयको को भी राज्यपाल राष्ट्रपति के लिए सुरक्षित रख सकता है । उदाहरणतया, ऐसे बिल जिनकी संवैधानिक वैधता मे सन्देह हो[27] या संघीय कानूनो या नीति मे टकराव हो या जिनके बारे मे एकरूपता[28] की आवश्यकता हो, उन्हे भी वह राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख सकता है । अनुच्छेद 200 के दूसरे उपबन्ध के अतिरिक्त वह अनुच्छेद 254 (2) के अधीन भी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख सकता है । इस अनुच्छेद मे कहा गया है कि "यदि विधान-सभा किसी ऐसे विषय पर विधेयक पास करे जो समवर्ती सूची मे है और इस विधेयक का संसद द्वारा बनाए गए कानून के साथ टकराव हो तो विधानपालिका द्वारा पास किया गया विधेयक वैध होगा बशर्ते कि उस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रखने के पश्चात् उसे अनुमति मिल जाये ।"

इसी प्रकार से राज्यपाल अनुच्छेद 31 (3) के प्रथम उपबन्ध तथा अनुच्छेद 31 (ए) के अधीन भी किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख सकता है । यदि एक बार किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रख लिया जाये तो वह विधेयक उस समय तक कानून नही बन सकता जब तक उसे राष्ट्रपति की अनुमति नहीं मिल जाती । ऐसे विधेयको को राष्ट्रपति की अनुमति मिलने के पश्चात् राज्यपाल की अनुमति की आवश्यकता नही होती ।[29]

जब राज्यपाल किसी विधेयक को अनुच्छेद 31 (4) 200, 254 (2) के अधीन राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रखता है तो वह उन पर राष्ट्रपति के पास भेजते समय हस्ताक्षर नही करता । इस विचार का समर्थन "विधेयक" (बिल) शब्द से होता है । यदि राज्यपाल के किसी विधेयक पर हस्ताक्षर हो जायें तो वह विधेयक नही रहता बल्कि कानून बन जाता है । यह ठीक है कि अनुच्छेद 31 (4) 200, तथा

254 (2) में विधेयक (Bill) शब्द का प्रयोग किया गया है। लेकिन अनुच्छेद 31 (ए) में तो कानून (Law) शब्द का प्रयोग किया गया है। इस में कहा गया है कि "जहां पर राज्य की विधानपालिका द्वारा ऐसा कानून बनाया जाये इस अनुच्छेद की धाराएं उस समय तक लागू नहीं होगी जब तक ऐसे कानून को राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखने पर, उसे राष्ट्रपति की अनुमति नही मिल जाती।" अनुच्छेद 200, तथा 254 (2) मे विधेयक शब्द का प्रयोग तथा अनुच्छेद 31 (3) (6) में कानून शब्द के प्रयोग से ऐसा लगता है कि अनुच्छेद 31 (3) (6) के अधीन पहले राज्यपाल द्वारा विधेयक को अनुमति दी जानी चाहिये और फिर उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजना चाहिये। लेकिन वास्तविकता यह नहीं है, क्योंकि उड़ीसा उच्च न्यायालय के अनुसार "जिस विधेयक को राज्यपाल ने स्वीकृति दे रखी है उसे राष्ट्रपति द्वारा अनुमति दिये जाने का प्रश्न ही नही उठता।"[30] न्यायालय ने यह भी कहा है कि कानून शब्द का प्रयोग अनुच्छेद 31 तथा 31 (ए) में उस बिल के लिये किया गया है जो राज्यपाल द्वारा अनुमति न दिये जाने के कारण कानून नही बना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पहले राज्यपाल उसे अनुमति देकर कानून बना दे और फिर उसे राष्ट्रपति के विचार के लिये सुरक्षित रखे।[31] राजस्थान उच्च न्यायालय ने भी यही मत व्यक्त करते हुए कहा कि अनुच्छेद 31 (3) तथा अनुच्छेद 31 (ए) के उपबन्ध (1) में कानून शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसका अभिप्राय विधेयक से ही है।[32] कलकत्ता उच्च न्यायालय का भी यही निर्णय है।[33]

अनुच्छेद 31 (3) में कानून शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसके बारे में सर्वोच्च न्यायालय का भी यही निर्णय है कि इस का अभिप्राय विधेयक से ही है। स्टेट ऑफ बिहार बनाम कामेश्वरसिंह में यह कहा गया था कि इस अनुच्छेद में "विधानपालिका" शब्द का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है और चूंकि "विधान पालिका" में राज्यपाल भी आता है, इस लिये उसे विधेयक को अनुमति देनी चाहिये, हालांकि उस में स्पष्टतया केवल यही कहा गया है कि राष्ट्रपति को अपनी अनुमति देनी चाहिये। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने इस तर्क को रद्द करते हुए कहा कि "मैं इस दृष्टिकोण को रद्द करता हूं।" संविधान में "विधानपालिका" शब्द का जो प्रयोग किया गया है, राज्यपाल को प्रत्येक स्थान पर उसमें शामिल नहीं किया जा सकता, हालांकि अनुच्छेद 168 के अनुसार वह विधानपालिका का एक प्रमुख अंग है। उदाहरणतया, अनुच्छेद 173 में 'विधानपालिका' शब्द में केवल सदन ही आते है और राज्यपाल उसमें शामिल नहीं है........यदि कानून बनाने के लिये राज्यपाल तथा राष्ट्रपति दोनों की स्वीकृति की आवश्यकता होती तो उसका संविधान में स्पष्ट वर्णन होता और अनुच्छेद 200 में भी उसकी चर्चा होती। उसमें यह कहा गया होता कि राज्यपाल अपनी अनुमति के पश्चात् राष्ट्रपति के विचार के लिये विधेयक को सुरक्षित रखेगा।[34]

संवैधानिक संशोधन का अनुसमर्थन तथा राज्यपाल की अनुमति

विधेयकों को राज्यपाल द्वारा जो अनुमति दी जाती है उसके सम्बन्ध में यह
चर्चा करना भी आवश्यक है कि अनुच्छेद 368 के अधीन संवैधानिक संशोधनों का,
विधानपालिका प्रस्ताव द्वारा जो अनुमोदन करती है उसके लिए भी राज्यपाल की
अनुमति की आवश्यकता नहीं होती और अनुच्छेद 368 में विधानपालिका' शब्द का जो
प्रयोग किया गया है उस में 'राज्यपाल' शामिल नहीं है। उदाहरणतया, जेटिन बनाम
जस्टिस एच० के० बास में आवेदक के वकील ने 15वें संशोधन की वैधता को चुनौती
देते हुए कहा कि "अनुच्छेद 268 में 'विधानपालिका' शब्द का प्रयोग किया गया है।
इसका अर्थ यह है कि यह कहने से पहले कि प्रस्ताव का अनुसमर्थन हो गया है, प्रत्येक
राज्य में उसे राज्यपाल की अनुमति मिलनी चाहिये क्योंकि अनुच्छेद 168 के अधीन
वह विधानपालिका का अंग है। इस संशोधन के बारे में किसी भी राज्य में राज्यपाल
की अनुमति नहीं ली गई (कम से कम 11 राज्यों में) इसलिये संशोधन विधेयक के प्रस्ताव
का अनुमोदन वैध ढंग से नहीं हुआ और इसलिये संशोधन एक्ट वैध रूप में पास नहीं
हुआ है।"[35] लेकिन न्यायाधीश टी०एन० सिन्हा ने इस दृष्टिकोण को रद्द करते हुए कहा
कि "मेरे विचार में यह तर्क ठीक नहीं है अनुच्छेद 368 के प्रथम भाग का
सम्बन्ध इस बात से है कि बिल कैसे पास किया जाना चाहिये और राष्ट्रपति की
अनुमति के लिये विशेष प्रावधान है। जहां तक राज्य विधानपालिकाओं का सम्बन्ध
है, इसमें कहा गया है कि संशोधन का अनुमोदन करने वाला प्रस्ताव पास किया जाना
चाहिये। ऐसे प्रस्ताव को पास करने के लिए मतदान की आवश्यकता होती है और
राज्यपाल मतदान में भाग नहीं लेता इस अनुच्छेद में राष्ट्रपति की अनुमति
के लिये तो स्पष्ट रूप से व्यवस्था की गई है लेकिन राज्यपाल की अनुमति की
इसमें कहीं भी चर्चा नहीं है मेरे विचार से स्थिति बिल्कुल स्पष्ट है कि
संविधान में संशोधन करने वाले बिल के अनुसमर्थन के लिए राज्य विधानपालिका जो
प्रस्ताव पास करती है उसे राज्यपाल की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती।"[36] इस
निर्णय में न्यायाधीश ने यह भी कहा कि हालांकि अनुच्छेद 168 के अनुसार राज्यपाल,
विधानपालिका का अंग है लेकिन फिर भी अनुच्छेद 368 में विधानपालिका शब्द में
राज्यपाल शामिल नहीं है।[37]

यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि राष्ट्रपति की अनुमति के लिये
बिल को सुरक्षित करने में राज्यपाल अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता है।
अशोक चन्दा के अनुसार "संविधान में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि वह ऐसा
करते समय मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर कार्य करेगा। हालांकि कुछ संविधान
विशेषज्ञों का मत है कि राज्यपाल इस सम्बन्ध में स्वयं निर्णय नहीं कर सकता लेकिन
संविधान में इस तर्क का कोई आधार नहीं है। यदि राज्यपाल ऐसा करे तो उसे रोकने
के लिये भी कोई व्यवस्था नहीं है।"[38]

मन्त्रिमण्डल की सलाह तथा अनुच्छेद 200

राज्यपाल द्वारा विधेयकों को अनुमति दिए जाने, अनुमति देने से इन्कार करने, उन्हें पुनर्विचार के लिए वापस भेजने या राष्ट्रपति के विचार के लिए सुरक्षित रखने के सम्बन्ध में यह पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल इन शक्तियों का प्रयोग केवल मन्त्रिमण्डल की सलाह से करता है या वह इन शक्तियों के बारे में अपने व्यक्तिगत निर्णय का भी प्रयोग कर सकता है। यह प्रश्न भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने 1951 में उठाया था। उन्होंने पंडित नेहरू को एक पत्र लिखा था जिसमें कहा गया था कि वे "विधेयकों को अनुमति देने तथा संसद को सन्देश भेजने समय स्वयं निर्णय करेंगे। नेहरू ने इस बारे में अल्लादी कृष्णा स्वामी अय्यर तथा एम० सी० सीतलवाद की सलाह ली। इन दोनों विधि विशेषज्ञों ने जो सलाह दी उसे डा० राजेन्द्र प्रसाद ने उस समय तो मान लिया लेकिन 9 वर्ष पश्चात् 1960 में इंडियन लॉ इन्स्टिट्यूट में भाषण देते हुए उन्होंने राष्ट्रपति के अधिकारों की जांच करने के लिए कहा।"[39] इसका अर्थ यह हुआ कि डा० राजेन्द्र प्रसाद उन विधि विशेषज्ञों की बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे और उनका यह विचार था कि राष्ट्रपति को इन शक्तियों के प्रयोग में अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करना चाहिए। इस तर्क का समर्थन इस बात से भी होता है कि अनुच्छेद 200 के प्रथम उपबन्ध में राज्यपाल के निषेधाधिकार को रद्द करके विधानपालिका द्वारा बिल पास करने की व्यवस्था की गई है। यदि राज्यपाल इस अधिकार का प्रयोग केवल मन्त्रिमण्डल की सिफारिश पर करते तो फिर इस व्यवस्था की क्या आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त विधेयकों को अनुमति देना विधायी शक्ति[40] है और मन्त्रिमण्डल, राज्यपाल को केवल उन कामों में सलाह देता है जो कार्यकारी हों। तीसरे, कभी ऐसा भी अवसर आ सकता है जब राज्यपाल को, मन्त्रिमण्डल की सलाह के विरुद्ध भी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित करना पड़े। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुच्छेद 200 के अधीन राज्यपाल अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता है और पंजाब के राज्यपाल डी० सी० पावते ने अनेक अवसरों पर ऐसा किया था।[41]

कुछेक विधेयक पेश करने से पहले राज्यपाल की अनुमति

कुछेक ऐसे भी विधेयक होते हैं जिन्हें विधान-सभा में पेश किए जाने से पहले राज्यपाल की अनुमति लेनी पड़ती है। उदाहरणतया :

(1) वे बिल जिनका सम्बन्ध उन विषयों से है जिनकी चर्चा अनुच्छेद 199 की धारा (1) की उपधारा (Sub-Clause) (ए) से (एफ) में चर्चा की गई है, उनके बारे में कोई भी विधेयक राज्यपाल की सिफारिश के बिना विधानपालिका में पेश नहीं किया जा सकता।

(2) ऐसा बिल जिसमें राज्य की संचित निधि में से खर्च करने की मांग हो, उसे राज्य की विधानपालिका उस समय तक पास नहीं कर सकती जब तक राज्यपाल

उसकी सिफारिश नहीं करता।[42]

इसके अतिरिक्त "अनुदान की कोई भी माग राज्यपाल की सिफारिश के बिना विधान-सभा में पेश नहीं की जा सकती।"[43]

इस सम्बन्ध में यह भी चर्चा करना आवश्यक है कि जिस बिल को पेश करने से पहले राज्यपाल की सिफारिश की आवश्यकता होती है, यदि वह उसकी अनुमति के बिना पेश किया जाए तो उस पर विचार उसी समय बन्द कर दिया जायेगा जब यह मालूम होगा कि राज्यपाल की सिफारिश के बिना इसे पेश किया गया है।[44] किन्तु यदि ऐसा बिल जिसे पेश करने से पहले राज्यपाल की मन्जूरी की आवश्यकता हो, वह मन्जूरी पहले लिए बिना पेश कर दिया जाये, और यदि विधानपालिका उसे पास कर दे और फिर राज्यपाल भी उसे अनुमति दे दे तो वह वैध होगा।[45] इसके अतिरिक्त राज्यपाल द्वारा बिल को पेश करने से पहले मन्जूरी न दिए जाने का प्रश्न विधानपालिका के उच्च सदन में नहीं उठाया जा सकता।[46] यदि मन्त्रिमण्डल और राज्यपाल के आपसी सम्बन्ध अच्छे हैं तो मन्त्रिमण्डल कभी-कभी ऐसे विधेयकों को जिनकी चर्चा ऊपर की गई है राज्यपाल की मन्जूरी लिए बिना भी पेश कर सकता है। किन्तु यदि उनके आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं तो फिर ऐसा नहीं किया जा सकता।

अध्यादेश जारी करने का अधिकार

विधानपालिका द्वारा पास किये गये विधेयकों के अतिरिक्त राज्यपाल के पास अध्यादेश जारी करने के अधिकार भी हैं। वह अनुच्छेद 213 के अधीन अध्यादेश जारी कर सकता है बशर्ते कि विधानपालिका का सत्र न हो रहा हो और राज्यपाल यह समझे कि उस कानून की तुरन्त आवश्यकता है। इस का अर्थ यह है कि अध्यादेश केवल उस समय जारी किया जा सकता है जब विधानपालिका का सत्र न हो रहा हो और यदि अध्यादेश ऐसे समय जारी किया जाए जब विधानपालिका का सत्र हो रहा हो तो वह अध्यादेश अवैध होगा। विधानपालिका का सत्र न हो रहा हो, इस का अर्थ यह है कि अध्यादेश जारी करते समय उस का सत्र न हो रहा हो।

यदि अध्यादेश, दोनो सदनो मे एक सदन के स्थगित करने से पहले या जहाँ पर केवल विधान सभा है वहां पर विधान सभा के स्थगित करने से पहले जारी कर दिया जाये तो वह अवैध होगा। ऐसा इसलिये होगा, क्योंकि जब विधानपालिका अर्थात् कानून बनाने वाली संवैधानिक मशीनरी का सत्र हो रहा है तब अध्यादेश जारी करने का कोई औचित्य नहीं होता। लेकिन यह स्थिति उस समय नहीं होती जब दोनो सदनो मे से एक सदन (जहां पर दो सदन हैं) का सत्र हो रहा हो या जहाँ पर एक सदन है वहां पर विधान-सभा का सत्र हो रहा हो। ऐसी परिस्थितियों मे राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने की शक्ति दे रखी है।

विधानपालिका का सत्र होते हुए भी यदि राज्यपाल यह महसूस करे कि किसी विशेष कानून की तुरन्त आवश्यकता है और विधानपालिका उसे तुरन्त पास नहीं कर

सकती तो उस समय राज्यपाल दोनों सदनों में से एक सदन का और जहां पर केवल एक ही सदन है वहां पर विधान-सभा का सत्रावसान करके अध्यादेश जारी कर सकता है। उदाहरणतया, पंजाब के राज्यपाल ने 1969 में विधानपालिका का इसलिए सत्रा-वसान किया ताकि वह अध्यादेश जारी कर सके और सर्वोच्च न्यायालय ने उसे वैध ठहराया।[47]

यह अध्यादेश तब जारी किया जाता है जब राज्यपाल को तसल्ली हो जाये। लेकिन "राज्यपाल को तसल्ली हो जाये," इस वाक्य का क्या अर्थ है? क्या इसका अभिप्राय यह है कि राज्यपाल की व्यक्तिगत रूप से सन्तुष्टी होनी चाहिए? कलकत्ता उच्च न्यायालय के अनुसार राज्यपाल व्यक्तिगत रूप से सन्तुष्ट होना चाहिए कि अध्यादेश जारी करने की आवश्यकता है।[48] इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अग्रवाल का भी यही विचार है। उन्होंने कहा है कि 'अनुच्छेद 213 में राज्यपाल की सन्तुष्टी की बात कही गई है ....राज्यपाल की सन्तुष्टी उसकी अपनी सन्तुष्टी है न कि न्यायालय या किसी अन्य बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति की। यह सन्तुष्टी उसकी अपनी व्यक्तिगत है और न्यायालय उस सन्तुष्टी के कारणों की जाच पड़ताल नहीं कर सकता।"[49] मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय का भी यही दृष्टिकोण है। उसके अनुसार "अध्यादेश जारी किये जाने के बारे में, अनुच्छेद 213 में यह स्पष्टतया कहा गया है कि राज्यपाल की और केवल उसकी ही सन्तुष्टी होनी चाहिए। इसके जारी किये जाने की आवश्यकता है या नहीं यह विषय विचाराधीन नहीं है और न्यायालय निष्पक्ष जांच के आधार पर इसके औचित्य का निर्णय नहीं कर सकते।"[50]

लेकिन इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि क्या इस सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल की सिफारिश को मानने के लिए राज्यपाल बाध्य है? इस विषय पर उस समय विवाद उत्पन्न हो गया था जब पंजाब के राज्यपाल (भूतपूर्व) डी० सी० पावते ने एक ऐसे अध्यादेश को जिसमें विधायकों को लाभदायक पद देने की व्यवस्था थी, जारी करने की बजाये उसे गृह मन्त्रालय के पास यह जानने के लिए भेज दिया कि क्या ऐसा अध्यादेश जारी करना उसके लिए संवैधानिक दृष्टि से उचित होगा क्योंकि उसके विचार में उस अध्यादेश से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता था।[51] उनकी इसके लिए इस आधार पर आलोचना की गई कि राज्यपाल के लिए मन्त्रिमंडल की सिफारिश को मानना अनिवार्य है और राज्यपाल यदि प्रस्तावित अध्यादेश की वैधा-निकता ही जानना चाहते थे तो उन्हें गृह मन्त्रालय के स्थान पर राज्य के एडवोकेट जनरल से परामर्श लेना चाहिए था।[52] यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि विधायकों को लाभदायक पदों पर रहने की आज्ञा देने के लिए हरियाणा के राज्यपाल पहले ही अध्यादेश जारी कर चुके थे।[53] इसके अतिरिक्त डी० सी० पावते के भार-मुक्त होते ही ज्ञानी जैलसिंह, मुख्यमन्त्री पंजाब (कांग्रेस), के कहने पर महेन्द्र मोहन चौधरी (राज्यपाल) द्वारा वही अध्यादेश जारी कर दिया गया।[54]

चूंकि अनुच्छेद 213 के अधीन राज्यपाल की व्यक्तिगत रूप से सन्तुष्टि होनी

चाहिये, इसलिए वह अध्यादेशों के बारे में मन्त्रिमण्डल की सिफारिश मानने के लिये बाध्य नहीं है। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के अनुसार "अनुच्छेद 123 के अधीन अध्यादेश जारी करने, आपात्तिकाल में अनुच्छेद 268-279 का निलम्बन करने, अनुच्छेद 356 के अधीन संवैधानिक मशीनरी के फेल हो जाने की घोषणा करने, अनुच्छेद 360 के अधीन वित्तीय आपत्ति की घोषणा करने की शक्तियां, केन्द्रीय सरकार की शक्तियां नहीं हैं। वे शक्तियां संविधान द्वारा राष्ट्रपति को दी गई हैं और वे अनुच्छेद 258 (3) के अधीन किसी अन्य व्यक्ति या पदाधिकारी को नहीं दी जा सकतीं।[65] सर्वोच्च न्यायालय ने इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा कि अनुच्छेद 123 के अधीन अध्यादेश जारी करने का अधिकार संविधान द्वारा राष्ट्रपति को दिया गया है, इसलिए वह उसे किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दे सकता।[66] अतः राष्ट्रपति या राज्यपाल इस बारे में मन्त्रिमण्डल की सिफारिश मानने के लिये बाध्य नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बाराव का भी यही मत है।[67] संवैधानिक स्थिति ऐसी होते हुए भी, वास्तविकता तो यह है कि राज्यपाल साधारणतया इस अधिकार का प्रयोग मुख्यमन्त्री के कहने पर ही करता है और कुछ राज्यपाल तो ऐसे भी हुए हैं जिन्हें यह भी मालूम नहीं कि कब और कितने अध्यादेश उन के नाम पर जारी किये गये है। उदाहरणतया, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल होमी मोदी ने कहा कि "मेरी जानकारी के बिना मैं इतने बच्चों का पिता हो गया हूं। मेरी जानकारी के बिना अध्यादेश जारी किये जा रहे हैं।"[58] हरियाणा के राज्यपाल बी०एन० चक्रवर्ती के अनुसार, विधान सभा के भंग किये जाने के पश्चात्, साधारणतया मुख्यमन्त्री को अध्यादेश जारी करने की सिफारिश नहीं करनी चाहिये हालांकि वैधानिक दृष्टि से उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।[59]

यहां पर यह चर्चा भी की जा सकती है कि अध्यादेश जारी करने के लिए राज्यपाल सत्रावसान भी कर सकता है।[60] लेकिन जब कभी राज्यपाल ऐसा करता है, तो उस द्वारा संवैधानिक अधिकारों के दुरुपयोग को चुनौती दी जा सकती है।[61]

यहां पर यह चर्चा करनी भी आवश्यक है कि राज्यपाल किसी ऐसे विषय के बारे में अध्यादेश राष्ट्रपति की हिदायत के बिना जारी नहीं कर सकता, जिसका सम्बन्ध ऐसे विधेयक से हो जिसे विधान-सभा में पेश करने से पहले राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता हो या वह विधेयक ऐसा हो जिसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिये सुरक्षित रखने की आवश्यकता हो।[62] इसका अर्थ यह है कि अनुच्छेद 213 में दिये गये प्रतिबन्धों का ध्यान रखते हुए राज्यपाल केवल उन विषयों के बारे में अध्यादेश जारी कर सकता है जो राज्यसूची या समवर्ती सूची में है। लेकिन इस सम्बन्ध में यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या राज्यपाल किसी ऐसे विषय के बारे में अध्यादेश जारी कर सकता है जिस विषय पर विधानपालिका द्वारा विधेयक पास किये जाने पर, राज्यपाल ने उसे राष्ट्रपति को अनुमति के लिये सुरक्षित रखा हो और फिर राष्ट्रपति ने उसे अनुमति दे दी हो? यह विधेयक की सामग्री पर निर्भर करता है। हो सकता है

विधेयक के कुछ अंश ऐसे हों जिन्हें राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता हो, और कुछ अंश ऐसे हों जिन्हें राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता न हो। जब ये दोनों प्रकार के अंश एक ही विधेयक में शामिल हों तब सारा बिल ही राष्ट्रपति की अनुमति के लिये सुरक्षित रखना पड़ता है। जहां तक ऐसे विधेयक का सम्बन्ध है राज्यपाल उन अंशों के बारे में अध्यादेश जारी कर सकता है, जिस के लिये राष्ट्रपति की अनुमति की आवश्यकता नहीं है।[63]

अध्यादेश जारी करने के सम्बन्ध में यह जानना भी आवश्यक है कि जिन विषयों की स्वीकृति विधानपालिका प्रस्ताव पास करके करती है उनके बारे में अध्यादेश जारी नहीं किया जा सकता। उदाहरणतया, संवैधानिक संशोधनों का अनुसमर्थन विधानपालिका प्रस्ताव पास करके करती है और राज्यपाल उस का अनुसमर्थन अध्यादेश जारी कर के नहीं कर सकता। इस का अभिप्राय यह है कि राज्यपाल उन विषयों के बारे में अध्यादेश जारी नहीं कर सकता, जिन का अनुसमर्थन विधानपालिका प्रस्ताव पास कर के करती है।

क्या बजट अध्यादेश द्वारा पास किया जा सकता है ?

क्या बजट अध्यादेश द्वारा पास किया जा सकता है या नहीं, इस बारे में भिन्न-भिन्न मत हैं। एक विचारधारा के अनुसार बजट अध्यादेश द्वारा पास नहीं किया जा सकता, लेकिन दूसरी विचारधारा के अनुसार ऐसा किया जा सकता है। 1969 में पंजाब संकट पर बोलते हुए केन्द्रीय सरकार के विधि मन्त्री ने कहा था कि राज्यपाल अध्यादेश द्वारा बजट पास नहीं कर सकता।[64] गुजरात के राज्यपाल श्रीमन् नारायण ने भी हितेन्द्र देसाई की विधान-सभा को भंग करने की सिफारिश को स्वीकार न करने का यही कारण बतलाया था।[65] राज्यपालों की जो समिति बनी थी उस का भी यही दृष्टिकोण था।[66] पंजाब,[67] पश्चिमी बंगाल,[68] तथा बिहार[69] में अनुच्छेद 174 (2) के अधीन विधान-सभा भंग किये जाने के पश्चात् राष्ट्रपति शासन इसलिये लागू करना पड़ा क्योंकि वहां पर विधान-सभा भंग होने से पहले बजट पास नहीं किया गया था और कामचलाऊ सरकार के पद पर रहते हुए अध्यादेश द्वारा बजट पास नहीं किया जा सकता था।

लेकिन दूसरा दृष्टिकोण यह है कि थोड़े समय तक काम चलाने के लिए बजट अध्यादेश द्वारा भी पास किया जा सकता है। उदाहरणतया, जब उड़ीसा में हरेकृष्ण मेहताब की मिलीजुली सरकार ने 21 फरवरी 1961 को बजट पास किये बिना त्यागपत्र दे दिया तब राज्यपाल ने मुख्य सचिव तथा विधि पदाधिकारियों से सलाह करके 23 फरवरी 1961 को अध्यादेश द्वारा बजट पास कर दिया।[70] 25 फरवरी 1961 को उड़ीसा में संवैधानिक तन्त्र के विफल होने और राष्ट्रपति शासन लागू करने की घोषणा कर दी गई। राष्ट्रपति शासन लागू करने के पश्चात् केन्द्रीय सरकार ने राज्यपाल को लिखा कि केन्द्रीय सरकार उस अध्यादेश को वैध नहीं समझती।[71]

उसी समय प्रधानमन्त्री ने भी लोकसभा में कहा कि इस विषय पर न्यायाधीशों के भी भिन्न-भिन्न विचार हैं।[72] इसलिये जब तक न्यायालय का इस बारे में कोई निर्णय नहीं हो जाता तब तक केन्द्रीय सरकार के मत को अन्तिम नहीं माना जा सकता।

ऐसा लगता है कि राज्य के विधि अधिकारियों ने जो सलाह दी थी वह अधिक तर्कसंगत थी। जैसे राज्यपाल के कहने के बावजूद उड़ीसा के मन्त्रिमण्डल ने जब कि उसका विधान-सभा में काफी बहुमत था, बजट पास करने से इन्कार कर दिया इसी प्रकार से यदि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल भी ऐसा ही कर दे तो फिर क्या होगा ? ऐसी स्थिति केन्द्र में उस समय उत्पन्न हो सकती है जब वहाँ पर मिलीजुली सरकार हो और यदि वह मन्त्रिमण्डल बजट सत्र के समय त्यागपत्र दे दे और उस के स्थान पर अन्य मन्त्रि-मण्डल की नियुक्ति न हो सके तो फिर क्या होगा ? राज्यों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[73] यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाये तो राष्ट्रपति के पास अध्या-देश द्वारा बजट पास करने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं होगा। जर्मनी में राष्ट्र-पति हिन्डनबर्ग ने अपने आदेश (Decree) द्वारा ही, ऐसी स्थिति में, बजट पास किया था। वहाँ पर जब यह स्पष्ट हो गया कि ब्रूनिंग सरकार बजट पास नहीं कर सकेगी तब सरकार ने बजट विधेयक को वापस ले लिया और राष्ट्रपति ने अपने आदेश से बजट पास कर दिया।[74]

बजट अध्यादेश द्वारा पास किया जा सकता है, इस तर्क का समर्थन इस बात से भी होता है कि जब राज्यपाल अध्यादेश द्वारा कर लगा सकते हैं, खर्च कर सकते हैं तो फिर बजट पास क्यों नहीं हो सकते। उदाहरणतया, केन्द्र में राष्ट्रपति ने बंगला देश के शरणार्थियों का खर्च बर्दाश्त करने के लिये करोड़ों रुपये के कर अध्या-देश द्वारा लगाये थे।[75] इसी प्रकार से राष्ट्रपति ने विनियोग अध्यादेश भी जारी किया था। उदाहरणतया, "29 मार्च 1956 को लोकसभा ने तिरुवांकुर-कोचीन विनियोग विधेयक पास किया था। राज्यसभा का सत्र नहीं हो रहा था। इसलिये राष्ट्रपति ने 31 मार्च 1956, को तिरुवांकुर कोचीन विनियोग अध्यादेश जारी किया ताकि लोकसभा द्वारा पास किये गये विधेयक को लागू किया जा सके। जब 16 अप्रैल 1956 को राज्यसभा का सत्र आरम्भ हुआ तब विधेयक उस की स्वीकृति के लिये भेजा गया।"[76]

इससे यह सिद्ध होता है कि धन, अध्यादेश द्वारा इकट्ठा तथा खर्च किया जा सकता है। इसलिये यह कहना कि थोड़े समय के लिये भी बजट अध्यादेश द्वारा पास नहीं किया जा सकता, ठीक नहीं है। लेकिन क्या अध्यादेश द्वारा बजट पास करने से अनुच्छेद 265 का उल्लंघन नहीं होता, जिस में यह कहा गया है कि 'कानून के बिना कर लगाये या इकट्ठे नहीं किये जायेंगे। यह अनुच्छेद कार्यपालिका के आदेश द्वारा कर लगाने या इकट्ठे करने से रोकता है न कि अध्यादेश द्वारा। तिरुवांकुर-कोचीन न्यायालय के अनुसार, "इस अनुच्छेद का सिद्धान्त यह है कि प्रतिनिधित्व नहीं तो कर भी नहीं।" इस अनुच्छेद में 'ला' (Law) का अर्थ विधानपालिका द्वारा पास किये गये

एक्ट से है।............14-7-1950 को हिज हाईनैस (राजप्रमुख), ने जो आदेश जारी किया है वह कार्यकारी आदेश (एक्जेक्टिव आर्डर) है "न कि अनुच्छेद 265 के अधीन कानून। इसलिये इस आदेश द्वारा आवेदक के विक्रय पर जो कर लगाया गया है, उसका कोई औचित्य नहीं है। आवेदक के नियतांश मे अधिक विक्रय पर 20 प्रतिशत कर, इसलिये अवैध है।"[77] लेकिन जहां तक इस निर्णय का सबन्ध है उसमें अध्यादेश नहीं आता क्योंकि अनुच्छेद 213 के अधीन राज्यपाल के अध्यादेश जारी करने का अधिकार उतना ही विस्तृत है जितना विधानपालिका का कानून बनाने का।[78] इस दृष्टिकोण का समर्थन कि बजट अध्यादेश द्वारा पास किया जा सकता है अनुच्छेद 357 (1)[79] से भी होता है। इस अनुच्छेद में यह कहा गया है कि राष्ट्रपति उस समय तक राज्य की सचित निधि (Consolidated Fund) मे खर्च नही कर सकता जब तक संसद उसे अधिकार न दे। इसका अर्थ यह है कि संसद साधारणतया राष्ट्रपति को खर्च करने का अधिकार नही दे सकती। दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि राष्ट्रपति या राज्यपाल के पास जो अधिकार नही हैं उन का वर्णन सविधान में किया हुआ है।[80] चूंकि सविधान में यह कही नही कहा गया कि राज्यपाल अध्यादेश द्वारा बजट पास नही कर सकता, इसका अर्थ यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में वह ऐसा कर सकता है। लेकिन ऐसा उसे तब ही करना चाहिये जब उसके पास कोई विकल्प न हो। चूंकि राज्यों में अनुच्छेद 356 के अधीन इसका विकल्प है इसलिए साधारणतया बजट अध्यादेश द्वारा पास नही किया जाना चाहिये क्योंकि यदि एक बार यह परम्परा शुरु हो जाये तो उस का देश की संसदीय प्रणाली पर बुरा प्रभाव पड़ने का भय है।

यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि राज्यपाल, जब वह राष्ट्रपति के एजन्ट के रूप में कार्य करता है तो अनुच्छेद 357 के अधीन अध्यादेश द्वारा भी कर लगा सकता है। उदाहरणतया, 1968 में उत्तर प्रदेश में जब राष्ट्रपति शासन था तब राज्यपाल ने अध्यादेश द्वारा कर लगाये थे। राज्यसभा में इसके सवैधानिक औचित्य पर अपत्ति उठाते हुए एम० डी० मिश्रा ने कहा "कि संसद की स्वीकृति के बिना राज्यपाल को नये कर लगाने का संवैधानिक अधिकार नही है।"[81] लेकिन सरकार ने इस बात को नही माना।

अध्यादेश की स्वीकृति

जब कभी भी अनुच्छेद 213 (2) के अधीन अध्यादेश जारी किया जाता है तो उसे विधान-सभा के सामने तथा जहां पर विधान परिषद् भी है, वहां पर दोनों सदनों के सामने रखा जाता है। विधानपालिका सत्र आरम्भ होने के छः सप्ताह के पश्चात् या उस से पहले यह समाप्त हो जायेगा यदि विधान-सभा या जहा पर विधान परिषद् है वहा पर दोनों सदन उस की अस्वीकृति का प्रस्ताव पास कर दे। राज्यपाल किसी भी समय इसे वापस ले सकता है। जहा पर विधान-सभा तथा विधान परिषद् का सत्र भिन्न-भिन्न तिथियों को हो वहां पर छः सप्ताह का समय उस तिथि से गिना जायेगा जिस तिथि मे विधान-सभा या विधान परिषद्, दोनों में से जिस का सत्र बाद मे

समाप्त हुआ है।

यदि अध्यादेश सत्र समाप्त होने के अगले ही दिन जारी किया जाये तो यह अधिक से अधिक 7½ महीने चल सकता है। यदि विधान-सभा और जहां पर द्विसदनात्मक विधानपालिका है वहां पर विधान-सभा तथा विधान परिषद् दोनों ही उसे अस्वीकार करने का प्रस्ताव सत्र आरम्भ होने ही पास कर दें, तो यह इस समय से पहले ही समाप्त हो जायेगा। यदि विधान-सभा उस समय भंग कर दी जाये जब अनुच्छेद 174 (1) के अधीन इसके सत्र बुलाने का समय हो तो फिर यह 7½ महीने से अधिक समय तक भी रह सकता है।

जहां तक अध्यादेश जारी करने तथा उसके जारी रहने के समय का सम्बन्ध है, यह जरूरी नहीं कि वे साथ-साथ चलें। क्योंकि अध्यादेश किसी पीछे की तिथि से भी, यहां तक कि उस तिथि से जब सत्र चल रहा था, जारी किया जा सकता है। उदाहरणतया, पंजाब के राज्यपाल ने पंजाब विधानपालिका (अनर्हता रोकने वाला) ऐक्ट 1952 में संशोधन करने के लिए एक अध्यादेश जारी किया। इस अध्यादेश में यह व्यवस्था की गई थी कि पंचायत या जिला समिति के अध्यक्ष के पदों को यह नहीं समझा जायेगा कि उन पदों पर आसीन होने वाला व्यक्ति कभी भी पंजाब विधान-पालिका का सदस्य नहीं बन सकता था या नहीं बन सकता है।[82] क्या अध्यादेश पिछली उस तिथि से आरम्भ हो सकता है जिस तिथि को विधानपालिका का सत्र हो रहा था या नहीं, यह प्रश्न जितेन्द्र लाल बनाम एल० पी० राव में 1956 में पटना उच्च न्यायालय में उठाया गया था। उस मुकद्दमे में न्यायालय ने निर्णय दिया कि ऐसा हो सकता है।[83] इसका अर्थ यह है कि इसके जारी करने के समय पर प्रतिबन्ध है (यह उस समय जारी नहीं किया जा सकता जब विधानपालिका का सत्र हो रहा हो) न कि इसके शुरू होने पर।

यहां पर यह चर्चा भी की जा सकती है कि कुछ अध्यादेश, न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित किये गये कानूनों को वैध बनाने के लिये भी जारी किये गये हैं और उन्हें पीछे की तिथि से लागू किया गया है। उदाहरणतया, 1954 में आयकर अधि-करण से सम्बन्धित सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को रद्द करने के लिये एक अध्यादेश जारी किया गया था जो पीछे की तिथि से लागू किया गया था।[84] इसी प्रकार से जब राजस्थान उच्च न्यायालय ने श्रीमती कान्ता कथूरिया का चुनाव इस बिना पर अवैध घोषित कर दिया था कि वह सरकारी वकील होने के कारण लाभदायक पद पर है, इसलिये वह विधान-सभा का चुनाव नहीं लड़ सकती थी। उस का चुनाव अवैध घोषित किये जाने के पश्चात् राज्यपाल ने एक अध्यादेश जारी किया जिसके अनुसार सरकारी वकील के पद को लाभदायक पदों की सूचि से निकाल दिया गया था और उस अध्यादेश को पीछे की तिथि से लागू किया गया था। यह अध्यादेश उस समय जारी किया गया जब अपील सर्वोच्च न्यायालय के विचार अधीन थी।[85] ऐसे दूसरे और भी काफी उदाहरण मिलते हैं जहां पर राज्यपालों ने अध्यादेश इसलिये जारी

किये ताकि उच्च न्यायालय कोई ऐसा निर्णय न दे सके जिसे राज्य सरकार पसन्द न करती हो। पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल ने ऐसा किया था और फिर भी "न्यायालय ने उसे इस आधार पर वैध घोषित कर दिया क्योंकि न्यायालय यह जांच पड़ताल नहीं कर सकता कि अध्यादेश किन परिस्थितियों में जारी किया गया था, हालांकि पूरे बेंच ने कड़े शब्दों में, न्यायिक घोषणा को इस प्रकार से रोकने की कार्यपालिका की नीति की आलोचना की थी।"[86] इस सम्बन्ध में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अध्यादेश तो पीछे की तिथि से लागू किया जा सकता है लेकिन अनुच्छेद 309 के उपबन्ध के अधीन राज्यपाल का आदेश पीछे की तिथि से लागू नहीं हो सकता।[87] इस उपबन्ध का सम्बन्ध राज्य के कर्मचारियों की सेवाओं से है।

अध्यादेश के बारे में यह भी प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या अध्यादेश को विधानपालिका के सामने रखना आवश्यक है? इस में कोई सन्देह नहीं कि अध्यादेश 213 (2) में कहा गया है कि अध्यादेश विधानपालिका के सामने रखा जायेगा। लेकिन ऐसा होते हुए भी, यदि अध्यादेश विधानपालिका का सत्र आरम्भ होने से पहले वापस ले लिया जाये तो फिर उसे विधानपालिका में रखना आवश्यक नहीं है। ऐसे काफी उदाहरण मिलते हैं जहां पर अध्यादेश को सदन के पटल पर रखे बिना समाप्त होने दिया गया है।[88] यदि राज्यपाल अध्यादेश को विधानपालिका के पटल पर नहीं रखता तो उस का परिणाम यही होगा कि सत्र आरम्भ होने के छः सप्ताह पश्चात् वह स्वयं ही समाप्त हो जायेगा, लेकिन समाप्त होने तक यह वैध रहेगा। यदि सरकार इसे जारी रखना चाहती है तो फिर इसे बिल के रूप में पेश करके पास करना होगा।[89] उस स्थिति में अध्यादेश जारी करने के पश्चात् जो सत्र होता है, उस के आरम्भ होने पर उसे विधानपालिका के पटल पर रखना पड़ेगा।

यदि राज्यपाल चाहे तो किसी ऐसे अध्यादेश को विधानपालिका के पटल पर रख सकता है जो समाप्त हो गया हो। उदाहरणतया, 1954 में राष्ट्रपति ने कुंभ के मेले में जाने वाले यात्रियों पर अध्यादेश द्वारा कर लगाया था। हालांकि अध्यादेश संसद सत्र आरम्भ होने से पहले ही समाप्त हो गया था, लेकिन फिर भी उसे संसद के पटल पर रखा गया था। चूंकि राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के अध्यादेश जारी करने के अधिकार समान हैं, इसलिये राज्यपाल भी ऐसा कर सकता है।

अध्यादेश जारी करने के पश्चात् चाहे उसे विधानपालिका के पटल पर रखा जाये या न रखा जाये, कोई भी विधायक, सत्र आरम्भ होने पर इसे वापस लिये जाने का प्रस्ताव पेश कर सकता है। राज्यपाल अध्यादेश को विधान-सभा के पटल पर न रख कर, विधायकों को इस बात से नहीं रोक सकता कि वे अध्यादेश को रद्द करने का प्रस्ताव ही पेश न करें ताकि वह सत्र आरम्भ होने के छः सप्ताह पश्चात् तक चलता रहे। जब कभी भी विधानपालिका इसे अस्वीकार करने का प्रस्ताव पास कर देगी उसी समय यह समाप्त हो जायेगा। यदि राज्य की विधानपालिका में दो सदन हैं और वे दोनों सदन भिन्न-भिन्न तिथियों को इसे रद्द करने का प्रस्ताव पास करते हैं तो वह उस

तिथि से रद्द होगा जो बाद में होगी।

यदि विधानपालिका में दो सदन हैं और इसकी अस्वीकृति का प्रस्ताव केवल एक सदन द्वारा पास किया गया हो तो इसका उसके जारी रहने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और यह सत्र आरम्भ होने के छः सप्ताह पश्चात् तक चलता रहेगा। यह इससे पहले केवल तब ही समाप्त हो सकता है जब दोनों सदन इसे वापस लेने का प्रस्ताव पास कर दें या स्वयं राज्यपाल इसे वापस ले ले। दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि विधानपालिका के एक सदन द्वारा रद्द किये जाने के पश्चात् भी (जहां पर दो सदन हैं) अध्यादेश चलता रहेगा। यह आश्चर्यजनक बात है कि अध्यादेश को रद्द करने के लिये भी दोनों सदनों की अस्वीकृति की आवश्यकता है (जहां पर दोनों सदन हों)। यह और भी अधिक आश्चर्यजनक इसलिये लगता है कि अनुच्छेद 197 के अधीन विधान सभा विधान परिषद् की अनुमति के बिना कानून तो बना सकती है लेकिन अध्यादेश रद्द नहीं कर सकता। जब विधान परिषद् की अनुमति के बिना विधान सभा कानून बना सकती है तो फिर अध्यादेश को रद्द करने के लिये विधान परिषद् की स्वीकृति की क्या आवश्यकता है?

जहां तक राज्यपाल के अध्यादेश जारी करने के अधिकार का सम्बन्ध है, वह काफी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह पीछे की तिथि से अध्यादेश जारी करके विधानपालिका द्वारा पास किये गये कानूनों को प्रभावशून्य बना सकता है। यदि राज्यपाल चाहे तो इस का दुरुपयोग भी कर सकता है। इस दुरुपयोग में दो तत्त्व विशेष रूप से सहायक हो सकते हैं। पहला तो यह है कि इसे जारी करने के लिये केवल राज्यपाल की सन्तुष्टि होनी चाहिये और राज्यपाल की सन्तुष्टि को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। दूसरे, अध्यादेश का समय निश्चित नहीं है और यह पीछे की किसी भी तिथि से आरम्भ किया जा सकता है। और यह तथ्य है भी कि केन्द्र तथा राज्यों में इस का काफी दुरुपयोग किया गया है। उदाहरणतया बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सम्बन्धित अध्यादेश संसद का सत्र आरम्भ होने से 48 घण्टे पहले जारी किया गया था।

अध्यादेश जारी करने के अतिरिक्त राज्यपाल को, संविधान की अनुसूची 5 के पैरा 5 (1) में कानून बनाने के विशेष अधिकार भी दिये गये हैं। इस अनुसूची में यह व्यवस्था की गई है कि अनुसूचित क्षेत्रों (scheduled area) के लिये राज्यपाल, यदि चाहे तो, संसद या विधानपालिका द्वारा बनाये गये कानूनों में परिवर्तन कर सकता है, और यदि आवश्यकता हो तो उसे पीछे की तिथि से भी लागू कर सकता है। इसके अतिरिक्त संविधान में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्यपाल ऐसा संविधान में किसी भी बात का ध्यान न रखते हुए (notwithstanding any thing) कर सकता है। यह अधिकार राज्यपाल को अनुसूचित क्षेत्रों के हितों की रक्षा के लिये दिया गया है और इन क्षेत्रों में अधिकतर अनुसूचित कबीलों के लोग रहते हैं। संविधान द्वारा राज्यपाल को यह विशेष कर्त्तव्य सौंपा गया है कि वह उन अनुसूचित

क्षेत्रों, जिन की घोषणा राष्ट्रपति अनुसूची 5 की धारा 6 के अधीन करता है, वहां पर कानून को लागू करने उसमें परिवर्तन करने का निर्णय, वहां की जनता के हितों को ध्यान में रखता हुआ करेगा।[90]

संदर्भ

1. जब बिल विधानपालिका से पास हो जाता है तब यह राज्यपाल की अनुमति के लिये भेजा जाता है और फिर राज्यपाल यह घोषणा करता है कि उसने बिल को स्वीकृति दी है या उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिये अपने पास रख लिया है।

   जब विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति के लिये उसके पास आता है तो वह उसे, बशर्ते कि वह वित्त विधेयक न हो, सदन के पास अपने संदेश के साथ वापस भेज सकता है और अपने सन्देश में वह यह सुझाव भी दे सकता है कि उस विधेयक में क्या-क्या संशोधन किये जायें। जब विधेयक दोबारा सदन के पास वापस आता है तो सदन उस पर दोबारा विचार करेगा और यदि विधानपालिका संशोधन सहित या बिना संशोधन उस विधेयक को दोबारा पास कर दे तो फिर राज्यपाल उस विधेयक को अनुमति देने से इन्कार नहीं करेगा।

   बशर्ते राज्यपाल किसी भी ऐसे विधेयक को अनुमति नहीं देगा जो उसके विचार में उच्च न्यायालय की शक्तियों को कम करता है या जिससे उच्च न्यायालय की स्थिति कमजोर होती है। प्रत्येक ऐसे बिल को वह राष्ट्रपति की अनुमति के लिये सुरक्षित रखेगा।
2. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 8, पृष्ठ 192.
3. वही; पृष्ठ 194-95.
4. पाकिस्तान के संविधान के अनुच्छेद 57 के अनुसार, "जब राष्ट्रपति किसी बिल को अनुमति न देने की घोषणा करता है तो फिर राष्ट्रीय सभा उस पर पुनर्विचार करेगी, और यदि वह उसे संशोधन या बिना संशोधन उपस्थिति तथा मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पास कर दे, तो इसे दोबारा राष्ट्रपति के पास भेजा जायेगा और राष्ट्रपति उसे अनुमति देगा।"
5. "The Governor may as soon as possible after the presentation to him of the Bill for assent, return the Bill if it is not a Money bill together with a message requesting that the House or Houses will reconsider the Bill or any specified provisions there of and in particular, will consider the desirability of introducing any such amendments as he may recommend in his message."
6. ड्राफ्ट संविधान का अनुच्छेद, 175.
7. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 9, पृष्ठ 61.
8. अनुच्छेद, 200.
9. 'कमेन्ट्री ऑन दि कानस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया', पांचवा संस्करण, नवम्बर 1965, वॉल्यूम् 2, पृष्ठ 686.
10. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 5, पृष्ठ 194.

11. (क) केशवन माधवन मेनन वनाम बम्बई राज्य, 'ए आइ. आर ', 1951 सर्वोच्च न्यायालय, 129

(ख) कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य, ए आइ आर ', 1952 सर्वोच्च न्यायालय 309

12 श्रीराम शर्मा, 'सुप्रीम कोर्ट इन इण्डिया', 1959, पृष्ठ 64

13 रामनन्दन बनाम स्टेट, ए आइ आर ', 1959, इलाहाबाद 123

14 'ए आइ आर ', 1961 सर्वोच्च न्यायालय 129 तथा 'ए आइ. आर.', 1952 सर्वोच्च-न्यायालय, *309*

15 'राज्यसभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 25 भाग क, 1959, पृष्ठ 93

16 'संविधान-सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 10, पृष्ठ 353

17 वही, पृष्ठ 357

18 वही, पृष्ठ 353

19 वही, पृष्ठ 354

20 बम्बई गैस कम्पनी बनाम आर० एन० कुलकरनी, ए० आई० आर० 1965, बम्बई 172

21 राना हरी सिंह बनाम स्टेट 'ए० आइ० आर०', 1964, राजस्थान 118

22 मैंने अपनी पुस्तक "दि इण्डियन प्रेजीडेन्सी" में पृष्ठ 118 पर लिखा था कि सदन ऐसा नहीं कर सकता, लेकिन अब मैं उस मत से सहमत नहीं हूं।

23 This paragraph says that "without the prejudice to the generality of his powers as to the reservations of Bills, our Governor shall not assent to in our name but shall reserve for the consideration of our governor General any Bill or any of the clause here in specified, i e

(4) Any Bill which in his opinion would if it became a law so derogate from the powers of the High-Court as to endanger the position that-that-courts is by the Act designed is fulfil"

C A D, vol X pp 393 94

24 डी० डी० बसु "कमेण्ट्री ऑन दि कानस्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया." चौथा संस्करण *1963*, वॉल्यूम् 3 पृष्ठ 300

25 वही, यह निर्णय इलाहाबाद उच्च न्यायालय का है।

26 मध्यप्रदेश पंचायत बिल, 1961

27 तमिलनाडु विधान-सभा द्वारा सम्बन्ध विच्छेद रोकने का बिल, 'इण्डियन एक्सप्रेस', मई 6, 1966

28 'ए आइ आर ', 1961, असम, पृष्ठ 16 (ए)

29 सकरमाला रामानुज बनाम उड़ीसा स्टेट, 'ए आई आर ', 1957, उड़ीसा 96

30 वही, पृष्ठ 95

31 वही।

32 'ए आई आर ', 1954, राजस्थान 292

33 'ए आई आर ', 1964, कलकत्ता 502

34 'ए आइ आर ', 1952, सर्वोच्च न्यायालय 252

35. 'ए आई आर ', 1964, कलकत्ता 502

36. वही।
37. वही; 'ए. आई. आर.', 1952, सर्वोच्च न्यायालय 252.
38. अशोक चन्दा, 'फैड्रलिज़म इन इण्डिया', प्रथम संस्करण, 1965, पृष्ठ 98-99.
39. 'दि ट्रिब्यून', मार्च 5, 1967.
40. बम्बई गैस कम्पनी बनाम आर. एन. कुलकर्णी, 'ए. आई. आर.', 1965 बम्बई 172.
41. पंजाब के राज्यपाल के पद से मुक्त होते समय संवाददाताओं से बातें करते हुए उन्होंने कहा, कि "उन्होंने किसी ऐसे बिल को स्वीकृति नहीं दी जिससे भ्रष्टाचार फैलता हो। उन्होंने बहुत से ऐसे विधेयकों को रद्द किया जिन्हें दूसरे राज्यों में राज्यपालों ने आपत्ति उठाये बिना स्वीकृति दे दी थी। यह मैंने विशेषकर कारपोरेशन से सम्बन्धित विधेयकों के बारे में किया था। मुख्यमंत्री वहां पर विधायकों को लगाना चाहते थे हालांकि विधायक होते हुए वे किसी लाभ के पद पर आसीन नहीं हो सकते थे।" डॉ. पावते अपनी विवेकी शक्तियों को कम किये जाने के लिये तैयार नहीं थे और उन्होंने अनेक मुख्यमन्त्रियों को इसकी सूचना दे दी थी।
'दि ट्रिब्यून', मई 20, 1973, पृष्ठ 10.
42. अनुच्छेद, 207.
43. अनुच्छेद, 203 (3).
44. उदाहरणतया, मधु लिमये ने लोकसभा में एक विधेयक पेश किया जिसका उद्देश्य संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में संशोधन करके यह व्यवस्था करना था कि सरकार 26 जुलाई 1968, से मुफ्त तथा अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था करे। लेकिन जब यह मालूम हुआ कि इसे पेश किये जाने से पहले राष्ट्रपति की अनुमति नहीं ली गई तो इस पर विचार बन्द करना पड़ा। दि स्टेट्समैन, 29 मई 1967, पृष्ठ 9.
45. अनुच्छेद, 255.
46. लोकसभा डिबेट्स', वॉल्यूम 7, भाग 2, 1956, कॉलम 2726.
47. स्टेट ऑफ पंजाब बनाम सत्यपाल, 'ए. आई. आर.', 1969, सर्वोच्च न्यायालय 917.
48. हरन चन्द्रा बनाम स्टेट ऑफ वेस्ट बंगाल, 'ए. आई. आर', 1952, कलकत्ता 907.
49. विश्वनाथ अग्रवाल बनाम स्टेट ऑफ उत्तर प्रदेश, 'ए. आई. आर.', 1956, इलाहाबाद 561, 'ए. आई. आर.', 1960, इलाहाबाद 205.
50. उपेन्द्र लाल बनाम नारायणी देवी, 'ए. आई. आर.', 1968, मध्यप्रदेश 90.
51. 'दि ट्रिब्यून', जून 18, 1970, पृष्ठ 8.
52. वही।
53. वही; पृष्ठ 1.
54. वही; नवम्बर 8, 1973, पृष्ठ 1.
55. 'ए. आई. आर.', 1967 आन्ध्रप्रदेश, 362.
56. स्वर्णीलाल बनाम एस. एन. राना, 'ए. आई. आर.', 1964, सर्वोच्च न्यायालय 648.
57. 'दि ट्रिब्यून', अगस्त 15, 1969, पृष्ठ 4.

12

राज्यपाल तथा शासन प्रबन्ध

नियुक्ति का अधिकार

अनुच्छेद 154 के अनुसार राज्य की कार्यकारी शक्तियां राज्यपाल को दी गई है और उनका प्रयोग वह प्रत्यक्ष रूप से या पदाधिकारियों के माध्यम से कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि राज्य के शासन प्रबन्ध मे उस का भी कुछ हाथ है। इस तर्क का समर्थन अनुच्छेद 167, 201 तथा 356 से भी होता है। अनुच्छेद 167 भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करता है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि मुख्यमन्त्री का यह कर्तव्य है कि राज्यपाल को प्रशासन तथा पास किए जाने वाले कानूनों से अवगत कराये। प्रशासन तथा कानूनो के सम्बन्ध मे राज्यपाल जो सूचना चाहे, उसे वह दे। इस के अतिरिक्त इस अनुच्छेद में यह भी कहा गया है कि किसी ऐसे विषय के बारे मे, जिस पर मन्त्री ने कोई निर्णय लिया हो लेकिन मन्त्रिमण्डल ने उस पर विचार न किया हो, यदि राज्यपाल चाहे तो उसे मन्त्रिमण्डल के सामने सोच-विचार के लिये रखने को कह सकता है। लेकिन यहां पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि राज्यपाल दिन प्रतिदिन के शासन प्रबन्ध में हस्तक्षेप नही करता। कुछ राज्यपाल तो शासन प्रबन्ध में बिल्कुल ही सक्रिय भाग नही लेते। उदाहरणतया, श्रीप्रकाश के शब्दों में "मुझे याद है कि बिहार के राज्यपाल ने मुझे लिखा था, कि उस का मुख्य-मन्त्री प्रत्येक दूसरे दिन दिल्ली की यात्रा करता है और उस से कोई सलाह नही करता। वह इस बात से बहुत नाराज था, लेकिन न तो वह मुख्यमन्त्री को इस बात के लिये विवश कर सकता था कि वह शासन प्रबन्ध के बारे में उस से सलाह करे और न ही वह उसे दिल्ली जाने से रोक सकता था"।[1] इसी प्रकार से केन्द्रीय सरकार के भूतपूर्व गृह सचिव एच० वी० आर० आयंगर के अनुसार, "मैं एक ऐसे राज्यपाल को जानता हूं जो अकाल पीड़ित क्षेत्र का दौरा करना चाहता था ताकि राज्य की जनता को यह मालूम हो जाये कि राज्य के प्रमुख की उन के कल्याण में रुचि है, और इसलिये भी वह वहां पर जाना चाहता था ताकि मन्त्रिमंडल को इस सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव दे सके। लेकिन मुख्यमन्त्री ने दौरा करने की आज्ञा नही दी।"[2] यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि राज्यपाल अपने राज्य में अपने दौरे का प्रोग्राम स्वयं बनाते हैं, और राज्य से बाहर के दौरे का प्रोग्राम राष्ट्रपति की आज्ञा से बनाते है।

बम्बई के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीप्रकाश के अनुसार "कुछ मुख्यमन्त्रियों ने जो अपनी शक्ति को जानते थे, राज्यपाल की परवाह करनी छोड़ दी। यहां तक कि उन्होंने उन विषयों पर भी राज्यपालों की सलाह लेनी छोड़ दी जिनके बारे में सवैधानिक दृष्टि से ऐसा करना अनिवार्य था। एक राज्य में मुख्यमन्त्री फांसी दिये गये अपराधियों के क्षमायाचना के आवेदनपत्र सीधा राष्ट्रपति के पास भेजता था हालांकि संविधान के अनुसार उन आवेदनपत्रों को रद्द करने से पहले राज्यपाल के पास भेजना अनिवार्य था। *मुख्यमन्त्री केन्द्रीय सत्ता से सम्बन्ध रखने को तरजीह देते थे या उन्हें राज्यपालों की परवाह न करने की आज्ञा दी जाती थी।*"[3]

लेकिन कुछ राज्यपाल ऐसे भी हुए हैं जो राज्य के प्रशासन में सक्रिय भाग लेते थे। उदाहरणतया, "सर चन्दूलाल त्रिवेदी 1947 के पश्चात् जहां पर भी राज्यपाल रहे वहां पर उन्होंने प्रशासन में सक्रिय भाग लिया। जब वे पंजाब के राज्यपाल थे तब तो वे वास्तविक रूप में अपने अधिकारों का प्रयोग करते रहे"।[4] इसी प्रकार धर्मवीर ने जब वे पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल थे 9 जून 1967 को "जिला न्यायाधीशों तथा पुलिस कप्तानों की बैठक राजभवन में बुलाई बैठक में राज्यपाल ने कहा कि पदाधिकारियों का मार्ग-दर्शन भारतीय दण्ड विधि से होना चाहिये उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए *कि उनका सम्बन्ध अखिल भारतीय सेवाओं से है, उनका कर्तव्य सारे* देश और राष्ट्र के प्रति है। *उन्होंने यह भी* कहा कि मन्त्रियों को उन्हें मौखिक आदेश नहीं, बल्कि लिखित आदेश देने चाहिये"।[5] जहां तक राज्यपाल द्वारा पुलिस कप्तानों तथा जिले के न्यायाधीशों को राजभवन में बुलाये जाने का सम्बन्ध था वह बहुत ही असाधारण तथा परम्परा के विरुद्ध था। स्वतन्त्रता के पश्चात् इस प्रकार से राजभवन में उन्हें कभी नहीं बुलाया गया था।[6] भारतीय साम्यवादी दल ने इस बारे में प्रस्ताव पास करते हुए यह दोष लगाया कि "राज्यपाल, राज्य के अफसरों से सीधा सम्पर्क बना कर, राज्य के शासन प्रबन्ध में गड़बड़ करना चाहते हैं।" उन्होंने इस बात की भी निन्दा की कि "राज्यपाल *समानान्तर सरकार स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं* और *राज्यपाल केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप का बहाना तैयार कर* रहे हैं।[7] इसलिए कम्यूनिस्ट पार्टी ने, यह मांग की कि राज्यपाल धर्मवीर को वापस बुला लिया जाये और उसके स्थान पर ऐसे राज्यपाल की नियुक्ति की जाये जो संवैधानिक प्रमुख के तौर पर कार्य करने को तैयार हो।" लेकिन इस प्रस्ताव के बावजूद भी राज्यपाल ने अपने काम करने के ढंग में कोई परिवर्तन नहीं किया और नवम्बर 1967 में उसने इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस, कमिश्नर तथा अन्य पदाधिकारियों को बुलाया और उनसे इस बात पर परामर्श किया कि वे कानून व्यवस्था के भंग हो जाने की *सम्भावना के बारे में क्या* उपाय कर रहे हैं।[8]

एन० वी० गाडगिल जब पंजाब के राज्यपाल थे, तो उन्होंने भी इस प्रान्त के प्रशासन में काफी दिलचस्पी ली थी। जब उनसे यह पूछा गया कि शासन प्रबन्ध के बारे में क्या उनसे सलाह ली जाती थी, तो उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि

"उनकी सलाह का सदा आदर किया गया। नीति से सम्बन्धित सलाह को तो सदा ही माना गया। जहां तक कुछ नियुक्तियों का सम्बन्ध था, उनके बारे में उनकी सलाह को नहीं माना गया।"[9] दूसरे शब्दों में कुछ नियुक्तियों को छोड़कर, नीतियों के सम्बन्ध में उन्होंने शासन प्रबन्ध में भाग लिया।

अजित प्रसाद जैन जी, जब वे केरल के राज्यपाल थे तो काफी सक्रिय थे। उनके अनुसार "राज्यपालों के व्यवहार के बारे में कोई सामान्य संहिता नहीं है। अमेरिका में राज्यपाल, राष्ट्रपति के चुनाव में सक्रिय भाग लेते हैं। प्रश्न यह है कि क्या मेरे जैसे राज्यपाल को जो राजनैतिक निर्णय लेता है, जो राजनैतिक वाद-विवाद में भाग लेता है, उसे अमेरिका के राज्यपाल के समान नहीं समझा जाना चाहिये"।[10]

राज्यपालों के सम्बन्ध में यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि 1967 से पहले जब कभी भी राज्यपाल तथा मुख्यमन्त्री में मतभेद हुआ उस समय या तो राज्यपाल ने त्यागपत्र दे दिया या मुख्यमन्त्री की बात को मान लिया। उदाहरणतया, जयराम दौलतराम जो बिहार के राज्यपाल थे और श्रीकृष्ण सिन्हा जो वहां के मुख्यमन्त्री थे उनके मतभेदों के बारे में लिखते हुए अजित प्रसाद जैन ने कहा है, "मुझे याद है कि मैंने उस विषय पर नेहरू से बात की थी। उनका निर्णय अनुभव के आधार पर था। उन्होंने कहा कि वे राज्यपाल को हटाने के लिए राष्ट्रपति को तो सलाह दे सकते हैं लेकिन चुने हुए मुख्यमन्त्री की शक्तियों को कम नहीं कर सकते। जयरामदास दौलतराम ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। लगभग ऐसी ही परिस्थितियों में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल होमी मोदी ने भी त्यागपत्र दे दिया था।"[12]

लेकिन 1967 के पश्चात् यह देखने में आया है कि केन्द्रीय सरकार यह नहीं चाहती कि राज्यपाल, प्रान्त के शासन प्रबन्ध में मिट्टी के माधो बने रहें। राष्ट्रपति भवन में राज्यपालों के वार्षिक सम्मेलन में बोलते हुए राष्ट्रपति वी०वी० गिरी ने कहा कि "नये वातावरण में राज्यपालों के कर्त्तव्यों का विशेष महत्त्व है......अब उन्हें उन परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है जिनके बारे में संविधान निर्माताओं ने पहले कभी सोचा भी नहीं था.........अब उन्हें संविधान का ध्यान रखते हुए प्रान्त के शासन प्रबन्ध में सक्रिय भाग लेना चाहिए। मैं इस बारे में उनका ध्यान इस बात की ओर दिलाऊंगा कि संविधान सभा ने राज्यपालों के लिये एक हिदायतों का दस्तावेज जारी करने की व्यवस्था की थी। इसमें प्रत्येक राज्यपाल को यह कहा गया था कि अच्छे शासन प्रबन्ध, जनता की नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक भलाई के लिए उन्हें कार्य करना चाहिए तथा सभी वर्गों और धर्मों के लोगों में आपसी मेल-मिलाप की सद्भावना उत्पन्न करने के लिए भी कार्य करना चाहिए।"[13] यशवन्त राव चह्वाण ने भी राज्यपालों के सामने बोलते हुए कहा कि "राज्यपालों का यह कर्त्तव्य है कि वे यह देखें कि राज्य में संविधान के अनुसार शासन चल रहा है या नहीं। इस सम्बन्ध में उनके पास असीमित विवेकीय शक्तियां हैं।"[14] लगभग यही दृष्टिकोण रखते हुए श्रीमती गांधी ने भी कहा कि "राज्यपालों का कार्य बहुत कठिन तथा महत्वपूर्ण हो

गया है । अब उन्हें बहुत सतर्क तथा सावधान रहना चाहिए ।"[15]

राष्ट्रपति ने राज्यपालों की जो समिति बनाई थी उसने भी यही कहा है कि राज्यपालों का प्रशासन में सक्रिय भाग है ।[16]

चूंकि कभी-कभी कुछ राज्यपालों ने अपने उन अधिकारों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया है जो उन्हें संविधान या कानूनों द्वारा दिए गए हैं, इसलिए कभी-कभी उनका उनके मुख्यमन्त्रियों के साथ झगड़ा हुआ है । उदाहरणतया, बिहार के भूतपूर्व राज्यपाल आर०आर० दिवाकर के अनुसार, "क्षमादान, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा उपकुलपतियों की नियुक्तियां, विधानपरिषद् तथा विश्वविद्यालय समितियों की नामजदगियों, राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को भेजी जाने वाली गुप्त रिपोर्ट, राज्य के अनुसूचित कबीलों तथा जातियों से सम्बन्धित रिपोर्ट, राज्यपाल के पास भेजे जाने वाले कुछ दस्तावेजों, तथा विधेयक के कुछ प्रावधानों को लेकर कभी-कभी मतभेद रहा है । इसका अभिप्राय यह है कि जब कभी राज्यपाल को थोड़ी सी भी विवेकीय शक्तियां दी गई हैं उसी समय मतभेद पैदा हो गया है ।"[17] इसी प्रकार बिहार में भी लोक आयुक्त के बारे में राज्यपाल तथा मन्त्रिमण्डल में मतभेद था । राज्यपाल ने इस सम्बन्ध में एक अध्यादेश जारी किया था जिसमें कहा गया था कि लोक आयुक्त की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा पटना उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करके की जायेगी । लेकिन राज्यपाल उस नियुक्ति के बारे में इससे भी एक कदम आगे गये और उसकी नियुक्ति के बारे में उन्होंने न केवल मुख्य न्यायाधीश से ही परामर्श नहीं किया बल्कि उसने विधान सभा के अध्यक्ष, मुख्यमन्त्री तथा विपक्ष के नेता की भी सलाह ली । मन्त्रिमण्डल ने इस बात को पसन्द नहीं किया क्योंकि मन्त्रिमण्डल का विचार था कि लोक आयुक्त की नियुक्ति करने का अधिकार तो मन्त्रिमण्डल को है । इसलिए उन्होंने अध्यादेश को कानून का रूप नहीं दिया जिसके परिणामस्वरूप विधानपालिका का सत्र आरम्भ होने के छः सप्ताह पश्चात् वह अध्यादेश समाप्त हो गया । राज्यपाल इस बात से नाराज हुए और उन्होंने अपना दृष्टिकोण केन्द्रीय सरकार के सामने रखा । उनका दृष्टिकोण यह था कि जिस लोक आयुक्त की नियुक्ति मन्त्रिमण्डल द्वारा की जायेगी वह निष्पक्ष तथा निर्भय होकर वर्तमान तथा भूतपूर्व मन्त्रियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार तथा अधिकारों के दुरुपयोग की शिकायतों की जांच नहीं कर सकता । इस दृष्टिकोण को मानते हुए केन्द्रीय गृह मन्त्रालय ने गफ्फूर सरकार को दोबारा अध्यादेश जारी करने को कहा जो पीछे की तिथि से लागू किया गया । राज्य सरकार ने "सितम्बर 1973 को यह अध्यादेश दोबारा जारी किया ।[18] इस सम्बन्ध में चर्चा करना आवश्यक है कि यदि राज्यपाल राज्य के शासन प्रबन्ध में बहुत अधिक हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करेंगे तो विधानपालिका अनुच्छेद 154 (2) (बी) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करके उसे रोक सकती है ।"

नियुक्ति का अधिकार

प्रशासकीय अधिकारों में नियुक्ति करने का अधिकार भी शामिल है । राज्य के

प्रशासन में राज्यपाल का भी हाथ है, इस बात से सिद्ध हो जाता है कि सारी महत्त्व-पूर्ण नियुक्तियां राज्यपाल द्वारा की जाती हैं। वह मुख्यमन्त्री[19] तथा अन्य मन्त्रियों, राज्य के सार्वजनिक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों[20] एवं राज्य के एडवोकेट जनरल की नियुक्ति करता है।[21] वह उच्च न्यायालय से परामर्श करके सेशन जज की नियुक्ति करता है।[22] जिला न्यायाधीशों तथा न्यायिक सेवा के पदाधिकारियों को छोड़कर, अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति, राज्यपाल राज्यसेवा आयोग तथा उच्च न्यायालय से परामर्श करने के पश्चात् अपने (राज्यपाल) द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार करता है।[23] जब राष्ट्रपति यह निर्णय करता है कि उसके राज्य में, किस-किस जाति, गुट या कबीले को अनुसूचित जाति में शामिल किया जाये तब भी वह राज्यपाल से ही सलाह करता है।[24] इसी प्रकार राष्ट्रपति उस समय भी राज्यपाल से सलाह करता है जब वह उसके राज्य के अनुसूचित या कबीलों की जातियों की सूची तैयार करता है।[25] राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय भी राज्यपाल से सलाह करता है। इसके अतिरिक्त संविधान में की गई किसी व्यवस्था का भी ध्यान न रखते हुए "राज्यपाल, केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति किसी शर्त या बिना शर्त के साथ केन्द्रीय सरकार के पदाधिकारियों को ऐसे कार्य सौंप सकता है जो राज्य के कार्य-क्षेत्र में आते हों।"[26]

पद से हटाने का अधिकार

राज्यपाल के पास नियुक्त करने के अतिरिक्त पदाधिकारियों को पद से हटाने के अधिकार भी हैं। जब तक अन्य व्यवस्था न की जाये तब तक नियुक्ति करने के अधिकार में हटाने का भी अधिकार शामिल होता है। हालांकि कुछ नियुक्तियों के बारे में कभी-कभी यह साफ तौर पर भी लिखा हुआ होता है कि वह पदाधिकारी राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद पर रहेगा जैसे मुख्यमन्त्री, अन्य मन्त्री[27] तथा एडवोकेट जनरल।[28] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जहां पर यह नहीं लिखा हुआ वहां पर पदाधिकारी राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद पर नहीं रहते क्योंकि अनुच्छेद 310 (1) में यह कहा गया है कि "इस संविधान में जो स्पष्टतया व्यवस्था की गई है उसके अतिरिक्त, प्रत्येक वह व्यक्ति जो राज्य की असैनिक सेवा का सदस्य है, राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद पर रहेगा।" लेकिन राज्य के लोकसेवा आयोग के सदस्य इसका अपवाद हैं।[29]

यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि स्टेट ऑफ उत्तर प्रदेश बनाम बाबू राम उपाध्याय, 'ए० आई० आर', 1961 सर्वोच्च न्यायालय 751 में, राज्यपाल को अनुच्छेद 310 के अधीन दिये गये अधिकारों के बारे में यह कहा गया था कि राज्यपाल को पदाधिकारी को बरखास्त करने के जो अधिकार दिये गये हैं वे राज्य के उन कार्यकारी अधिकारों से भिन्न हैं जो उसे अनुच्छेद 154 के अधीन दिये गये हैं।[30]

जो पदाधिकारी राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त पद पर रहते हैं उनकी सेवाओं के

सम्बन्ध में विस्तृत असैनिक सेवा नियम बनाये गये हैं। इस सम्बन्ध में राजस्थान उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया है कि इस सम्बन्ध में बनाये गये नियमों के नियम 35 में जो अधिकार दिये गये हैं, उन अधिकारों का प्रयोग वह अपने विवेक का प्रयोग करके करता है। ये नियम सरकार और राज्यपाल के अधिकारों में अन्तर बतलाते है। *जो कार्य राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग करके करता है वे राज्यपाल को स्वयं करने चाहिये।"* हम इस तर्क को नहीं मानते कि इस सम्बन्ध में बनाये गये नियमों के नियम 35 के अनुसार राज्यपाल अपने इस अधिकार को सरकार को सौंप सकता है। राज्यपाल ने आवेदक को अपनी स्थिति स्पष्ट करने का कोई अवसर नहीं दिया। यह अवसर सरकार द्वारा दिया गया था। इसलिये करणसिंह के मामले में राजस्थान सरकार का वह आदेश जो दस्तावेज 12 द्वारा दिखाया गया है अवैध है और इसलिए हमारे पास इसे रद्द करने के अतिरिक्त और कोई भी चारा नहीं है। अतः हम 1965 के आवेदन नम्बर 35 को स्वीकार करते हैं।[31]

सरकारी कार्यवाही का सचालन

इन नियुक्तियों के अतिरिक्त सरकार के अधिकतर आदेश भी राज्यपाल के नाम से जारी किये जाते है,[32] और राज्यपाल के सारे आदेश उस द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार प्रमाणित किये जाते है। उनकी वैधता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी *जा सकती कि यह आदेश या दस्तावेज राज्यपाल का नहीं है।*[33] *लेकिन जब कोई आदेश राज्यपाल के नाम से जारी नहीं किया गया हो या उसे उचित ढंग से प्रमाणित नहीं किया गया हो तो वह वैध नहीं होगा।*[34] सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार "यदि सरकार का कोई आदेश नियमों के अनुसार जारी नहीं किया जाये तो उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसे अनुच्छेद 166 (2) के अधीन चुनौती नहीं दी जा *सकती, लेकिन वह इस बिना पर अवैध नहीं होगा।"*[35]

राज्यपाल बतौर चॉन्सलर

कुछ विश्वविद्यालयों में राज्यपाल पदेन चान्सलर भी है और उस स्थिति में वह उपकुलपति की नियुक्ति करता है तथा विश्वविद्यालय की अनेक समितियों के सदस्यों को मनोनीत करता है। कुछ ऐसे भी उदाहरण है जहां पर राज्यपालों ने कानून द्वारा दिये गये इन *अधिकारों का प्रयोग मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर करने से इन्कार कर दिया है। उदाहरणतया, उड़ीसा के भूतपूर्व राज्यपाल एम० एस० अन्सारी ने "उड़ीसा मन्त्रिमण्डल की सिफारिशों को रद्द करते हुए* डा० चौधरी नित्यानन्द नन्दा को विश्वविद्यालय का उपकुलपति नियुक्त कर दिया था। मुख्यमन्त्री विश्वनाथ दास ने राज्यपाल से अपने निर्णय पर दोबारा विचार करने के लिए कहा लेकिन डा० अन्सारी ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया।"[36] यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि पश्चिमी बंगाल तथा मैसूर के भूतपूर्व राज्यपाल धर्मवीर का भी यही विचार है कि कुलपति के रूप में कार्य करते हुए राज्यपाल के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह

सदर्भ

1 'दि ट्रिब्यून', अप्रैल 17, 1969, पृष्ठ 4
2 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', मार्च 4, 1967
3 'दि ट्रिब्यून', अप्रैल 17, 1967, पृष्ठ 4
4 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', मार्च 4, 1967
5 दि स्टेट्समैन', जून 25, 1967, पृष्ठ 1
6 वही।
7 वही, जुलाई 17, 1967, पृष्ठ 14
8 वही, नवम्बर 7, 1967, पृष्ठ 14
9 वही, नवम्बर 7, 1967, पृष्ठ 14
10 श्रीप्रकाश, 'स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया', पृष्ठ 74
11 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वाल्यूम् 9, नम्बर 6 10, नवम्बर 24, 1967, कॉलम 2729
12 'पैट्रिअट', मार्च 18, 1969, पृष्ठ 2
13 'दि ट्रिब्यून', दिसम्बर 13, 1969, पृष्ठ 1
14 'दि इण्डियन एक्सप्रेस', दिसम्बर 14, 1969 पृष्ठ 1
15 वही।
16 'दि स्टेट्समैन', नवम्बर 27, 1971, पृष्ठ 6
17 'दि ट्रिब्यून', मई 7, 1962, पृष्ठ 4
18 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', सितम्बर 8, 1973, पृष्ठ 7
19 अनुच्छेद, 164
20 अनुच्छेद, 316
21 अनुच्छेद, 165
22 अनुच्छेद, 235
23 अनुच्छेद, 234.
24 अनुच्छेद, 341
25 अनुच्छेद, 342
26. अनुच्छेद, 258 (ए)
27 अनुच्छेद, 164
28 अनुच्छेद, 165 (3)
29 अनुच्छेद, 317
30 राव वीरेन्द्र सिंह बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया, 'ए आई आर.', 1968, पंजाब 446.
31. लोगसुमन बनाम सुपरिनटेन्डेन्ट ऑफ पुलिस, 'ए आई आर', 1967, राजस्थान 200.
32. अनुच्छेद, 166 (1)

राज्यपाल केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप मे

प्रशासनिक सुधार आयोग (एडमिनिस्ट्रेटिव रिफार्म्स कमीशन) के अनुसार "राज्यपाल अधिकतर तो राज्य की मशीनरी के अग के रूप मे कार्य करता है, लेकिन इसके अतिरिक्त वह केन्द्र तथा राज्यो के सम्बन्धो मे एक कडी का काम भी देता है। चूकि उसकी नियुक्ति तथा बरखास्तगी राष्ट्रपति द्वारा की जाती है इसलिये यह सघीय सिद्धान्तो का कुछ सीमा तक उल्लघन है जो जानबूझ कर किया गया है।'[1] ऐसा अखिल भारतीय एकता के हितो को ध्यान मे रखते हुए किया गया था। इसका एक उद्देश्य यह भी था कि इससे केन्द्राभिमुखी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिलेगा। "इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सविधान निर्माता यह नही चाहते थे कि राज्यपाल, राज्य स्तर के प्रशासन का ही एक मात्र अग हो। वे यह भी चाहते थे कि वह राज्यो तथा केन्द्र के सम्बन्धो मे एक महत्वपूर्ण कडी के रूप मे कार्य करे।[2] बम्बई के भूतपूर्व राज्यपाल श्रीप्रकाश ने इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कहा कि "मेरे विचार मे राज्यपाल राष्ट्र की एकता का सरकारी प्रतीक है   राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा उन व्यक्तियो मे से की जाती है जो साधारणतया उस राज्य के रहने वाले नही होते। राज्य के सवैधानिक प्रमुख के औपचारिक कर्त्तव्यो को पूरा करने के अतिरिक्त उससे यह भी आशा की जाती है कि वह केन्द्र को उन सब घटनाओ से अवगत करायेगा जिनसे राष्ट्र की एकता को खतरा होता हो। उससे यह भी आशा की जाती है कि वह राज्य की आवश्यकताओ के प्रति केन्द्र का ध्यान दिलायेगा। इसलिये वह राज्य का सेवक तथा केन्द्र का प्रतिनिधी है। वह राज्य तथा राष्ट्र, दोनो के लिये ही लाभदायक हो सकता है। इन परिस्थितियो मे हमे राज्यपाल के पद के महत्व को समझना चाहिये और उसके अनुसार उसका आदर करना चाहिये।"[3]

इसका अर्थ यह है कि राज्यपाल को केन्द्र के प्रतिनिधि तथा राज्य के सवैधानिक प्रमुख के रूप मे कार्य करना पडता है और हमारे देश के सविधान की विशेषताओ मे से यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथा असाधारण विशेषता है। चूकि राज्यपाल को इन दोनो रूपो मे कार्य करना पडता है इसलिये वह राज्य के प्रबन्ध की तरफ बिल्कुल आख बन्द करके नही बैठ सकता। उसे केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप मे सतर्कता और राज्य के सवैधानिक प्रमुख के रूप मे सविधानिक औपचारिकता का ध्यान रखते हुए कार्य करना पडता है। उसके कार्य के ये दोनो पहलू समान महत्वपूर्ण हैं और उसे इन

दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों की सीमाओं का ध्यान रखते हुए कार्य करना चाहिए।

यशवन्तराव चह्वाण के अनुसार "तीन अनुच्छेदों को छोड़कर राज्यपाल, राज्य के संवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करता है........ये अनुच्छेद हैं 200, 239 (2) तथा 356। इन तीन अनुच्छेदों के अतिरिक्त वह संवैधानिक प्रमुख है।"[4] इन तीन अनुच्छेदों के अधीन राज्यपाल केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है और उनके अधीन उसे कुछ महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य करने पड़ते हैं।

केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में उसका यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के अन्दर होने वाली उन सब घटनाओं की सूचना केन्द्र को दे जिनका देश की एकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इस उद्देश्य के लिए प्रत्येक राज्यपाल महीने में दो बार उसके प्रान्त में होने वाली घटनाओं का पूर्ण विवरण राष्ट्रपति के पास भेजता है। लेकिन जब तक ये रिपोर्ट्स मुख्यमन्त्री को दिखा कर भेजी जाती हैं तब तक इस उद्देश्य की पूर्ति सन्देहजनक है।[5] लेकिन ऐसा होते हुए भी केरल के भूतपूर्व राज्यपाल अजीतप्रसाद जैन का यह विचार है कि राज्य की घटनाओं के बारे में राज्यपाल को गोपनीय रूप से, मुख्यमन्त्री को सूचित किये बिना, राष्ट्रपति को नहीं लिखना चाहिये। इससे मुख्यमन्त्री को राज्यपाल पर सन्देह हो जायेगा।[6] लेकिन इस दृष्टिकोण से सहमत होना कठिन है क्योंकि चाहे मुख्यमन्त्री प्रसन्न हो या अप्रसन्न, राज्यपाल का यह कर्त्तव्य है कि वह केन्द्र को राज्य की वास्तविक स्थिति से अवगत कराये।

केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि वह अपने प्रांत के हितों की रक्षा करे। यदि वह यह महसूस करे कि केन्द्रीय सहायता की आवश्यकता है तो उसका यह कर्त्तव्य है कि वह केन्द्र पर इस बात के लिये दबाव डाले।[7] उदाहरणतया, जब वी० वी० गिरी केरल के राज्यपाल थे-तब उन्होंने केरल के हितों को ध्यान में रखते हुए योजना आयोग पर यह दबाव डाला कि राज्य की तीसरी योजना के लिये 200 करोड़ रुपये की व्यवस्था की जाये ताकि राज्य का योजनाबद्ध विकास हो सके। योजना आयोग ने केरल के लिये 105 करोड़ रुपये की व्यवस्था की थी। उनके बल देने पर योजना आयोग ने केरल के लिये 175 करोड़ रुपये की व्यवस्था की थी।[8]

लेकिन राज्य की आवश्यकताओं के लिये केन्द्र पर बल देने के लिये, राज्यपाल को, राज्यपाल के अभिभाषण के अतिरिक्त जो मन्त्रिमंडल द्वारा तैयार किया जाता है केन्द्रीय सरकार की सार्वजनिक रूप से आलोचना नहीं करनी चाहिये। यदि राज्यपाल सार्वजनिक रूप से केन्द्रीय सरकार की आलोचना करे तो उसके लिये कठिनाई पैदा हो सकती है। उदाहरणतया, जब मैसूर को केन्द्र ने 105 करोड़ रुपये के स्थान पर 60 करोड़ रुपये देने का निर्णय किया तो वहां के राज्यपाल धर्मवीर ने 15 जनवरी 1972 को केन्द्र की सार्वजनिक रूप से आलोचना की थी। उस ने कहा कि यदि मैसूर को 105 करोड़ रुपये नहीं दिये तो वह ओवर ड्राफ्ट्स की अदायगी नहीं करेगा। इस पर राष्ट्रपति ने राज्यपाल को दिल्ली बुलाया और अपनी नाराजगी प्रकट की।

राष्ट्रपति द्वारा नाराजगी प्रकट करने के पश्चात्, उन्होंने एकान्त में तथा सार्वजनिक रूप से समाचारपत्रों के माध्यम से माफी मांगी। यह घटना उनके भारमुक्त होने से 15 दिन पहले हुई थी।[9]

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत, केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में यह देखना उसका कर्तव्य है कि राज्य का शासन प्रबन्ध संविधान के अनुसार चले और जब कभी भी उसे यह महसूस हो कि राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चल रहा तब उसका यह कर्तव्य है कि वह केन्द्र को उस स्थिति से अवगत कराये। केन्द्र सरकार का भी यह कर्तव्य है कि वह यह देखे कि राज्य का शासन प्रबन्ध संविधान के अनुसार चले। क्या राज्य का कार्य संविधान के अनुसार चल रहा है या नहीं, इस की सही स्थिति से अवगत कराने के लिये राज्यपाल के अतिरिक्त, केन्द्र के पास दूसरी कोई एजेन्सी नहीं है। राज्य की संवैधानिक मशीनरी के विफल हो जाने पर राज्यपाल से यह आशा की जाती है कि वह केन्द्र को सूचित करेगा।

संवैधानिक मशीनरी की विफलता का अर्थ

अनुच्छेद 356 में कहा गया है कि राज्यपाल की रिपोर्ट पर या किसी दूसरे माध्यम से राष्ट्रपति को यह तसल्ली हो जाये कि राज्य का शासन प्रबन्ध संविधान के अनुसार नहीं चल रहा, तो राष्ट्रपति संवैधानिक मशीनरी के विफल होने की घोषणा कर सकता है और राज्य का सारा शासन प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि 'राज्य का शासन प्रबन्ध संविधान के अनुसार नहीं चल रहा'' इस वाक्य का अर्थ क्या है? जब पंडित हृदयनाथ कुंजरू ने संविधान सभा में यह प्रश्न उठाया तब डा० अम्बेडकर ने उस का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया। पहले तो उन्होंने यह कहा कि इस वाक्य का अर्थ यह है कि शासन प्रबन्ध संविधान के अनुसार होना चाहिये।[10] आगे चल कर इस का स्पष्टीकरण देते हुए उन्होंने कहा कि "मेरे लिए प्रत्येक अनुच्छेद का अर्थ बताना तो कठिन है। न ही मैं यह बता सकता हूँ कि कौन से सिद्धान्तों का उल्लंघन करने से संवैधानिक मशीनरी विफल हो जायेगी। 'संवैधानिक मशीनरी फेल हो जाने' वाले वाक्य का प्रयोग गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट 1935 में किया गया था और इस का वास्तविक तथा कानूनी अर्थ सब को मालूम है। मेरे विचार में इस से अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।"[11]

यह ठीक है कि गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट 1935 में इस वाक्य का प्रयोग किया गया था लेकिन इस का अभिप्राय यह नहीं है कि इस वाक्य के वास्तविक तथा कानूनी अर्थ को सब जानते थे। इसके अतिरिक्त वर्तमान संविधान में भी इसका अर्थ वह नहीं है जो 1935 के एक्ट में था। इस का कारण यह है कि वर्तमान संविधान की संवैधानिक मशीनरी 1935 के एक्ट की प्रतिलिपि नहीं है। इस संविधान में राज्यपाल को परामर्श देने के लिये "उत्तरदायी मन्त्रिमंडल" की व्यवस्था की गई है। संवैधानिक मशीनरी की विफलता या तो तब घोषित की जा सकती है जब कोई भी

राजनैतिक दल सरकार बनाने को तैयार न हो। यह स्थिति उस समय भी उत्पन्न हो सकती है जब विधान-सभा में किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत न हो और अनेक दल आपस में मिल कर सरकार बनाने को तैयार न हो। यह स्थिति उस समय भी उत्पन्न हो सकती है जब बहुमत दल सरकार बनाने से इन्कार कर दे या जब राष्ट्रपति को यह अनुभव हो जाये कि राज्य का शासन प्रबन्ध संविधान के अनुसार नहीं चल रहा।

जब राष्ट्रपति को राज्यपाल की यह रिपोर्ट मिले कि राज्य की संवैधानिक मशीनरी विफल हो गई है तो सब से पहले राष्ट्रपति को चाहिये कि वह राज्य की संवैधानिक मशीनरी को निलम्बित कर दे। लेकिन ऐसी रिपोर्ट देने से पहले राज्यपाल को साधारणतया विधान-सभा को अनुच्छेद 174 (2) के अधीन भंग कर देना चाहिये क्योंकि संवैधानिक मशीनरी उस समय तक फेल हुई नहीं समझी जाती जब तक कम से कम एक बार विधान-सभा को भंग न कर दिया जाये।[12] संविधान सभा में बोलते हुए पंडित ठाकुरदास भार्गव ने कहा था, कि "कोई भी संविधान उस समय तक फेल नहीं हुआ समझा जाता जब तक राज्य से सम्बन्धित, संविधान के सब प्रावधानों का प्रयोग नहीं कर लिया जाता। मेरे विचार में जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो तो राज्यपाल का पहला कर्तव्य विधान-सभा को भंग करना होगा... मैं ऐसी स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकता जब कि राज्यपाल संविधान द्वारा दिये गये अधिकारों का प्रयोग, संविधान पर अमल करने के लिये नहीं करेगा।"[13] के० सन्थानम का भी यही विचार था।[14] लेकिन राज्यपाल द्वारा विधान-सभा भंग किये जाने का अर्थ यह नहीं है कि राज्य की संवैधानिक मशीनरी फेल हो गई है। कभी-कभी राज्यपाल विधान-सभा को उस मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर भी भंग कर सकता है जिस की विधान-सभा में हार हो गई हो जैसा कि त्रिवांकुर-कोचीन में वहां के राज्यपाल ने 23 सितम्बर 1953 को किया था।[15] वह विधान-सभा को साधारण कार्य समाप्त होने से पहले भी मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर उसे भंग कर सकता है जैसे दिसम्बर 1970 में तमिलनाडु में और जनवरी 1971 में हरियाणा में किया गया था।

इसलिए राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करने से पहले साधारणतया विधान-सभा को अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अनुसार भंग किया जाना चाहिये। लेकिन इस सिद्धान्त का एक अपवाद भी है। यदि चुनाव के तुरन्त पश्चात् कोई भी राजनैतिक दल या दलों का संगठन सरकार बनाने की स्थिति में न हो और विधान-सभा को थोड़े से समय तक निलम्बित रखने के पश्चात् वहां पर स्थिर सरकार बनाने की संभावना हो तो उस समय अनुच्छेद 174 (2) (बी) के अधीन विधान-सभा को भंग करने के स्थान पर उसे अनुच्छेद 356 के अनुसार कुछ समय तक निलम्बित रखना अधिक उचित होगा।

राष्ट्रपति शासन उस समय भी लागू किया जा सकता है जब राष्ट्रपति को राज्यपाल की रिपोर्ट पर या अन्यथा यह विश्वास हो जाये कि राज्य का प्रशासन

सविधान के अनुसार नही चल रहा ।[16] लेकिन इस आधार पर राष्ट्रपति का राज लागू करने से पहले केन्द्रीय सरकार द्वारा साधारणतया राज्य सरकार को सावधान अवश्य ही करना चाहिये ।[17]

सविधान सभा के वादविवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि सविधान निर्माता इस अनुच्छेद का प्रयोग बहुत ही कम करना चाहते थे[18] और कम से कम वह यह चाहते थे कि इसका प्रयोग अच्छा प्रशासन स्थापित करने के बहाने पर न किया जाये ।[19] इसके अतिरिक्त रामास्वामी के अनुसार "अनुच्छेद 356 के प्रयोग की सिफारिश राज्यपाल को साधारणतया तब करनी चाहिये जब राज्यपाल यह अनुभव करे कि कामचलाऊ मन्त्रिमडल छ महीने से अधिक समय तक पद पर रहेगा । यदि कामचलाऊ मन्त्रिमडल की छ महीने से कम समय तक पद पर रहने की आशा है तो फिर वह यह नही, कह सकता कि सविधान के अनुसार सरकार पद पर नही है क्योकि अनुच्छेद 164 (4) के अनुसार कोई भी वह व्यक्ति जो विधान-सभा का सदस्य नही है छ महीने तक मन्त्री रह सकता है और ऐसी सरकार सविधान के अनुसार होगी ।"[20]

ऊपर दिये गये सिद्धान्तों के प्रकाश मे यदि अनुच्छेद 356 के प्रयोग का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाये तो उससे यह मालूम होगा कि सविधान सभा मे इसके दुरुपयोग के बारे मे जो सन्देह प्रकट किया गया था, वह ठीक ही था । हालाकि डॉ० अम्बेडकर ने सविधान सभा मे यह आश्वासन दिलाया था कि इस अनुच्छेद का प्रयोग बहुत ही कम और कुछ विशेष परिस्थितियो मे ही किया जायेगा, लेकिन फिर भी 24 वर्ष के लघु समय मे इस अनुच्छेद का 36 बार प्रयोग किया गया । उदाहरण प्रस्तुत है

	राज्य का नाम	राष्ट्रपति शासन लागू करने की तिथि
1	पजाब	20-6-1951
2	पॅप्सू	4-3-1953
3	आन्ध्र प्रदेश	6-11-1954
4	तिरुवाकुर-कोचीन	23-3-1956
5,	केरल	31-6-1959
6	उडीसा	25-2-1961
7	केरल	10-9-1964
8	केरल	30-3-1965
9	पजाब	5-7-1966
10	राजस्थान	13-3-1967
11	मनीपुर	25-10-1967
12	हरियाणा	21-11-1967
13	पश्चिमी बगाल	20-2-1968
14	उत्तर प्रदेश	25-2-1968

6 संयुक्त मोर्चे का विधान-सभा मे बहुत कम बहुमत था (46 मे से 26)।

इसी प्रकार जब 31 जुलाई 1959 को केरल मे राष्ट्रपति शासन लागू किया गया,[22] तो विधि मन्त्री वी० एन० दातार ने अगस्त 24, 1959 को राज्य सभा मे बोलते हुए कहा कि केरल मे सरकार ने इसलिये हस्तक्षेप किया क्योंकि,

1 उन्होंने कैदियों को रिहा कर दिया। उनमे से एक कैदी तो ऐसा था जिस को फासी की सजा हुई थी और जिसके मृत्युदण्ड को माफ करने की याचिका को राष्ट्रपति रद्द कर चुके थे।[23] लेकिन उस मृत्यु दण्ड को उमर कैद मे बदल दिया गया।

2 राज्य के प्रशासन मे, विशेष कर न्यायिक प्रशासन मे सरकार हस्तक्षेप करती थी एक पदाधिकारी को सम्बन्धित नियमो का अनुसरण किये बिना निलम्बित कर दिया गया। उसे न्याय के लिये उच्च न्यायालय मे मुकदमा ले जाना पड़ा और उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उसे निलम्बित किया जाना अवैध था।[24]

3 जहाँ तक मजदूरों तथा कारखाने के मालिकों के झगड़ो का सम्बन्ध था, उन के बारे मे सरकार का यह आदेश था कि जब तक कानून को भग न किया जाये या जब तक कानून के भग किये जाने का डर न हो तब तक पुलिस का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।[25]

4 एक पदाधिकारी का इसलिये तबादला कर दिया गया क्योंकि वह सत्तारूढ दल के हित मे कार्य करने को तैयार नही था।[26]

5 कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते है जहा पर सरकार ने उचित ढग से धन का खर्च नही किया। केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकार को सहकारी समितियो के लिये काफी रुपये दिये थे ये रुपये कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों को दिये गये और कुछ व्यक्तियों को इस बिना पर नहीं दिये गये कि उन्होंने आवेदनपत्र निर्धारित तिथि के बाद दिया था।[27]

6 हजारो आदमियो को गिरफ्तार किया गया। सरकार के अनुसार तो 32000 को गिरफ्तार किया गया, लेकिन वास्तव मे इन की सख्या लगभग एक लाख है।[28]

7 अन्त मे पार्टी के लिये 25 लाख रुपये इकट्ठे किये गये हैं।[29]

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या ऊपर दिये गये कारणों के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू करना उचित है? यदि ऐसे कारणों के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये तो फिर कोई भी राज्य सरकार सभवत अनुच्छेद 356 की लपेट से नहीं बच सकती। हमे इस बात को ध्यान मे रखना चाहिये कि सविधान-सभा मे डॉ० अम्बेडकर ने स्पष्टतया यह कहा था कि "अच्छे प्रशासन के लिये केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार के मामलो मे हस्तक्षेप नहीं करेगी"।[30] इसलिये यह निर्णय करना कि

सरकार अच्छी है या बुरी केन्द्रीय सरकार का काम नहीं है और न ही अनुच्छेद 356 का इस उद्देश्य के लिये प्रयोग किया जाना चाहिये।

इस बिना पर भी राष्ट्रपति शासन लागू करना ठीक नहीं कि मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर अध्यक्ष ने विधान-सभा को स्थगित कर दिया। क्या मध्यप्रदेश में 1967 में मुख्यमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास न होने देने के लिये विधान-सभा का सत्रावसान नहीं किया गया? क्या मार्च 1970 में जम्मू व काश्मीर में मुख्यमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास न होने देने के लिये विधान-सभा सत्र का सत्रावसान नहीं किया गया था? इस के अतिरिक्त कई और भी ऐसे उदाहरण हैं जहां पर मुख्यमन्त्री के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव पर बहस न होने देने के लिये विधान-सभा का सत्रावसान किया गया है। लेकिन वहां पर कभी भी इस बिना पर राष्ट्रपति शासन लागू नहीं किया गया।

जहां तक विधायकों के दल बदल का सम्बन्ध है, यह हमारे राजनैतिक जीवन का विषय है जिस के पैदा करने और जिसे बढ़ावा देने में कांग्रेस का प्रमुख हाथ है। जहां तक पैप्सू की कानून व्यवस्था का सम्बन्ध था, उस की तुलना में 1969 में पश्चिमी बंगाल में स्थिति कहीं अधिक खराब थी क्योंकि पश्चिमी बंगाल के मुख्यमन्त्री ने तो स्वयं ही यह स्वीकार किया था कि वहां पर कानून व्यवस्था भंग हो चुकी है।[31] लेकिन फिर भी वहां पर राष्ट्रपति शासन लागू नहीं किया गया और न ही राज्यपाल एस० एस० धवन ने उस की इस बिना पर सिफारिश की।

इस प्रकार से किसी पदाधिकारी का तबादला करना या किसी को निलम्बित करना या कुछ सहकारी समितियों को कर्ज न देने या पुलिस को यह हिदायत देने पर कि जब तक कानून का उल्लंघन न हो तब तक हस्तक्षेप नहीं करना या पार्टी के लिये धन इकट्ठा करने पर या एजिटेशन करने वालों को गिरफ्तार करने के आधार पर भी राष्ट्रपति शासन लागू करने का कोई औचित्य नहीं है।

राज्यपालों के पास राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करने का सब से आसान बहाना यह है कि राज्य सरकार स्थायी नहीं है। जब चुनाव के पश्चात् किसी भी राजनैतिक दल का विधान-सभा में बहुमत नहीं होता तब राज्यपाल यह जांच पड़ताल करता है कि स्थायी सरकार की स्थापना हो सकती है या नहीं। यदि वह जांच पड़ताल के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचे कि स्थायी सरकार की स्थापना नहीं हो सकती तो वह राष्ट्रपति राज लागू करने की सिफारिश कर सकता है। यह सिफारिश वह उस समय भी कर सकता है जब विधान-सभा में सब से बड़े दल का नेता सरकार बनाने के लिये तैयार हो। 1965 में केरल[32] में, 1967 में राजस्थान[33] में, नवम्बर 1967 में हरियाणा[34] में, मार्च 1971 में उड़ीसा[35] में और फिर मार्च 1973 में उड़ीसा[36] में दोबारा राष्ट्रपति शासन इसीलिये लागू कर दिया गया था कि वहां पर स्थायी सरकार नहीं बन सकती थी।

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या स्थायी सरकार के न बनने के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करना राज्यपाल के लिये उचित है ? उन के लिये यह बेहतर होगा कि वे ज्योतिषी बनने का प्रयत्न न करें क्योंकि ऐसी सरकार भी अस्थायी हो सकती है जिस का विधान-सभा में काफी बहुमत हो। उदाहरणतया, 1967 में हरियाणा में भगवत् दयाल का, मध्यप्रदेश में द्वारिका प्रसाद मिश्र का विधान-सभा में काफी बहुमत था लेकिन वे सरकारें अस्थायी सिद्ध हुईं। इसी प्रकार बिहार के राज्यपाल देवकान्त बरुआ ने 16 जुलाई 1971 को कहा था कि भोला पासवान की सरकार स्थायी है,[37] लेकिन उस सरकार का पतन 27 दिसम्बर 1971 को अर्थात् छः महीने के अन्दर ही हो गया।[38] इसी तरह से बिहार के अन्य राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो ने 26 अक्तूबर 1970 को कहा था कि दारोगा प्रसाद राय की सरकार स्थायी है लेकिन उसका पतन 18 दिसम्बर 1970 को अर्थात् छः महीने के अन्दर अन्दर हो गया।[39] इसलिये राज्यपालों को चाहिये कि वे इस बारे में कोई भी भविष्यवाणी न करें।[40]

यहां पर यह चर्चा करना भी उचित है कि कुछ राज्यपालों ने तो अस्थायित्व के आधार पर सरकारें बनाने से इन्कार किया लेकिन इस के विपरीत कुछ ऐसे भी राज्यपाल हुए हैं जिन्होंने यह जानते हुए कि सरकारें अस्थायी होंगी उन की नियुक्ति की है। पंजाब में लछमन सिंह गिल[41] और मध्यप्रदेश में सारंगढ़ के राजा नरेशचन्द्र सिंह[42] का मन्त्रिमंडल इस के उदाहरण हैं।

एक उदाहरण तो ऐसा भी मिलता है जहां पर राज्यपाल ने एक ही सप्ताह में स्थायी सरकार के सम्बन्ध में अपना मत दो बार बदला। उदाहरणतया, बिहार के राज्यपाल नित्यानन्द कानूनगो ने 11 फरवरी 1970 को तो राष्ट्रपति को यह सिफारिश की थी कि वहां पर स्थायी सरकार स्थापित होने की कोई सम्भावना नहीं है, इस लिये वहां पर छः महीने तक राष्ट्रपति शासन बढ़ा दिया जाये,[43] लेकिन इस रिपोर्ट के केवल तीन ही दिन पश्चात् अर्थात् 14 फरवरी 1970 को पहली सिफारिश को रद्द करते हुए लिखा कि अब राष्ट्रपति शासन को छः महीने के लिये बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि कांग्रेस विधायक दल का नेता दारोगा प्रसाद राय स्थायी सरकार बना सकता है।[44] यह स्थायी सरकार केवल 10 महीने पद पर रही।

इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्बन्ध में राज्यपालों का मापदण्ड एक जैसा नहीं है और इसी कारण से उन की आलोचना की जाती है। इसलिये उनके लिये यह अधिक अच्छा होगा कि वे विशेषकर चुनाव के तुरन्त पश्चात्, स्वयं स्थायी सरकार स्थापित किये जाने की सम्भावना का अनुमान लगा कर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश न करें जैसा कि केरल में 1965 में, राजस्थान में 1967 तथा उड़ीसा में 1971 में किया गया। यदि सरकार अस्थायी भी हो तो राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश राज्यपाल को बहुत सोच समझ कर करनी चाहिये, क्योंकि यह क्या गारंटी है कि चुनाव के पश्चात् स्थायी सरकार स्थापित हो ही जायेगी।

उदाहरणतया, केरल में 1965 के चुनाव के पश्चात् स्थायी सरकार स्थापित नहीं हो सकी। इसी प्रकार से बिहार में मार्च 1967 तथा 26 जून 1968 के बीच महामाया प्रसाद सिन्हा, सतीशप्रसाद सिंह, बिन्देश्वरीप्रसाद मंडल तथा भोला पासवान शास्त्री की सरकारों का जल्दी-जल्दी पतन होता चला गया। उसके पश्चात् 26 जून 1968 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। फरवरी 1969 में चुनाव हुए लेकिन फिर भी स्थायी सरकार स्थापित नहीं हो सकी, क्योंकि 26 फरवरी 1969 और 1 जुलाई 1969 के बीच अर्थात 125 दिन की अवधि में दो सरकारों (हरि हर सिंह[45] तथा भोला पासवन शास्त्री[46]) का पतन हो गया। उसके पश्चात् फिर दोबारा 4 जुलाई 1969 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया लेकिन ऐसा करने पर भी बिहार में स्थायी सरकार नहीं बन सकी क्योंकि दरोगाप्रसाद राय, कर्पूरी ठाकुर तथा भोला पासवन की तीन सरकारों का पतन 16 फरवरी 1970 तथा 9 फरवरी 1972 तक अर्थात् 2 वर्ष की अवधि में ही हो गया। इसी प्रकार से मनीपुर तथा पांडीचेरी में भी राष्ट्रपति राज के पश्चात् मध्यावधि चुनाव के पश्चात् राजनैतिक स्थिरता नहीं आयी। इस से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने के पश्चात् यदि चुनाव कराये जाये, तब भी यह कोई गारंटी नहीं है कि स्थायी सरकार स्थापित हो जायेगी। इसलिये राज्यपाल को राष्ट्रपति-शासन लागू करने की सिफारिश करते समय बहुत ही सावधानी से काम लेना चाहिये। यदि सरकार बहुत ही अस्थायी हो जाये तो अनुच्छेद 356 का प्रयोग राजनैतिक नेताओं को दण्डित करने के लिये किया जाना चाहिये और यह तब हो सकता है जब राष्ट्रपति शासन लम्बे समय तक चले और वे खुद अपने किये पर पछताए।

यहां पर यह चर्चा करना भी आवश्यक है कि राज्यपाल को उस समय तक राष्ट्रपति शासन की सिफारिश नहीं करनी चाहिये जब तक मुख्यमन्त्री का विधान-सभा में बहुमत है और वह विधान-सभा में अपना बहुमत सिद्ध करने के लिये तैयार है। अक्तूबर 1970 में उत्तर प्रदेश में जब चरण सिंह मुख्यमन्त्री था तब ऐसा किया गया था। वहां पर जब कांग्रेस (सत्तारूढ़) ने चरण सिंह मन्त्रिमंडल से अपना समर्थन वापस लिया तो उस समय वहां के राज्यपाल बी० गोपाला रेड्डी ने मुख्यमन्त्री से यह नहीं कहा कि वह विधान-सभा में अपना बहुमत सिद्ध करे। विधान-सभा का सत्र 6 अक्तूबर 1970 को होने वाला था और मुख्यमन्त्री 24 घंटे के अन्दर भी विधान-सभा में बहुमत सिद्ध करने के लिये तैयार था, लेकिन फिर भी जब मुख्यमन्त्री ने राज्यपाल के कहने पर त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया तो उसने राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर दी और उस की सिफारिश के आधार पर 3 अक्तूबर 1970 को वहां पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। यह सत्र शुरु होने के केवल तीन दिन पहले लागू किया गया।[47] ऐसा लगता है कि जो कुछ राज्यपाल ने किया वह बहुत ही आपत्तिजनक था।[48] चूंकि राज्यपालों ने अनुच्छेद 356 का बहुत दुरुपयोग किया है इसलिये भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश ने यह सुझाव दिया है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने के बारे में ठीक प्रकार की परम्पराएं डाली जानी चाहियें क्योंकि अनुच्छेद 356 केन्द्र तथा

राज्यों के आपसी झगड़ों का एक कारण बन गया है।

जब कभी संवैधानिक मशीनरी के विफल होने की घोषणा की जाती है तो व्यवस्थापिका के कार्यों को छोड़ कर सरकार तथा राज्यपाल के कार्यों का राष्ट्रपति अपने हाथ में ले लेता है। जब वह ऐसा करता है तो उसे यह भी अधिकार होता है कि वह उन्हें किसी व्यक्ति को सौंप दे। वह ऐसा अनुच्छेद 356 (बी) के अन्तर्गत कर सकता है। वह इसी अनुच्छेद के अन्तर्गत राज्यपाल को अपना कार्य सौंपता है। वह ऐसा करते समय कुछ ऐसी शर्तें भी लगा सकता है जिन्हें वह उचित समझे। उदाहरणतया, जब 1956 में त्रिावंकुर कोचीन में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया तो उस समय राष्ट्रपति ने राज्यपाल को अपने कार्य सौंपते हुए यह शर्त लगाई थी कि वह परामर्शदाता (एडवाईजर) के कहने के अनुसार कार्य करेगा।[49] इसी प्रकार से मार्च 1953 में जब पैप्सू में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया तब भी राष्ट्रपति ने राज्यपाल को अपने कार्य सौंपते हुए कहा था कि वह परामर्शदाता की सलाह से कार्य करेगा।[50] यहां पर यह चर्चा करना आवश्यक है कि कुछ राज्यों में जब राष्ट्रपति शासन लागू किया गया तब वहां पर परामर्शदाता नियुक्त नहीं किये गये थे। उदाहरणतया पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल धवन ने अपने परामर्शदाता स्वयं नियुक्त किये थे और उसकी लोकसभा में बड़ी आलोचना हुई थी। लेकिन गृह मन्त्रालय के राज्यमन्त्री विद्याचरण शुक्ला ने कहा कि राज्यपाल का अपने परामर्शदाता नियुक्त करने का अधिकार है।[51]

राज्यपाल केन्द्रीय एजेंट के रूप में

टी० टी० कृष्णमचारी ने संविधान सभा में बोलते हुए कहा था कि राज्यपाल केन्द्र का एजेंट नहीं है[52] और यही विचार भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश के० सुब्बा राव का भी है।[53] लेकिन फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जब कभी भी राज्यपाल अनुच्छेद 357 (1) (सी) के अधीन कार्य करता है तब वह केन्द्रीय सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करता है। धर्मवीर की घटना के संवैधानिक पहलू पर बोलते हुए विधि मन्त्री पी० गोविन्दा मेनन ने कहा कि "राष्ट्रपति राज, राज्यपाल का राज्य नहीं होता। केन्द्रीय गृह मन्त्री राज्यपाल के व्यवहार के बारे में सदा राष्ट्रपति को यह सलाह दे सकता है कि उसे वापस बुला लिया जाये। क्योंकि राष्ट्रपति शासन में केन्द्रीय सरकार प्रबन्ध करती है।"[54] इसलिये केन्द्रीय सरकार का अब यह पक्का दृष्टिकोण है कि राष्ट्रपति शासन में वह राज्यपाल को एक तरफ बैठा सकती है और परामर्शदाताओं को यह कह सकती है कि वे सीधे केन्द्रीय पदाधिकारियों से सम्बन्ध रखें। दूसरे शब्दों में केन्द्र राष्ट्रपति शासन के दिनों में राज्यपाल को एक किनारे भी लगा सकता है और वह उसे सारे अधिकार भी दे सकता है। उदाहरणतया, जब मैसूर में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया तब धर्मवीर को, और जब केरल में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, तब विश्वनाथन को शासन प्रबन्ध की निगरानी करने के पूरे अधिकार दे रखे थे।[55]

संदर्भ

1. 'एडमिनिस्ट्रेटिव रिफॉर्म्स कमीशन रिपोर्ट', वॉल्यूम् 1, सितम्बर 1967, पृष्ठ 272-73.
2. वही।
3. 'दि ट्रिब्यून', अप्रैल 17, 1962, पृष्ठ 4.
4. 'लोकसभा डिबेट्स', चौथी शृंखला, वॉल्यूम् 7, नम्बर 41-45, जुलाई 1967, कॉलम 13495.
5. के. एम. मुन्शी के अनुसार, "वह राज्यपाल बहुत बहादुर होगा जो ऐसे पत्र में राज्यपाल की घटनाओं पर स्पष्ट तौर से टिप्पणी करने की हिम्मत रखता है।"
   'दि ट्रिब्यून', अक्तूबर 24, 1969, पृष्ठ 4.
6. 'दि स्टेट्समैन', मई 3, 1970, पृष्ठ 11.
7. श्रीप्रकाश, स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया, 1966, पृष्ठ 7-8.
8. 'दि स्टेट्समैन', जुलाई 30, 1970, पृष्ठ 6.
9. वही; जनवरी 30, 1972, पृष्ठ 14.
10. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 9, पृष्ठ 175-76.
11. 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम 9, पृष्ठ 177.
12. पंडित ठाकुर दास भार्गव, वही; पृष्ठ 161.
13. वही।
14. उसने कहा था कि राजनैतिक मशीनरी उस समय विफल हो सकती है जब या तो मन्त्रिमंडल न बने या बने तो वह इतना अस्थिर हो जाये कि सरकार चल ही न सके। साधारणतया, जब मन्त्रिमंडल बहुत अस्थिर हो जाये तो विधान-सभा को भंग करना उचित प्रक्रिया होगी। यदि विधान-सभा के भंग किये जाने के पश्चात भी अस्थिरता बनी रहे तो उस समय केन्द्र के लिये हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो जायेगा। इस सम्बन्ध में सही परम्पराओं का अनुसरण किया जाना चाहिये। उदाहरणतया, परम्परा यह होनी चाहिये कि राष्ट्रपति शासन लागू करने से पहले विधान-सभा को भंग किया जाना चाहिये। एक बार विधान-सभा भंग किये बिना राष्ट्रपति शासन लागू नहीं किया जाना चाहिये, पर यह परम्परा होनी चाहिये।
   वही; 153-54.
15. कृष्णन नैय्यर, 'कान्स्टिट्यूशनल एक्सपेरिमेन्ट इन केरल', प्रथम संस्करण, 1964, पृष्ठ 202.
16. ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न हो सकती है जब राज्य सरकार अपनी कार्यकारी शक्ति का प्रयोग इस ढंग से करे जिससे केन्द्रीय सरकार द्वारा बनाये गये कानूनों का उल्लंघन होता हो।
   अनुच्छेद, 356.
17. राष्ट्रपति राज्य के प्रशासन को निलम्बित करने से पहले पूरी सावधानी से कार्य करेगा। सबसे पहले वह राज्य सरकार को इस सम्बन्ध में सावधान करेगा कि राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चल रहा। यदि ऐसा करने पर भी वह ध्यान न दे तो फिर दूसरा कार्य वह यह करेगा कि वहां पर चुनाव कराये ताकि जनता उसके बारे में निर्णय कर सके। जब ये दोनों उपाय

विफल हो जायें तो फिर इस अनुच्छेद का प्रयोग किया जाना चाहिये।
'संविधान सभा डिबेट्स', वाल्यूम् 9, पृष्ठ 177

18 वही, पृष्ठ 168
19 वही, पृष्ठ 176
20 'लोकसभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 8, भाग 2, 1954, पृष्ठ 466
21 कैलाश नाथ काटजू, गृह-मन्त्री, 'लोकसभा डिबेट्स', वॉल्यूम 2, भाग 2, 1953, कॉलम 1892-94
22 कृष्णन नैय्यर, 'कानस्टिट्यूशनल एक्सपैरिमेन्ट इन केरल', प्रथम संस्करण, 1964, पृष्ठ 42.
23. 'राज्यसभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 26, भाग 1, 1959, कालम 1552
24 वही, 1557
25. वही, 15660
26 वही।
27 वही, कॉलम 1562 63
28 वही, 1563
29 वही, 1569
30 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 9, पृष्ठ 176
31 'दि हिन्दुस्तान टाईम्स', दिसम्बर 11, 1969, पृष्ठ 14
32 4 मार्च 1965 को जब केरल में चुनाव हुए तब वहा पर किसी भी राजनैतिक दल का विधान-सभा में बहुमत नहीं था, लेकिन कम्यूनिस्टों का सबसे बड़ा दल था (133 में से 40) हालांकि कम्यूनिस्ट पार्टी का नेता सरकार बनाने के लिये तैयार था लेकिन फिर भी राज्यपाल इस परिणाम पर पहुँचा कि वहा पर स्थायी सरकार नहीं बन सकती। उस रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू करने की 30 मार्च 1965 को उद्घोषणा कर दी गई। इस सम्बन्ध में यह याद रखने योग्य बात है कि राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 356 के अधीन विधान सभा को प्रथम बैठक होने से पहले ही उसे भंग कर दिया था। इसे केरल उच्च न्यायालय ने वैध घोषित किया था। 'ए आई आर', 1965, केरल 230
33 1967 के चुनाव के पश्चात् वहा पर किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत नहीं था लेकिन कांग्रेस पार्टी सबसे बड़ी पार्टी थी (183 में से 88) (दि स्टेट्समैन मार्च 1, 1967, पृष्ठ 1)। कांग्रेस पार्टी के नेता मोहन लाल सुखाड़िया तथा संविद के नेता महारावल लक्ष्मण सिंह दोनों ने बहुमत का दावा किया। लेकिन राज्यपाल ने मोहन लाल सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित किया। सुखाड़िया पहले तो ऐसा करने के लिये तैयार हो गये और फिर बाद में इंकार कर गये। उसके पश्चात् राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की हालांकि संविद का नेता सरकार बनाने के लिये तयार था। मगर राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट में राष्ट्रपति को यह लिखा कि स्थायी सरकार नहीं बन सकती और इस रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

'दि ट्रिब्यून', मार्च 4, 1967, पृष्ठ 7.

34. हालांकि हरियाणा विधान-सभा में राव वीरेन्द्र सिंह का बहुमत था लेकिन फिर भी राज्यपाल ने राष्ट्रपति को जो रिपोर्ट दी थी उसमें कहा था कि "यदि विधान-सभा का सत्र भी बुलाया जाये और विपक्ष यह सिद्ध भी करदे कि उसका विधान-सभा में बहुमत है, फिर भी वर्तमान परिस्थितियों में यहां की सरकार स्थायी नहीं हो सकती।"
'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम् 9, नम्बर 6-10, नवम्बर 23, 1967, कॉलम 2319-20.

35. जब मार्च 1971 में उड़ीसा में मध्यवर्ती चुनाव हुए तो वहां पर किसी भी राजनैतिक दल का बहुमत नहीं था, हालांकि कांग्रेस सबसे बड़ा दल था और इसका नेता डॉ० हरे कृष्ण मेहताब सरकार बनाने के लिये उत्सुक था लेकिन फिर भी राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन को समाप्त करने की सिफारिश नहीं की। राष्ट्रपति शासन जो उस समय चल रहा था, वह 23 मार्च 1971 को समाप्त हो चुका था। इस उद्घोषणा को संसद के पटल पर भी नहीं रखा गया था। इसकी घोषणा दोबारा 24 मार्च 1971 को कर दी गई।

36. जब श्रीमती नन्दिनी सतपथी ने त्यागपत्र दिया तो राज्यपाल ने फिर यह रिपोर्ट दी कि स्थायी सरकार स्थापित नहीं हो सकती और इसलिये वहां पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

37. 'दि स्टेट्समैन', जुलाई 17, 1971, पृष्ठ 1.

38. 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', दिसम्बर 28, 1971, पृष्ठ 1.

39. 'दि स्टेट्समैन', दिसम्बर 19, 1970, पृष्ठ 1.

40. इस दृष्टिकोण का विस्तृत वर्णन अध्याय दो में किया गया है।

41. राज्यपाल ने राष्ट्रपति को जो रिपोर्ट लिखी थी, उसमें कहा था, कि "कांग्रेस विधायक दल ने लच्छमन सिंह मन्त्रिमंडल का समर्थन किया। यह व्यवस्था बहुत ही अस्थिर थी, क्योंकि मिले मन्त्रिमंडल में वे विधायक शामिल थे जो राजनैतिक सत्ता के भूखे थे। उन में राजनैतिक विचारों की एकता नहीं थी।"
'लोकसभा डिबेट्स', चौथी श्रृंखला, वॉल्यूम् 20, नम्बर 25-28, अगस्त 1968, कॉलम

47 'दि हिन्दुस्तान टाइम्स', अक्तूबर 3, 1970, पृष्ठ 1
48 इस पर अध्याय तीन में विस्तृत चर्चा की गई है।
49. 'गजट ऑफ इण्डिया एक्सट्रा ऑरडिनरी', भाग 2, सैक्शन 3, गृह-मन्त्रालय विज्ञप्ति नम्बर एस० आर० ओ० 731, दिनांक मार्च 23, 1956
50 वही; भाग 1, सैक्शन 1, 'मिनिस्ट्री ऑफ स्टेट्स', विज्ञप्ति नम्बर एफ-3 (10)-पी ए/53, तिथि मार्च 4, 1953
51. 'दि स्टेट्समैन', अप्रैल 22, 1970, पृष्ठ 10.
52 'संविधान सभा डिबेट्स', वॉल्यूम् 8, पृष्ठ 400
53 'दि टाइम्स ऑफ इण्डिया', अक्तूबर 20, 1969, पृष्ठ 7
54 वही, अप्रैल 4, 1969, पृष्ठ 7.
55 'दि ट्रिब्यून', जुलाई 3, 1971 पृष्ठ 4

सदर्भ ग्रन्थ-सूची

I. Primary Sources

Constituent Assembly Debates
Lok Sabha Debates
Parliamentary Debates
Rajya Sabha Debates
All Indian Reporters

II Secondary Sources

Books

Aiyar, S P, and Mehta, Usha, *Essays on Indian Federalism*, Bombay, Allied, 1965

Aiyar, S P, and Srinivasan, R (Ed.), *Studies in Indian Democracy*, Bombay, Allied, 1965

Alexandrowicz, C H, *Constitutional Development in India*, London, OUP, 1957

Austin Granville, *The Indian Constitution Cornorstone of a Nation*, Oxford, 1966.

Banerjee, A C, *The Constituent Assembly of India*, Calcutta, Mukherjee, 1947

Basu, D D, *Commentary on the Constitution of India*, 5 vols, Calcutta, Sarkar, 1965.

Bombwall, K R., *Foundations of Indian Federalism*, Bombay, Asia, 1967

Bomwall, K R., and Chaudhry, L.P. (Ed), *Aspects of Democratic Government Politics in India*, Atma Ram & Sons, 1968

Chander, Ashok, *Federalism in India*, London, Allen and Unwin, 1965.

Gajendragadkar, P B, *The Constitution of India*, OUP, Bombay, 1969.

Gledhill, Alan, *Republic of India*, London, Stevens, 1951

Hidayatulla, M, *Democracy in India and Judicial Process*, Asia, 1965

Jennings, W I, *Some Aspects of Indian Constitution*, London, OUP, 1953

Kashyap, Subhas, C, *The Politics of Power*, National Delhi, 1974

Kashyap, Subhas, C, *The Politics of Defections*, 1965

Misra, R.N., *President of the Indian Republic*, Bombay, Vora, 1965.
Mukherjee, P.B., *Three Elemental Problems of Indian Constitution*, National, 1972.

Munshi, K. M., *President under the Indian Constitution*, Bombay, Bharatiya Vidaya Bhavan, 1963.

Nair, Krishnan, *Constitutional Experiment in Kerala*, Trivandrum, Kerala, Acadmy of Political Service, 1964.

Narayan, Shriman, *Those Ten Months of President's Rule in Gujarat*, Delhi, Vikas, 1973.

Paul, R. Brass, *Factional Politics in Indian State*, California, 1965.

Pavate, D. C., *My Days as Governor*, Delhi, Vikas, 1974.
Prakasha, Sri, *State Governors in India*, 1966.
Rao, K. V., *Parliamentary Democracy in India*, Calcutta, World Press, 1965.

Rao, B. N., *Indias Constitution in the Making*, New Delhi, Longman, 1960.

Santhanam, K., *Union State Relations in India*, Bombay, Asia, 1960.
Sen, Ashoka, *Role of Governor in Emerging Pattern Centre State Relations*, Delhi, National, 1970.

Sen, D. K., *Comparative Study of Indian Constitution*, Bombay, Orient Longman, 1960.

Shukla, V. N., *Constitution of India*, Lucknow, Eastern Book Company, 1960.

Shiva Rao, B. (Ed.), *The Framing of India's Constitution*, Tripathi, 1967.

Siwach, J. R., *The Indian Presidency*, Delhi, Haryana Prakashan, 1971.
Vekateswaran, R. J., *Cabinet Government in India*, London, Allen & Unwin, 1967.

Weiner, Myson, *State Politics in India*, 1968.

Journals

Indian Affairs Record (Dewan Chand Information Centre, Delhi)
Indian Journal of Political Science (*Indian Political Science Association*)

Journal of Constitutional and Parliamentary Studies (The Institute of Constitutional and Parliamentary Studies, New Delhi)

Journal of the Society for the Study of State Governments (The Society for the Study of State Governments, Varanasi)

Political Science Review (University of Rajasthan)

News Papers

Amrit Bazar Patrika, Calcutta
The Hindu, Madras
The Hindustan Times, New Delhi
The Indian Express, New Delhi
Patriot, New Delhi
The Statesman, New Delhi
The Times of India, New Delhi
The Tribune, Chandigarh.
The National Diary-weekly (now stopped)
Asian Recorder, Fortnightly, (London)
Keepings Contemporary Archives

पारिभाषिक शब्दावली

अक्षरशः word by word
अग्रता क्रम order of preference
अग्रलेख editorial
अद्वितीय unparalleled
अधिकरण tribunal
अधिकार right
अधिनियम act
अधिवास domicile
अधिवेशन session
अध्यक्ष speaker
अध्यक्षता to preside over
अध्यक्ष सम्मेलन speaker's conference
अध्यादेश ordinance
अनर्हता disqualification
अनुच्छेद article
अनुदान grant
अनुपात proportion
अनुबंध agreement, annexture
अनुसूचित क्षेत्र scheduled area
अभियान campaign
अभिरक्षक custodian
अर्हता qualification
अल्पाक्षरिक brief
अल्पमत सरकार minority government
अल्पसंख्यक minority
अल्पसंख्यक जाति minority community
अवसर opportunity
अविश्वास प्रस्ताव vote of no confidence
अवैध illegal
असंगत not in accordance with
असंतुष्ट dissident
अस्थायी सरकार unstable government
आकस्मिक मत विभाजन snap division
आकस्मिक मत संग्रह snap vote
आचार संहिता code of conduct
आप्रवासन नीति Immigration policy
उच्चाधिकार समिति high power committee
उत्तरदायित्व responsibility
उत्तराधिकारी successor
उदार liberal
उप-धारा sub clause
उपबन्ध proviso
उपराष्ट्रपति vice-president
उम्मीदवार candidate
उल्लंघन violation
एकल संक्रमणीय पद्धति single transferable vote system
कानून law
कामचलाऊ सरकार caretaker government
कार्यकारी acting
कार्य-काल tenure
कार्य परिषद् executive councillor
कार्यवाही action

कार्यसूचि agenda
केन्द्रीय मंत्रिमंडल central cabinet
केन्द्रीय सरकार central government
कम्यूनिस्ट पार्टी communist party
क्रिया-विधि procedure
गणराज्य republic
गतिरोध deadlock
गुप्त मतदान secret voting
गोपनीय confidential
घोषणा, उद्घोषणा proclamation
चुनाव election
चुनाव आयुक्त election commissioner
चुनाव आयोग election commission
जनतन्त्र democracy
जनमत public opinion
जांच enquiry
जांच आयोग commission of enquiry
ज्ञापन memorandum
तटस्थ neutral
तदर्थ समिति ad hoc committee
तर्कसंगत logical
त्यागपत्र resignation
दल party
दल बदलू defector
दायित्व accountability
दावा claim
द्विपक्षीय bilateral
द्विसदनात्मक विधानपालिका bicameral legislature
धर्म-निरपेक्ष secular
नजरअन्दाज overlook
नागरिक citizen
नामांकन nomination
नामिका panel
निंदा प्रस्ताव censure
नियुक्ति appointment
निरकुश absolute
निर्णय judgement
निर्दलीय सदस्य independent member
निर्वाचन election
निलम्बित suspended
निलम्बित विधान-सभा legislature in suspended animation
निषेधाधिकार veto
निष्ठा loyalty, allegiance
निष्पक्षता impartiality
निहितार्थ implied
नीति policy
न्यायालय law courts
पक्ष त्याग crossing the floor, defection
पटल Table
पदावधि term of office
परम्परा tradition
परस्पर विरोध contradiction
पराजित राजनीतिज्ञ defeated politician
परामर्शदाता advisor
परिशिष्ट appendix
परिषद् council
पुष्टि करना affirm
पुर्वोदाहरण precedents
पृथक्ता secession
प्रक्रिया procedure
प्रजातान्त्रिक संगठन democratic coalition

प्रतिनिधि *representative*
प्रतिष्ठापद office of dignity
प्रत्यक्ष चुनाव direct election
प्रत्यायोजन delegation
प्रथा convention
प्रशासन व्यवस्था administrative set-up
प्रशासनिक *administrative*
प्रशासी प्राधिकारी administering authority
प्रसाद पर्यन्त during the pleasure
प्राधिकार authority
प्रारूप समिति drafting committee
प्रावधान *provision*
बरखास्तगी dismissal
बहुदलीय पद्धति multi-party system
भग करना dissolve
भग, विघटन dissolution
भग विधान-सभा *Dissolved legislature*
भूतपूर्व राजनीतिज्ञ ex-politician
मन्त्रि-परिषद् council of ministers
मन्त्रिमडल cabinet
मन्त्री minister
मत vote
मतैक्य consensus
मध्यावधि चुनाव mid-term poll
मनोनीत नामित nominated
मनोनीत सदस्य nominated member
महाभियोग *impeachment*
माग demand
मान्यता recognition
मार्क्सवादी marxist
मिली-जुली सरकार coalition government
मुख्य न्यायाधीश chief justice
मुख्यमन्त्री chief-*minister*
मूल्याकन assessment
राजनीति politics
राजनैतिक दलबन्दी political groupism
राजनैतिक दौरे political tours
राजनैतिक निर्णय political decis*ion*
राजनैतिक नेता political leader
राजनैतिक भाषण political speech
राजनीतिशास्त्रवेत्ता political thinker
राज्यपाल governor
राज्यपाल का अभिभाषण governor's address
राष्ट्र *nation*
राष्ट्रपति president
राष्ट्रपति शासन president's rule
राष्ट्रीयकरण nationalisation
लेखानुदान vote on account
वक्तव्य statement
वयस्क मताधिकार adult franchise
वरिष्ठ न्यायाधीश senior judge
वरीयता preference
वाछनीय desirable
वामपक्षी leftist
वामपक्षी मोर्चा leftist front
वामपन्थी कम्युनिस्ट *leftist* communist
विचार-विमर्श discussion
वित्त finance
वित्त विधेयक finance bill
विधानमडल legislature

विधानपालिका legislature
विधान-सभा legislative assembly
विधायक legislator
विधि-निर्माता law maker
विधि-परामर्शदाता legal adviser
विधि-मन्त्री law-minister
विधिवेत्ता legal expert
विधेयक bill
विनियोग विधेयक appropriation bill
विपक्ष opposition
विपक्षी नेता leader of opposition
विभाजन allocation
विरोधी दल opposition party
विवादग्रस्त राजनीति controversial politics
विवेक discretion
विशेषाधिकार समिति privilege committee
विशेष भत्ता special allowance
विश्वास प्रस्ताव vote of confidence
विकल्प alternative
वैध legal
व्यक्तिगत निर्णय individual jndgement
शक्ति परीक्षण trial of strength
शपथ oath
संचित निधि consolidated fund
संदिग्ध संवैधानिक वैधता doubtful constitutional validity
संयुक्त बैठक joint sitting
संयुक्त मोर्चा united front
संयुक्त मोर्चा सरकार united front government
संविधान का भाव spirit of the constitution
संविधान निर्माता framers of the constitution
संविधान का प्रारूप draft of the constitution
संविधान विशेषज्ञ constitutional expert
संविधान-सभा constituent assembly
संवैधानिक constitutional
संवैधानिक अध्यक्ष constitutional head
संवैधानिक औचित्य constitutional propriety
संवैधानिक कर्त्तव्य constitutional duty
संवैधानिक गतिरोध constitutional deadlock
संवैधानिक तन्त्र constitutional machinery
संशोधन amendment
संशोधन विधेयक amendment bill
संसद parliament
संसदीय parliamentary
संसदीय दल parliamentary party
संसदीय प्रणाली parliamentry system
संसदीय विपक्ष parliamentary opposition
संसदीय शासन parliamentry government
संसद समिति parliamentary committee
सक्रिय राजनीति active politics
सत्ता power, authority
सत्तारूढ़ दल party in power

सत्र session
सत्रावसान prorogue
सत्यभाव से प्रतिज्ञा solemnly affirm
सदन का मच floor of the house
सदन की अनुमति leave of the house
सदस्य member
सभा पटल table of the house
सभापति chairman
समाजवादी socialist
सम्मेलन conference
सर्वोच्च supreme
सलाहकार परिषद् advisory council
सलाहकार समिति advisory committee
सहमति consent, accord
सांविधानिक असगतियां constitutional anomalies
सार्थकता significance
सार्वजनिक public
सिद्धांत principle, doctrine, theory
सिफारिश recomendation
सीमांकन delimitation
सुख-सुविधा amenity
सूची पद्धति list system
स्थगन adjournment
स्थायी सरकार stable government
स्वायत्त autonomous
हिदायतों का परिपत्र instrument of instructions

अनुक्रमणिका